श्री महावीर ग्रन्थमाला का २० वां पुष्प

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ

प्रकाशक

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

महावीर भवन, एस. एम. एस हाईवे, जयपुर

प्रकाशकीय

पंडित चैनसुखदास स्मृति ग्रंथ को पाठको के हाथो मे देते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता है। पडितजी सा० राजस्थान के ही नही किन्तु समस्त देश के समादृत विद्वान थे। वे साहित्य एव समाजसेवी थे। उन्होने देश एव समाज को एक नयी दिशा प्रदान की थी, यही नही युवा पीढी को उनसे सतत जागरूक रहने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अनेको के वे सबल थे और अनेको को उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त होता रहता था। कृशकाय होने पर भी वे अत्यधिक मानोबल वाले व्यक्ति थे। उनका साधु के समान जीवन था तथा गृहस्थी मे रहते हुये भी वे सन्त कहे जाने योग्य थे। उनकी विभिन्न सेवाओ के प्रति स्मृति ग्रथ के प्रथम खण्ड मे विभिन्न विद्वानो, समाजसेवियो एव राजनेताओ ने जो भावभीनी श्रद्धाञ्जलिया समर्पित की है उनसे उनके महान् व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पडितजी सा० का एव श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र के मंत्री एवं अन्य सभी कार्यकर्त्ताओ का सम्बन्ध अत्यधिक मधुर एव सौहार्दपूर्ण रहा। पडितजी द्वारा समय समय पर दिये गये अमूल्य सुझावो एव सत्परामर्श का खूब उपयोग किया जाता रहा। श्री महावीर क्षेत्र के तत्कालीन मत्री श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका, सेठ बधीचन्दजी गगवाल एव श्री केशरलालजी बख्शी का उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। क्षेत्र द्वारा संचालित साहित्य शोध विभाग, छात्रवृत्ति फण्ड एव असहाय सहायता फण्ड के स्थापना मे पडितजी की सतत् प्रेरणा ने अत्यधिक योगदान दिया। यही कारण है कि उनके निधन पर आयोजित श्री महावीर क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी की शोक सभा मे पंडित जी की स्मृति मे एक स्मृति ग्रंथ प्रकाशन का तत्काल निर्णय लिया गया और उसी निर्णया-नुसार यह स्मृति ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

स्मृति ग्रंथ को चार भागो मे विभक्त किया गया हे। इसके प्रथम खण्ड मे पडितजी के जीवन पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्होने जिन सामाजिक

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से

पंडित चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का समूचा जीवन अध्ययन, मनन, अध्यापन एव साहित्यसृजन मे ही व्यतीत हुआ। 22 जनवरी 1899 को जन्म लेने के बाद पडितजी का बचपन एव कैशोर्य अत्यन्त कठिन परिस्थितियो मे व्यतीत हुआ था लेकिन स्थित-प्रज्ञ के समान पडितजी ने इन सब ही विघ्नबाधाओ को सहन किया और अपने जीवन को सफलता और सिद्धिकी ऊचाइयो तक ले गये। वे ऐसे यशस्वी विद्वान् थे जिन्हे सासारिक वेश मे रहते हुये भी ऋषि और तपस्वी का मान प्राप्त था। वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिये जीये न कि अध्यापन द्वारा। हिन्दी और प्राकृत के साथ सस्कृत साहित्य पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। वे जितने उत्कृष्ट वक्ता और व्याख्याता थे उतने सिद्धहस्त लेखक व कुशल सम्पादक भी थे। "जैन दर्शनसार", "भावना विवेक" और "पावन प्रवाह जैसी सस्कृत की मौलिक एव स्वतत्र रचनाओ मे उनके प्रगाढ पाडित्य के स्पष्ट दर्शन होते है। इसके साथ ही राष्ट्र और समाज मे व्याप्त बुराइयो, कुरीतियो और रुढियो के वे तीव्र आलोचक थे। उनने कितनी ही सामाजिक सस्थाओ को अपनी प्रेरणा और आशीर्वाद से सफल बनाया।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा सचालित साहित्यिक व धार्मिक गतिविधियो के विकास मे स्वर्गीय पडितजी का विशेप योग दान रहा है। मेधावी किन्तु आर्थिक दृष्टि से परेशान विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति देने, विधवाओ की सहायता करने एव वृद्ध व असमर्थ व्यक्तियो को अनुदान देने आदि की योजनाओ को क्षेत्र द्वारा प्रारम्भ करने मे पंडित साहब का बड़ा हाथ रहा है साहित्य प्रकाशन के कार्य मे क्षेत्र को पडितजी ने जीवन पर्यन्त बहुमूल्य निर्देशन दिया। पडितजी के प्रति मेरे पिताजी श्री स्वर्गीय

मै उन सब ही विद्वानो और लेखको का भी अत्यन्त कृतज्ञ हू जिनने अपनी श्रद्धाञ्जलिया व सारगर्भित लेख भेजकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

मै उन लेखको से भी क्षमाप्रार्थी हू जिनके लेखो को हम किन्ही कारणो से इस स्मृति ग्रन्थ मे स्थान देने मे असमर्थ रहे है। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी का आभार भी हम नही भूल सकते जिसने इस ग्रन्थ की महत्ता का मूल्याकन कर इसके प्रकाशन का सारा भार स्वय वहन किया है।

ज्ञानचन्द्र खिन्दका

★

जयपुर को अपने स्थापना काल से ही जैन सस्कृति का प्रमुख नगर रहने का सौभाग्य प्राप्त है। जैन समाज की संख्या एव प्रभुत्व की दृष्टि से इसे जैनपुरी कहा जाता है। यहा के शासन मे जैनो का गत २०० वर्षो से वर्चस्व रहा और वे शासन के सभी उच्च पदो पर जैन कार्य करते रहे है। साहित्यिक क्षेत्र मे यहा सैकडो जैन विद्वान् हुए जिन्होने साहित्य के माध्यम से देश मे एक नयी साहित्यिक क्राति को जन्म दिया। इस दृष्टि से महाकवि दौलतराम, महापडित टोडरमल, प० जयचन्द्र छाबडा, बख्तराम साह, सदासुख कासलीवाल के नाम उल्लेखनीय है जो आज भी अखिल भारतीय स्तर के विद्वान् माने जाते हैं। यहा के विशाल और कलापूर्ण जैन मन्दिर जयपुर जैन समाज के प्राचीन वैभव का स्मरण कराते है। मन्दिरो की सख्या की दृष्टि के यहा का स्थान सर्वोपरि है। सामाजिक क्षेत्र मे भी जयपुर जैन समाज ने अपने विद्वानो, दीवानो एव सामाजिक कार्यकर्त्ताओ के माध्यम से सारे देश को प्रशस्त नेतृत्व दिया। इसीलिए आज भी जयपुर जैन समाज का नाम बडे गौरव से लिया जाता है।

प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ भी महापडित टोडरमल, दौलतराम, जयचन्द छाबडा की कोटि के विद्वान थे जिनका समस्त जीवन समाज एव साहित्य सेवा मे समर्पित रहा, जिन्होने देश एव समाज के हितो को सर्वोपरि माना तथा अहर्निश इसी धुन मे जीते रहे। यही कारण है कि पडितजी का नाम लेते ही जयपुर के नागरिक आज भी श्रद्धावनत हो जाते है तथा उनके गुणो की प्रशसा करते नही थकते। पडितजी सा० अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे तथा ओजस्वी वक्ता, कुशल लेखक, आशुकवि, वरिष्ठ पत्रकार एवं सम्पादक सभी कुछ थे। वे दार्शनिक विद्वान् थे, सस्कृत एवं प्राकृत के प्रकाड ज्ञाता थे तथा सरस्वती के वरद पुत्र थे। किसी विद्वान् मे इतने अधिक गुण एक साथ मिलना सहज सभव नही है किन्तु पडित जी सा० ऐसे सर्व गुण सम्पन्न थे जिसकी किसी से तुलना करना उनके गुणो की उपेक्षा करना है। तीस वर्षों से भी अधिक समय तक उनका जयपुर जैन समाज पर पूर्णत.

लोगों को देखकर उनकी सहायता के लिए चिन्तित होना, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका सहज सुलभ होना आदि कितने ही गुणो का परिचय प्राप्त हो सकता है। स्मृति ग्रन्थ के सम्पादक डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल ने उनके सम्पूर्ण जीवन एव साहित्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है वह उनकी जीवन गाथा को जानने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यद्यपि उनके सम्बन्ध मे इससे भी अधिक लिखा जा सकता था लेकिन स्थानाभाव के कारण वह सम्भव नही हो सका।

स्मृति ग्रंथ के शेप तीन खण्डो मे धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, इतिहास एव पुरातत्व विषयक लेखो को स्थान दिया गया है। इन लेखो की सख्या ४६ है जो देश के विभिन्न मूर्धन्य विद्वानो द्वारा लिखे हुए है। इन लेखो के आधार पर जैन धर्म एव दर्शन का सभी दृष्टियो से सामान्य ज्ञान प्राप्त जा सकता है और उसके महत्व को समझा जा सकता है एक ही ग्रन्थ मे अधिक से अधिक उपयोगी लेखो को स्थान देने का प्रयास किया गया समाज मे महिला लेखको की सख्या भी बढ रही है और इस स्मृति ग्रन्थ ी ही कुछ विदुषी महिलाओ के निबन्धो का प्रकाशन इसका प्रत्यक्ष ा है। अन्त मे हम विद्वान् लेखको के आभारी है जिन्होने अपने महत्वपूर्ण भेज कर स्मृति ग्रंथ के प्रकाशन मे सहयोग दिया। क्योकि यदि उनका ाग प्राप्त नही होता तो स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की दिशा मे एक कदम आगे बढना संभव नही था।

हम क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सभी सदस्यो, अध्यक्ष श्री ालालजी काला, प्रबन्ध सम्पादक श्री ज्ञानचन्द्रजी खिन्दूका के भी आभारी न्होने स्मृति ग्रन्थ को प्रकाशित करवाकर एक अविस्मरणीय कार्य का ादन किया और जिसके लिए वर्तमान पीढी ही नही अपितु भावी पीढी भी आभारी रहेगी।

मिलापचन्द शास्त्री

कमलचन्द सौगानी

कस्तूरचन्द कासलीवाल

विषयानुक्रम

खण्ड– १

श्रद्धाञ्जलियाँ, जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व एव सस्मरण

प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जन्म २२ जनवरी सन् १८९९ स्वर्गवास २६ जनवरी सन् [illegible]

खण्ड १

मंगल मंत्र

णमो अरहंताणं

णमो सिद्धाण

णमो आइरियाण

णमो उवज्झायाण

णमो लोए सव्वसाहूण

गुरुदेव !

जीवन निर्माता, सत्यनिष्ठ
गुरुदेव ! श्रेष्ठ साहित्यकार ।
निर्भीक प्रवक्ता, गुणग्राही,
कवि, सफल समीक्षक, पत्रकार
जन-मानस प्रिय, कर्मठ नेता
सुस्तम्भ संस्कृति, अति उदार ।
हितमितभाषी, गृह वैरागी
सादर चरणों में नमस्कार ।।

अनूपचन्द न्यायतीर्थ

पंडित चैनसुखदास न केवल एक विद्वान्, विचारक एव लेखक ही थे अपितु एक सफल पत्रकार भी। उन्होने अपने कृतित्व एव व्यक्तित्व की छाप प्रत्येक क्षेत्र मे डाली है। मुझे आशा है कि उनके जीवन से समाज प्रेरणा लेगा।

व० वे० गिरी

भूतपूर्व राष्ट्रपति

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि स्वर्गीय प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ के उपदेशो एवं आदर्शो को "प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ" के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। स्वर्गीय पण्डित जी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे जिन्होने साहित्य, ज्ञान प्रसार और समाज सेवा मे अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। यद्यपि उनका विशेष विस्तृत कार्य क्षेत्र जैन साहित्य की खोज प्रकाशन रहा तथापि वे एक शिक्षक पत्रकार और कवि भी थे। मै उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए प्रकाशन की सफलता चाहता हू।

हरिदेव जोशी

मुख्य मन्त्री, राजस्थान

यह जान कर प्रसन्नता हुई कि स्व० प० चैनसुखदासजी की स्मृति मे एव उनके प्रति श्रद्धाजलि समर्पित करने के उद्देश्य से एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का सकल्प किया गया है। वास्तव मे स्व० प० जी की साहित्य क्षेत्र मे अपार एव महत्वपूर्ण सेवाये रही है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ मे सकलन की गई सामग्री द्वारा उनके बताए गए आदर्शो को सरल भाषा मे दर्शाया जायेगा ताकि समाज के हर वर्ग के नागरिक को उनसे प्रेरणा मिल सके। मै उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए आपके इस प्रयास की पूर्ण सफलता की कामना करता हू।

प्रकाशचन्द्र सेठी

मुख्य मन्त्री, मध्य प्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने पंडित चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन करने का कार्यक्रम बनाया है।

पंडित चैनसुखदास न्यायतीर्थ संस्कृत साहित्य, धर्म और दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान् थे। प्रचार से दूर रह कर निरन्तर ठोस रचनात्मक कार्य करने वाला व्यक्तित्व हमारे बीच से नियति ने उठा लिया। इसका पूरे राजस्थान के विद्वत् समाज को शोक है।

पं० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन ग्राप कर रहे है जानकर प्रसन्नता हुई। मैने तो पण्डित जी के सम्बन्ध मे अधिक सुना है, कोई मेरा निजी सम्पर्क अधिक नही हुग्रा, एक दो बार मिले ग्रवश्य ही है। उनकी धर्म ग्रौर समाज के प्रति बडी लगन थी ग्रौर धर्म के मूल तत्व को ग्रपनाने की उनकी बडी ग्राकाक्षा थी। वे भारतीय दर्शन के ज्ञाता होने के साथ साथ पश्चिमी दर्शन से भी ग्रनभिज्ञ नही थे ग्रौर जो ग्राज के समाज के बच्चे है उनमे धार्मिकता ग्रौर नैतिकता बढाने की ग्रोर उनकी बराबर दृष्टि रहती थी। समस्त समाज की उनमे श्रद्धा थी ग्रौर विद्वज्जन उनको बहुत ग्रादर से देखते थे।

साहु शान्तिप्रसाद जैन

मेरा जन्म जोबनेर में हुग्रा ग्रौर भाई चैनसुखदास जी का जन्म भादवा मे जो जोबनेर से दसेक मील है। वाद मे वे ग्रत्यन्त प्रसिद्ध पडित चैनसुखदास जी हो गये। उन्होने प्रारम्भिक सस्कृत शिक्षा जोबनेर निवासी पडित सूरजमल जी से ग्रहण की थी। ऐसी स्थिति मे चैनसुखदास जी ग्रौर मैं सर्वथा भाई-भाई हो गये थे।

मै पडित चैनसुखदास जी की ख्याति बरावर सुनता रहा। पर मेरा उनसे साक्षात्कार बडी देर से हुग्रा। यह भी कोई संयोग ही था कि पडित जी का बडा भारी प्रशसक मै उनसे रहा दूर ही। जव मै पहले पहले उनसे मिला तो उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप मुझ पर पडी। उनकी शारीरिक स्थिति को देखकर उनके प्रति मेरी सहानुभूति हुई, पर उनकी बौद्धिक प्रखरता ग्रौर कार्यक्षमता ने मुझे ग्राश्चर्य मे डाल दिया।

पंडित चैनसुखदास जी स्वभावत परोपकारी थे। उनकी ग्रहिसक वृत्ति ने उन्हे परोपकार परायण बना दिया था। जो कोई पडित जी के पास चला जाता उसकी सहायता वे ग्रवश्य करते थे। एकाध अवसर पर मैने भी उनसे सहायता की प्रार्थना की किसी सार्वजनिक मामले मे ग्रौर उन्होने मुझे सहर्ष सहायता प्रदान की।

पंडित चैनसुखदास जी के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की याद मुझे हमेशा वनी रहेगी ग्रौर मुझे सदैव गर्व रहेगा कि पडित जी का स्नेह मुझ जरा से व्यक्ति के प्रति था।

हीरालाल शास्त्री
सस्थापक
वनस्थली विद्यापीठ

देते रहे। उन्होने इस वृद्धावस्था में भी इस स्मृति ग्रन्थ को अपने तत्वावधान में प्रकाशित कराया। इस सम्बन्ध मे ही मेरा उनसे विशेष सम्पर्क हुआ था। मेरी इच्छा थी कि वे स्मृति ग्रन्थ के समर्पण समारोह के समय कलकत्ता अवश्य आवे किन्तु खेद है कि उन्होने आना स्वीकार नहीं किया। उन्होने कहा कि "ग्रन्थ प्रकाशन महत्वपूर्ण कार्य था जो हो गया अब इस समारोह मे तो समर्पण आभार आदि की औपचारिक क्रियाये होगी उन्हें मैं खास महत्व नही देता।"

मै स्व० पण्डितजी के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि प्रकट करता हुआ कामना करता हू कि उनके द्वारा सचालित और सस्थापित संस्थाये, साहित्य, संस्कृति, समाज एव देश की अधिकाधिक सेवाए करे।

जुगमदिरदास जैन
कलकत्ता

पण्डित जी सस्कृत एव दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् तथा एक स्वतन्त्र विचारक थे और राष्ट्रपति जी ने इनकी सेवाओ से प्रभावित होकर राष्ट्रीय पुरस्कार से अलकृत किया था।

सरदार हुकुमसिंह
(भूतपूर्व राज्यपाल, राजस्थान)

यह कहने की आवश्यकता नही है कि प० साहब जैन समाज के विद्वानो की परम्परा मे असाधारण प्रतिभा के धनी थे, विद्वत्समाज मे उनका स्थान मूर्धन्य था। बेशक उन्होने जीवन भर जैन समाज, धर्म एव साहित्य की उल्लेखनीय सेवाए की है जो निश्चय ही चिरस्मरणीय रहेंगी।

मूलचन्द पाटणी, बम्बई

पण्डित जी के व्यक्तित्व मे विरोधी प्रतीत होने वाले गुणो का अद्भुत समन्वय था। वे दृढ़ता के साथ-साथ अत्यन्त कोमल और सहृदय थे परम्परा और आधुनिकता के मिलन-बिन्दु पर वे खडे थे। वे दूसरों की पीड़ा मे स्वय दुखी हो उठते थे। कितने ही निराश छात्रो के जीवन में आशा का सचार कर पण्डित जी ने उन्हे प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया धार्मिक मतमतान्तरो से वे ऊपर उठे हुए थे।

पण्डितजी उच्च विचार और सादा जीवन के मूर्तरूप थे। उनमे गाम्भीर्यता के साथ-साथ विश्व मानवता के मूल भाव समाविष्ट थे। उनका निरभिमान पाण्डित्य और सहज उपलब्ध व्यक्तित्व जीवन भर मे प्रेरणा और स्फूर्ति की भावना भरता था। वे आदर्श गुरु-परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी थे। उनके निधन से सांस्कृतिक परम्परा की एक कड़ी ही टूट गई है।

पण्डित साहब के निधन के समाचार से हृदय को बडा आघात पहुंचा। उनके निधन से समाज और देश की अपार क्षति हुई।

अक्षयकुमार जैन
सम्पादक– नवभारत टाइम्स

मेरे लिए पडित जी आत्मीय थे। बीस--पच्चीस वर्ष पूर्व पहली बार उनसे भेट हुई थी तब से जब–जब जयपुर जाना हुआ उनसे बराबर मिलता रहा। नाना समस्याओ पर उनसे विचार सुनकर प्रसन्नता होती। अपने मत के प्रति उनका आग्रह नही रहता था। उदार चिन्तन उनकी ऐसी विशेषता थी जो हमेशा के लिए मेरे मन पर छाप छोड गई है। धर्म के मूल सिद्धातो के वे पुजारी थे और दृढता पूर्वक वे उनका पालन करते थे। वे सिद्धान्त सभी धर्मो मे समान है।

शास्त्रो मे उनकी अपार गति थी। 'अर्हत् प्रवचन' जैसा उत्तम सकलन उनके अगाध पाडित्य और सूक्ष्म ज्ञान का प्रतीक है। उनका व्यक्तिगत जीवन एक सत का जीवन था। पण्डित जी तो साधु, सर्वजन श्रद्धेय थे ही उनको तो अपने सुकृतो के फलस्वरूप भगवद्धाम प्राप्त होगा ही उनके लिए हमे शोक और प्रार्थना करने की आवश्यकता नही। ज्ञानी सन्त तो जीवन मुक्त होते ही है।

प्रो० रामसिंह तोमर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्व भारती

पंडित जी अत्यन्त सरल स्वभावी, मिलनसार, व्यवहार कुशल, स्पष्ट वक्ता थे। जैन समाज को आपके वियोग से महान क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति हो ही नही सकती।

परसादीलाल पाटनी
दिल्ली

आप सुधारक एवं मीमांसक विद्वान् थे। लेखक, पत्रकार, कर्मठ कार्य-कर्त्ता, सस्था सचालक आदि विभिन्न रूपो मे आपके दर्शन होते थे। सिद्धातवादी थे, सिद्धात के समक्ष वे किसी की नही चलने देते थे, ढोग, आडम्बर एव पाखडो की खूब पोल खोलते थे। आप समाज मान्य ही नही थे अपितु राज्य मान्य भी थे। स्वभाव के मृदुल, भद्र, सरल एव उदार थे। अनेक सस्थाओ के सस्थापक, सचालक, पोषक एव मूक सेवक थे।

आपका हृदय, उदार विशाल एवं गम्भीर था। विद्वानों के प्रति सतत सम्मान की भावना रखते थे।

ज्ञानचन्द्र जैन 'स्वतन्त्र'

वीरवाणी के लब्ध प्रतिष्ठ, सुयोग्य सम्पादक जैन समाज से चल बसे। यह क्षति साहित्य ससार के लिए पूर्ण होनी कठिन है। पण्डित जी प्राचीन

एवं प्राध्यापक या प्रधानाचार्य के रूप में पण्डित जी ने अ० भा० जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है।

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री
आरा

पडित जी के निधन से सस्कृत जगत् की जो क्षति हुई है, वह अपूरणीय है।

वाचस्पति उपाध्याय,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

जैन समाज के दुर्भाग्य से विद्वानो की श्रृंखला कम होतो जा रही है। श्री प० चैनसुखदास जी के स्थान की पूर्ति शीघ्र नही हो सकती। उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रो का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है।

बाबूलाल जैन जमादार
मन्त्री– दि० जैन शास्त्री परिषद्–बडौत
(मेरठ)

पडित चैनसुखदास जी जैन समाज की अनन्य विभूति थे। उन्होने जैन समाज और जैन साहित्य को समृद्ध किया।

यशपाल जैन,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

पूज्य पडित जी प्राचीन पद्धति के विद्वानो मे अग्रगण्य थे। वे अपने क्रान्तिकारी विचारो एव सुधारवादी प्रवृत्तियो के कारण नई पीढी के भी श्रद्धा-भोजन थे। अपने यश के पीछे वे कभी नही पडे, किन्तु राजस्थान ने उन्हे सरस्वती पुत्र समझकर सदैव अपने सिर माथे पर रखा है।

डा० राजाराम जैन, आरा

आदरणीय पडित जी ने जैन समाज की जो सेवा की है वह कभी नही भुलाई जा सकती। वे स्वय मे एक सस्था थे। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उनकी वाणी मे आकर्षण था। उनका प्रवचन हृदयग्राही, मर्मस्पर्शी और समाज के कल्याण के लिए ही होता था। पडित जी की करनी व कथनी मे कोई अन्तर नही था। वे उच्चकोटि के शिक्षक थे और जिसके फलस्वरूप उनको राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। वे वर्तमान पीढी के लिए प्रेरणा श्रोत रहे हैं।

रामप्रसाद लढ्ढा
भूतपूर्व सिंचाई मन्त्री, राजस्थान

पडित जी के त्यागमय जीवन, उदार विचार एवं साहित्य तथा समाज सेवा के प्रति मेरी हार्दिक सहानुभूति एव श्रद्धाजलि स्वीकार करे।

डा० सूर्यदेव पाण्डेय
मुजफ्फरपुर।

राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकुमसिह, मुख्य न्यायाधीश श्री जवानसिह राणावत एव पडित साहव भाषण देते हुए ←

पडित साहव के गुरु पडित सूरजमलजी शर्मा, जोवनेर→

महावीर जयन्ती समारोह के अवसर पर लिया गया एक चित्र। मंच पर बैठे हुए काका कालेलकर के साथ पडित साहव ←

पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ० कस्तूरचंद कासलीवाल

राजस्थान प्रदेश का देश के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है । यहा की साहित्यिक एवं सास्कृतिक विरासत ने देश के विकास मे उल्लेखनीय योगदान किया है । वीरता यहा की मिट्टी के कण–कण मे समाहित रही है । देश एव मातृभूमि पर विपत्ति आने पर जीवन उत्सर्ग की कहानी की सैकडो बार पुनरावृत्ति हुई है । किन्तु बलिदान एव उत्सर्ग के साथ–साथ यहा की मिट्टी मे पैदा होने वाले वीरो. बुद्धिजीवियो, सन्तो एव शासको ने निर्माण की कहानी को भी पचासो वार दोहराया है । यहा के कण–कण मे साहित्यिक एव सास्कृतिक विकास को गतिशीलता देने मे स्फूर्ति एवं उत्साह देखा गया है । राजस्थान के प्राचीन एव कलापूर्ण मन्दिर, एव प्रदेश के कौने-कोने मे स्थापित ग्रन्थागार इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है । वास्तव मे यहा के ग्रन्थागार एवं मन्दिर हमारे साहित्यिक एव सास्कृतिक उत्कर्ष के महान् प्रतीक है । जिस प्रकार महाराणा प्रताप पर समूचे राजस्थान को गर्व है उसी पर राजस्थान–वासियो को जैसलमेर, नागौर, जयपुर, अजमेर के जैन ग्रन्थालयो एव राजकीय पुरातत्व सग्रहालयो पर भी कम गर्व नही है । राजस्थान के महापंडित आशाधर, महाकवि माघ, भट्टारक शिरोमणि पद्मनन्दि एव भट्टारक सकलकीर्ति जैसे दिग्गज साहित्य-सेवियो एव सन्तो की जन्म एव कर्म-भूमि होने का गौरव प्राप्त है । न जाने कितने युगो की साधना के पश्चात् महापंडित टोडरमल ने राजस्थान मे जन्म लेकर साहित्यिक एव सामाजिक क्राति का बिगुल बजाया था तथा महाकवि दौलतराम ने विशाल काय गद्य–पद्यात्मक ग्रन्थो की रचना करके साहित्यिक यज्ञ को प्रज्वलित किया था ।

राजस्थान के ऐसे ही गौरवशाली विद्वानो में प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ का नाम भी उल्लेखनीय है । वे राजस्थान के अत्यधिक प्रतिभाशाली एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे और उनका समूचा जीवन मा भारती की सेवा मे व्यतीत हुआ था । वे अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय एव श्रद्धास्पद विद्वान् माने जाते थे । 'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' वाली लोकोक्ति उनके जीवन मे अक्षरशः सही उतरी थी । वे साहित्य गगन के सूर्य थे और जयपुर जैन समाज के मुकुट थे । वे क्या गये मानो सामाजिक जीवन की मर्यादा एव गरिमा ही समाप्त हो गयी । उनका समग्र जीवन ही सेवा की मूर्ति था और जीवन के अन्तिम क्षण तक वे इसी व्रत को पालते रहे । जयपुर नगर के जैन समाज का गत ३० वर्षो का इतिहास ही मानो उनके जीवन का इतिहास है । उनका व्यक्तित्व समाज की प्रत्येक गतिविधि पर छाये रहा और बाहर से भिन्न होते हुये भी उनका एव समाज का जीवन मानो एकाकार रूप मे रहा । यही कारण है कि समूचा समाज वर्षों तक उनके इशारो पर चलता रहा और उन जैसे तपस्वी विद्वान् को पाकर वह निहाल हो गया ।

पण्डित जी के जीवन की कहानी अत्यधिक रोमाचक एव आकर्षक है । जिसे पढ़ने एव जानने की

केशरीमल भी उसी पाठशाला मे पढते थे। वे दोनो ही वहा के मेधावी छात्र माने जाते थे। उस समय विद्यार्थियो को लघु कौमुदी एव रत्नकरण्डश्रावकाचार पढाया जाता था। लेकिन गाव मे पाठशाला की आलोचना करने वाले भी कुछ व्यक्ति थे। ऐसे लोगो के कारण वह पाठशाला कुछ समय बाद बन्द हो गयी और गाव के विद्यार्थी उधर-इधर घूमने लगे। काम तो कुछ रहा नही इसलिये एक दिन १०-१२ विद्यार्थी गाव से ८ मील की दूरी पर स्थित गुदली नामक तलैया मे नहाने के लिये चले गये। उन विद्यार्थियो मे पडितजी के दोनो भाई भी थे। वे दोनो ही तैरना जानते थे। इसलिये दोनो ने तलैया की एक दूसरी छोर से तैरते हुये बीच मे मिलने का निश्चय किया और तलैया मे कूद पडे। तलैया के बीच मे कुवा था। दोनो बच्चे ही तो थे। बीच मे आते-आते वे दम तोड बैठे और बीच के कुवे मे डूब गये। उनके साथियो ने उन्हे निकालने का बहुत प्रयत्न किया लेकिन वे उसमे सफल नही हो सके। उस घटना से चारो और हाहाकार मच गया तथा गाव के एव आस-पास के सैकडो व्यक्ति वहा एकत्रित हो गये। उस दिन गाव भर में किसी के खाना नही बना। वहा का जागीरदार भी रात भर वही रहा और पुलिस थानेदार के आने पर जब बच्चो को तलैया मे से निकाला गया तो उन दोनो सुन्दर एव भोले-भाले बच्चो को देखकर सारे व्यक्ति जोर-शोर से रोने लगे। पण्डितजी के पिताजी एव परिवार के लोगो के दुःख का तो कहना ही क्या ? उस दर्दनाक दृश्य का वर्णन करना भी कठिन है। जब थानेदार ने शेष बालको को गिरफ्तार करने पर जोर दिया तो पण्डितजी के पिताजी ने विनम्र शब्दो मे मना किया और कहा कि उनका और हमारा ऐसा ही भाग्य था।

प्लेग का प्रकोप

सवत् १९६१ मे भादवा गाव में प्रथम बार प्लेग का प्रकोप बडे भयकर रूप मे हुआ। पहिले यह महामारी चूहो पर आयी। वे नाच-नाच कर मरने लगे इसके पश्चात् मनुष्यो पर पर महामारी ने अपना असर जमाना प्रारम्भ किया। पहिले जोरदार बुखार आता। फिर उसके गले मे, कान के नीचे अथवा जाघ के बगल मे गांठ होती। इस गाठ के प्रकोप से लोग तीन-चार दिन मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते। बडी भयानक बीमारी थी, डाक्टर और वैद्य गाव मे थे ही नही। छोटे से गाव मे १५-२० व्यक्ति प्रतिदिन मरने लगे। चारो ओर भय और आतक छा गया। पण्डितजी के घर मे भी महामारी ने प्रवेश किया और सर्वप्रथम पडित के बाबाजी की लडकी गगली को उसने अपना शिकार बनाया। गगली बहुत तेज थी इसलिये वह घोडी के नाम से प्रसिद्ध थी। इसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पिताजी चन्द्रलालजी मर गए और तीन दिन बाद ही पंडितजी की दादी और चन्द्रलालजी की पत्नी मर गयी। फिर पडितजी के छोटे बाबा महामारी के शिकार हो गये। घर मे कोई परिचर्या करने वाला भी नही रहा। परिवार के एक के बाद एक सदस्य मरने लगे। छोटे बाबा के लडके गगालाल को भी प्लेग ने घर दबाया। उससे भयभीत होकर इनके बाबाजी गेरुलालजी गाव छोडकर कही चले गये। अब पडितजी के पिताजी का नम्बर आया। घर सूनसान हो गया। उनका उपचार करने वाला कोई नही बचा। इसलिये उन्हे मकान मे ही एक खाट पर लिटा दिया। सारा गाव खाली हो गया और लोगो के सामने मृत्यु मुंहबाये खडी रही। लेकिन उनकी आयु शेष थी इसलिये वे स्वत. ही बिना किसी उपचार के ही अच्छे हो गये।

पिताजी की मृत्यु

पडितजी जब १०-१२ वर्ष के थे तभी उनके

छोड कर जाने का आग्रह करने लगे । क्योंकि उनके बिना विद्यार्थियो का आवारा होने का डर था । पंडितजी की मा को आखिर गाँव वालो की बात माननी पडी और अश्रु पूरित नेत्रो से अपने लाडले को छोडकर जाना पडा ।

जब वे १२ वर्ष के थे तो जोबनेर पढने के लिये चले गये । वहा वे २ वर्ष तक पढते रहे । वहा जैन पाठशाला थी । पडित सूरजमलजी वहा के अध्यापक थे । उसी समय जोबनेर मे एक विशाल जैन मेले का आयोजन किया गया । गाव के बाहर एक विशाल मडप बनाया गया । उसमे जैन समाज के बडे-बडे विद्वान् भी सम्मिलित हुए थे उसी समय समाज के प्रसिद्ध विद्वान् प गोपालदासजी बरैया एव आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी दर्शनानन्दजी के मध्य शास्त्रार्थ हुआ । विषय था "ईश्वर कर्तृत्व" । शास्त्रार्थ कई घण्टो तक चला । इसमे जैनो की जीत हुई । पं. गोपालदास ने अपने पाडित्य से आर्य समाज को बुरी तरह हराया । इस शास्त्र मे विधुपुरा(इटावा) के कुंवर दिग्विजयसिह भी सम्मिलत हुए थे। वे पहिले आर्य समाजी थे लेकिन बाद मे वही पर जैन हो गये । अन्य विद्वानो मे जयपुर के प्रसिद्ध देश एव समाज सेवी श्री अर्जुनलाल सेठी, इटावा के चन्द्रसैन जैन वैद्य एव प पुट्टुलाल के नाम उल्लेखनीय है । इन विद्वानो ने भी शास्त्रार्थ मे भाग लिया था । आर्य समाज की हार का जोबनेर के ठाकुर कर्णसिहजी के स्वास्थ्य पर गहरा असर पडा और वे कुछ ही दिनो पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हो गये । पडित चैनसुखदास के जीवन मे इस प्रकार के बडे समारोह को देखने का प्रथम अवसर था । पंडितजी प्रारम्भ मे अच्छे गायक भी थे । जब भजन गाते श्रोताओ को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेते थे । मेले मे पण्डितजी ने एक भजन गाया था । इससे प्रसन्न होकर एक सेठ ने उन्हे १) रु. और पुस्तक पुरस्कार मे दी थी ।

पडितजी ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि प० गोपालदासजी का प्रभाव आश्चर्यजनक था । उनके तर्क अकाट्य होते थे और सहज ही अपने विरोधी को जीत लेते थे । वे शरीर मे बहुत दुबले-पतले थे उनको बहुमूत्र का रोग भी था इसलिये शास्त्रार्थ के बीच-बीच मे उन्हे उठकर जाना पडता था । जोबनेर मे उन्होने पडितजी के बहनोई श्री नेमीचन्द पाटनी के यहा एक समय भोजन भी किया था इसलिये उस समय पंडितजी को उन्हे समीप से ही देखने का अवसर मिला था । किसी बडे विद्वान से, पडितजी की यह प्रथम भेंट थी ।

दो वर्ष जोबनेर विद्याध्ययन करने के पश्चात् वे पुन अपने गाव आ गये । उन दिनो सेठ केशरीमलजी सेठी गयाजी से भादवा आते रहते थे । गाव की पाठशाला भी उन्ही की प्रेरणा से चलती थी । जब कभी वे भादवा आते तो पाठशाला मे भी निरीक्षण के लिये जाते । उनकी दृष्टि मे पडितजी अच्छे एव कुशाग्र बुद्धि के छात्र लगे इसलिये उनकी इच्छा उन्हे गयाजी ले जाने की होने लगी ।

एक बार उन्होने गयाजी से ही पडितजी के काकाजी नाथूलालजी को पत्र लिखा जिसमे उन्होने पडितजी को गयाजी भेजने का आग्रह किया । पडितजी के हृदय मे अध्ययन की तीव्र लालसा थी । इसलिये उन्होने शीघ्र ही अपनी माताजी एव बाबाजी का आशीर्वाद लेकर गयाजी के लिये प्रस्थान कर दिया । उस समय उनकी आयु १६ वर्ष की थी । गाव मे यातायात का साधन नही था । वहा से १३ मील आसलपुर का स्टेशन था । वही से रेल गाडी पकडनी पडती थी । गाव से स्टेशन तक ऊट पर जाना पडता था । पडित जी भादवा से आगे कुछ ही दूर पहुचे होगे कि आकाश मे बादल छा गये और घोर वर्षा होने लगी । रेगिस्तान मे कही ठहरने का स्थान नही था । लेकिन आप जरा भी नही घबराये

सन्तोष हो गया तो पडितजी को विद्यालय मे प्रवेश दे दिया। तत्काल दर्जी को बुलाया गया और उनके लिये कपडे सिलाये गये। पडितजी ने लिखा है कि "जब तक वे विद्यालय के अधिष्ठाता रहे उनके साथ उनका बर्ताव अत्यधिक "सौहार्दपूर्ण रहा।"

महाविद्यालय के स्नातक

पडितजी ने अपना अध्ययन पूरे मनोयोग से प्रारम्भ किया। जो कुछ वे पढते थे उसे पूरा याद कर लेते इसलिये वे शीघ्र ही विद्यालय के प्रिय छात्र बन गये। पहले वे स्वय पढते और फिर वे अपने साथियो को भी पढाया करते। पडितजी के साथी उनका काम सहज ही मे कर देते थे। वे वहाँ अनपेड छात्र थे। १) रु० मासिक उन्हे हाथ खर्च का मिलता था। वे उसी मे अपना काम चला लेते थे। पडित कैलाशचन्द जी शास्त्री प० चैनसुखदास जी के साथी थे। उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि मेरे बाल्यकाल मे विद्यालय मे तीन छात्र प्रमुख थे। "पं० चैनसुखदासजी जयपुर, प. जीवन्धरजी इन्दौर और प रमानाथजी इन्दौर। मैं प० चैनसुखदासजी के ग्रूप मे था। और मेरे परम मित्र प० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ प० जीवधरजी के ग्रूप मे थे। तीनो मे जब कभी बात छिड जाती थी तो आनन्द आ जाता था। फिर तो सस्कृत वाग्धारा की सरिता बहने लगती। प० चैनसुखदासजी अवस्था की दृष्टि से तीनो मे छोटे थे किन्तु बोलने मे विशेष पटु थे। विद्यालय जोभी विद्वान् पधारते उससे सस्कृत मे जमकर चर्चा छिडती और हम लोग उसका रसास्वादन करते। एक बार एक दण्डी साधु हाथ मे दण्ड लिये विद्यालय के तट से जा रहा था। ऊपर हम लोग खडे थे। प० चैनसुखदासजी ने उसे छेड दिया। वह भी विद्वान् था। फिर तो सस्कृत मे वाग्युद्ध छिड गया और बहुत ही आनन्द आया।"

अध्ययन की समाप्ति

पडितजी पाँच वर्ष तक स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र रहे और इस बीच मे उन्होने बगाल सस्कृत एसोसियेशन की न्यायतीर्थ एव काशी विद्यापीठ के आचार्य का "प्रथम खण्ड" पास किया। जैन शास्त्रो का आपने गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया। आपकी तार्किक शक्ति बडी तेज थी इसलिये विद्यार्थी अवस्था मे आपको तर्कचन्द के नाम से पुकारा जाता था। वहा आपका एक अलग ही ग्रूप था और आपके ग्रूप मे अच्छे विद्यार्थी थे। विद्यार्थियो मे आप सदा ही लोकप्रिय रहे। वहा पढते भी रहे और दूसरो को पढाते भी रहे। छात्रो की ओर से संस्कृत मे एक पत्र निकाला जाता था उसके भी आप सम्पादक रहते थे। विद्यार्थी अवस्था मे ही वे आप्तपरीक्षा एव प्रमेयरत्नमाला को अच्छी तरह पढाते। विद्यार्थियो को सस्कृत मे अनुवाद कराते और उनको संस्कृत मे बोलना सिखाते।

स्याद्वाद विद्यालय आपके जीवन निर्माण का स्थल रहा। वहा रह कर संस्कृत एव जैन दर्शन का उच्च अध्ययन किया। वास्तव मे स्याद्वाद महाविद्यालय आप जैसे मेधावी छात्रो के कारण स्वय गौरवान्वित हो गया। और आपके नाम के साथ सदा ही उसका नाम जुड गया। पाच वर्ष तक पडित जी का व्यक्तित्व विद्यालय के छात्रो पर ही नही अपितु वहा के अधिकारियो पर छाये रहा और वे अपनी विद्वत्ता, वाग्पटुता तथा सादगी से विद्यालय मे सर्वाधिक लोकप्रिय रहे। पाच वर्ष के अल्प जीवन मे ही वे समाज के मूर्द्धन्य विद्वान् बन गये और अपनी अलौकिक सूझबूझ से सब पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

स्वदेश को

सन् १६१६ मे वे स्वदेश लौट आये। उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी। विद्याध्ययन पूर्ण कर जब वे गाव लौटे तो उनका भव्य स्वागत

विद्यार्थियो की अच्छी सख्या हो गयी। प सत्यन्धर-कुमारजी सेठी, प. चान्दमलजी काला, गुलाबचन्दजी गगवाल रेनवाल आदि ने कुचामन मे ही विद्या प्राप्त की थी। कुचामन विद्यालय में आपने १२ वर्ष तक सेवा की और उसे प्रान्त का आदर्श विद्यालय बना दिया।

शिक्षण कार्य के अतिरिक्त जो भी आपको समय मिलता उसे आप सामाजिक कार्यों मे लगाने लगे। भादवा, जोबनेर एव बनारस के विद्यालयो मे अध्ययन करते समय भी आपसे जितनी अधिक सेवा हो सकती थी करते रहे थे। पडितजी प्रारम्भ से ही उदार विचारो के रहे। समाज के विकास मे उनकी क्रातिकारी विचारधारा रही। उन्होने सदा ही समाज को झकझोरना चाहा और उसे जाग्रत करके विकास की ओर लगाने का प्रयास किया। वे रूढियो का सदा ही विरोध करते रहे। चौका-चूल्हा एव छुआछूत के सदा ही विरुद्ध बोलते रहे और उस समय भी अपने साहस का परिचय दिया जब समाज मे कट्टर-पथियो का बोलबाला था तथा सारा समाज उनकी मुट्ठी मे था।

जब आप कुचामन मे थे तो खण्डेलवाल महा-सभा का पूरा प्रभाव था। लेकिन पडितजी सा० की दिगम्बर जैन खण्डेलवाल महासभा से अधिक नही पटी क्योकि उसके सभी कर्णधार पुरानी विचारधारा के थे और सुधार का उन्हे नाम भी नही सुहाता था। इसलिये पंडितजी ने राजावाटी गोडावाटी दिगम्बर जैन महासभा के नाम से एक सस्था की स्थापना की थी जिसका प्रमुख उद्देश्य समाज मे व्याप्त कुरीतियो को मिटाने एव परस्पर के विवादो को निपटाना था। उन्होने इस महासभा के माध्यम से उस प्रदेश मे वृद्ध विवाह, दहेज एव कन्या विक्रय जैसी कुरीतियो मे काफी सुधार किया। पडितजी सामाजिक समस्याओ को सुलझाने के लिये पच (जज) का कार्य करते थे। वादी एव प्रतिवादी की दलीले सुनते, पक्ष विपक्ष मे तर्क दिये जाते और अन्त मे पडितजी द्वारा फैसला सुनाया जाता जो सबको मान्य होता। कहते हैं कुछ लोग अपने पक्ष मे फैसला देने के लिये पडितजी को लोभ लालच भी देने का प्रयास करते लेकिन वे अपने पद से विचलित नही होते और जो उचित प्रतीत होता वही फैसला सुनाते। पडितजी के इस बढते हुए प्रभाव से बडे-बडे मठाधीशो के सिंहासन हिल गये और वे भी पडितजी की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने मे डरने लगे।

एक बार बरसात के दिनो मे भादवा से कुचामन जाते समय बाजन नदी की तेज धारा तथा गहरे पानी मे मना करने पर भी ऊट वाला आपको ले गया। उसने सोचा था कि नदी मे अधिक पानी नही है और ऊट को वह आसानी से निकाल ले जावेगा। लेकिन नदी का बहाव तेज था तथा पानी भी गहरा हो गया था। ऊट जब नदी के मध्य मे पहुचा तो उसकी गर्दन के अतिरिक्त वह पूरा डूब गया था। बडी मुश्किल हो गई। न आगे जाया जा सकता था और न पीछे मुडा जा सकता। ऊट वाला भी घबरा गया और पंडितजी ने तो जान लिया कि उनके जीवन का अन्त सन्निकट है। वे णमोकार मत्र का जाप करने लगे। धीरे-धीरे ऊट ने जब बडी सावधानी से नदी पार की तभी दोनो के जान मे जान आयी।

जयपुर आगमन

१२ वर्ष कुचामन विद्यालय मे कार्य करने के पश्चात् दिनाक ३० अक्टूबर सन् १९३१ की शुभ एव पावन वेला मे पडितजी सा० ने दिगम्बर जैन महापाठशाला जयपुर के प्रधानाध्यापक पद का कार्यभार सम्हाला। यहा से उनके जीवन का नया मोड प्रारम्भ हुआ। अब तक उनकी गतिविधिया प्रमुख रूप से कुचामन एवं उसके आस-पास के

भी अपने एक लेख "मेरे निर्माता" मे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है—"सन् १९३९ मे मैंने प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण कर अपनी शिक्षा लगभग समाप्त कर दी थी और अपने चाचाजी के कार्य मे सहायक हो चुका था। गुरुजी इन्ही दिनो जयपुर पधारे थे। उन्हे मालूम हुआ और उन्होने बुलाया। तथा पढाई बन्द करने के कारणो को सुना। मेरी आर्थिक स्थिति का परिचय पाकर कहा कि तुम दिन में अपना काम करो और रात के ८ बजे पश्चात् मेरे पास पढने आओ। मेरे परम सखा श्री भवरलालजी न्यायतीर्थ तथा मे दोनो रात को पढने आने लगे। पण्डितजी शास्त्र प्रवचन करके आते और रात को २–३ घंटे हम दोनो को बगाल सस्कृत एशोसियेशन की प्रथम परीक्षा की तैयारी कराते। फरवरी मे प्रथमा परीक्षा दी और सफलता प्राप्त की। इसी बीच मेरे ट्यूशनो की व्यवस्था भी बैठा दी।"[1]

इस प्रकार पण्डितजी सा० ने जयपुर आते ही विद्यार्थियो से अपना सम्पर्क बढाया और उन्हे उसमे पर्याप्त सफलता मिली। एक के पश्चात् दूसरे विद्यार्थी आने लगे और इस तरह प्रवेशिका, उपाध्याय एव शास्त्री कक्षाओ मे जो पहिले प्राय खाली पडी रहती थी फिर विद्यार्थियो से भरने लगी। पण्डितजी दिन भर विद्यार्थियो को पढाते और रात्रि को बडे दीवानजी के मंदिर मे शास्त्र प्रवचन करते। इस तरह शनै-शनै उनकी विद्यार्थियो मे एव समाज मे लोकप्रियता बढने लगी।

जैन दर्शन का सम्पादन

तीन वर्ष मे जयपुर जैन समाज में लोकप्रियता प्राप्त करने तथा दिगम्बर जैन महापाठशाला की व्यवस्था मे पर्याप्त सुधार करने के पश्चात् पण्डित जी विजनौर से प्रकाशित होने वाले पाक्षिक पत्र जैन दर्शन के प्रमुख सम्पादक बनाये गये। यह पत्र श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ सघ का प्रमुख पत्र था तथा एक वर्ष पूर्व ही पण्डित अजितकुमारजी शास्त्री एव पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री के सम्पादकत्व मे निकल रहा था। दूसरे वर्ष के प्रथम अक से (१ अगस्त, १९३४) आपने इसके सम्पादन कार्य को अपने हाथ मे लिया तथा पण्डितजी के पास ही जैन दर्शन मे प्रकाशनार्थ लेख एव कवितायें भेजे जाने के लिये विद्वानो से निवेदन किया गया। इसके पश्चात् जैन दर्शन पत्र का "स्याद्वाद विशेषाक" का आपने जिस योग्यता एव पाडित्य से सम्पादन किया उसकी उन दिनो सारे समाज मे अत्यधिक प्रशसा हुई। आपके पाडित्य की चारो ओर प्रशसा होने लगी और कुछ ही समय मे 'जैन दर्शन' समाज का लोकप्रिय पत्र बन गया। इस पत्र के माध्यम से जयपुर के जैन युवकों को लेख, कविता एव कहानी लिखने का अच्छा अभ्यास हो गया। जिन नवयुवक विद्वानो की जैन दर्शन मे विशेष लेख एव कवितायें प्रकाशित हुई थी उनमे पं० भवरलालजी न्यायतीर्थ, प० मिलापचन्दजी शास्त्री प० कैलाशचन्द जी शास्त्री न्यायतीर्थ, प० आनन्दीलालजी न्यायतीर्थ, पं० श्री प्रकाश जी शास्त्री, प० चान्दमलजी शशि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

जुलाई १९३४ मे लेखक अपने छोटे भाई (वैद्य प्रभुदयाल भिषगाचार्य) के साथ पडितजी सा० के चरणो मे सैथल ग्राम से पढ़ने के लिये आये। लेखक का यह परम सौभाग्य रहा कि उनके पिताजी स्वर्गीय श्री गैंदीलालजी ने उन्हे ऐसे महापुरुष के चरणो मे समर्पित किया जिनके कारण हम दोनो भाइयो का जीवन निर्माण हो सका।

---

1. प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक पृष्ठ सख्या ८३।

किसी मे भी सफलता नही मिली। पडितजी का जैनवन्धु पत्र आगे वढता गया और शीघ्र ही समाज मे वह लोकप्रिय पत्र माना जाने लगा। इन्ही सामाजिक आन्दोलनो के सम्बन्ध मे पडित जी सा० ने एक-एक व्यक्ति को मैदान मे उतार और दूसरे अक मे ही प० भवरलालजी न्यायतीर्थ के लेख के अतिरिक्त श्री सरदारमलजी सेठी लाडनू का "निन्दनीय चेप्टा", श्री नानूलाल पोल्याका का "श्री १०८ आचार्य श्री शातिसागर जी महाराज की लोहटसाजनो के आहार लेने की मनाई नही है" तथा श्री मालचन्दजी पाटनी लाडनू का "अनाधिकार चेप्टा" लेख प्रकाशित हुए। इन सब लेखो का उद्देश्य अजमेर से प्रकाशित होने वाले पत्र चन्द्रप्रकाश "जिसके सम्पादक प० सुजानमलजी सोनी थे तथा खण्डेलवाल जैन हितेच्छु जिसके सम्पादक प० इन्द्रलालजी शास्त्री थे, के लेखो का उचित जवाब देना था। इसके बाद तो जैन बन्धु मे इन समाचार पत्रो मे प्रकाशित होने वाले लेखो के विरुद्ध एक के पश्चात् दूसरे लेख आने लगे। पण्डितजी सारे समाज मे समाज सुधार के पक्ष मे अलख जगाना प्रारम्भ किया। युवको को सामाजिक आन्दोलनो मे सक्रिय भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर, कलकत्ता, इन्दौर, लाडनू, दाता, किशनगढ, रेनवाल आदि पचासो गावो एव नगरो मे युवको के दल के दल तैयार हो गये और वे पण्डितजी को अपना आदर्श नेता मानने लगे।

नयी कृति का निर्माण एवं प्रकाशन

'जैन वन्धु' मे पडितजी अपने आपको दार्शनिक कवि के रूप मे तो प्रस्तुत कर ही रहे थे कि उन्होने बन्धु के प्रथम वर्ष के दूसरे अक से अपनी संस्कृत रचना "पावन प्रवाह" को क्रमश. प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। वह एक सुभाषित कृति है।

आचार्य सूर्यसागरजी का चातुर्मास

आचार्य सूर्यसागरजी महाराज एक वर्ष से भी अधिक समय तक मारवाड एव शेखावाटी के ग्राम। एव नगरो मे बिहार किया एवं वहा की जनता मे धर्म प्रभावना करने के पश्चात् वैशाख शुक्ला ५ स० १९९३ को पुन जयपुर नगर मे पदार्पण हुआ। रात्रि को नगर के बाहर स्थित नशिया मे ध्यानस्थ होना तथा दिन मे आहार के पश्चात् पाटोदी के मन्दिर मे प्रवचन एव धर्म चर्चा करना आपका कार्यक्रम था। तत्कालीन कवि स्व० चान्दमलजी शशि की आचार्य श्री के सम्बन्ध मे निम्न पक्तिया उल्लेखनीय है—

द्वाविशति कर सहन परीषह
द्वादशानुप्रेक्षा मे मग्न।
परमविरागी शान्त सूर्य मुनि
धर्म ध्यान मे हैं सलग्न।
जीवमात्र को धर्म भाव हो
रखकर यह हित भाव विशाल।
ख्याति नाम से दूर सूर्य मुनि
रहते नित परमारथ काल।

आचार्य श्री के साथ तत्वचर्चा मे भाग लेने वालो मे पण्डितजी के अतिरिक्त मा० नानूलालजी, स्वर्गीय पडित कस्तूरचन्दजी साह, स्व० प० झूथालालजी, दुलीचन्दजी साह, रामचन्द्रजी खिन्दूका, बख्शी केशरलालजी, एवं जमनालालजी की पत्नी के नाम उल्लेखनीय है। तत्वचर्चा के पश्चात् आचार्य श्री रात्रि को नगर के बाहर जगलो मे चले जाते और रात भर कही ध्यानस्थ रहते। जयपुर मे उनका चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हुआ और उनके चातुर्मास के कारण सैकडो युवको में धार्मिक भावनाएं जाग्रत हुई।

पंडितजी साहब की अस्वस्थता

अप्रेल १९३८ मे पडितजी साहब का स्वास्थ्य खराब हो गया। अपनी अस्वस्थता के कारण उन्होने

लेते रहते थे । उन्ही के आग्रह के कारण वे सन् १९५० के आरम्भ मे श्री महावीरजी गये ।

श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का स्वर्गवास

१३ जुलाई सन् १९५० की सध्या को जैन समाज के लोकप्रिय समाजसेवी श्री रामचन्द्र जी खिन्दूका का आकस्मिक निधन हो गया । खिन्दूका जी जयपुर जैन समाज के वरिष्ठ समाज सेवी थे । वे श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के १८–१९ वर्ष तक मत्री रहे । उन्होने अपने मन्त्रित्व काल मे क्षेत्र की जो सुन्दर व्यवस्था की थी उसके लिये उन्हे सदैव स्मरण किया जाता रहेगा । पण्डित जी साहब के वे श्रद्धालु प्रशसक थे और उनसे सामाजिक कार्यों मे बराबर परामर्श किया करते थे । श्री महावीर क्षेत्र की ओर से साहित्य शोध विभाग की स्थापना उनके परामर्श का एक प्रमुख परिणाम है । वीरवाणी मे अपने सम्पादकीय लेख मे पण्डितजी ने श्री खिन्दूका जी के निधन को समाज की एक महान क्षति बतलाया । पण्डित जी के शब्दो मे "खिन्दूका जी केवल जैनो मे ही नही अजैनो मे भी काफी परिचित थे । साम्प्रदायिक कट्टरता उनमे नही थी । उनका समय समय पर दिया गया दान भी सभी सस्थाओ को पहुचता था । यदि वे राष्ट्रीय क्षेत्र मे कार्य करते होते वे आज एक प्रसिद्ध नेता अथवा किसी प्रान्त के शासको मे से होते । पर उन्होने अपने कार्य क्षेत्र की सीमा समाज सेवा तक ही रखी।"

बधीचन्द जी गगवाल का स्वर्गवास

२६ दिसम्बर १९५८ को जयपुर जैन समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा श्री महावीर क्षेत्र के मन्त्री श्री बधीचन्द जी गगवाल का स्वर्गवास हो गया सेठ बधीचन्द जी मिलनसार एव भद्र परणामी सज्जन थे तथा पडित जा साहब के विशेष अनुरागी गे । उनके मृत्यु से पण्डित जी के पर्याप्त दुःख हुआ और वीरवाणी मे उन्होने गहरी सवेदना प्रकट की ।

पडित जी की उदयपुर यात्रा

७ अक्टूबर १९६० को पण्डित जी को अपने मित्रो के आग्रह से अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के छट्ठे अधिवेशन मे भाग लेने के लिये उदयपुर जाना पडा । पण्डित जी वहा ७ अक्टूबर से १० अक्टूबर तक ठहरे । उन्होने वहाँ धर्मतत्व के विषय मे एक निबन्ध पढा तथा उस विभाग की अध्यक्षता भी की । उदयपुर मे पण्डित जी का भावभीना स्वागत हुआ । उन्होने जैन समाज द्वारा आयोजित सभा मे अपना भाषण दिया तथा एक आयुर्वेद विद्यालय के उद्घाटन मे सम्मिलित हुए । इसी बीच पण्डत जी केशरिया जी अतिशय क्षेत्र के दर्शनार्थ भी गए ।

मालीलाल जी दीवान का निधन

भादवा सुदी १४ स० २४८८ के दिन समाज के वयोवृद्ध नेता एव दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर के सभापति श्री मालीलाल जी दीवान का स्वर्गवास हो गया । आप स्थानीय बडा मदिर तेरहपथी मे प्रात॰ शास्त्र प्रवचन करते थे । दिनाक २० सितम्बर १९६२ को बडे दीवान जी के मन्दिर मे शोक सभा का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ ने की ।

महाकवि बनारसीदास की ३७७ वी जयन्ती समारोह

२२ जनवरी सन् १९६३ को आने वाला पडित जी का ६४ वा जन्म दिवस साहित्यिक समारोह के रूप मे मनाया गया और इस अवसर पर हिन्दी जैन साहित्य के महाकवि बनारसीदास की ३७७वी जयन्तीसमारोह मनाया गया । इसी अवसर पर वीरवाणी का "बनारसीदास विशेषाक प्रकाशित किया गया । समारोह डा० माताप्रसाद जी गुप्त अध्यक्ष हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ । विभिन्न विद्वानो ने महाकवि बनारसीदास पर एव पडित जी के जीवन

साहब के सम्पर्क मे कितनी ही अनुभूतिया हुई। जब मुनिश्री ने चातुर्मास समाप्ति की घोषणा की तथा आगे विहार निश्चित सा हो गया तो आतिश मे एक विशाल सभा का आयोजन किया गया जिसमे २५ हजार से भी अधिक नागरिक उपस्थित होगे। इतनी अधिक सख्या मे लोगो का किसी भी सत एव साधु का भाषण सुनने के लिये एकत्रित होने का यह प्रथम अवसर था। वास्तव मे मुनिश्री ने जयपुर के नागरिको पर अपने महान् व्यक्तित्व की जो छाप छोडी वह आज भी उनके हृदयो मे समायी हुई है।

वीरवाणी का "राजस्थान क जैन साहित्य सेवी विशेषांक"

अप्रेल ६६ को वीरवाणी का' राजस्थान के जेत साहित्य मेवी विशेषाक ' प्रकाशित किया गया। यह विशेषाक अपनी दृष्टि से सभी विशेषाको से अनूठा रहा। उसमे राजस्थान के प्राकृत, अपभ्र श सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के साहित्यकारो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया। प्राचीन एव अर्वाचीन दोनो ही साहित्यकारो का परिचयात्मक विशेषाक का प्रकाशन साहित्य जगत् को नयी देन स्वीकार की गयी। इस विशेपाक मे २०० से भी अधिक साहित्यकारो का परिचय प्राप्त हुआ। विशेषाक की सभी दृष्टियो से सराहना की गयी।

वीरवाणी का "पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ विशेषांक"

'वीरवाणी' पत्रिका का पडित जी के ६८ वे जन्म के उपलक्ष मे "प० चैनसुखदास जयन्ती विशेषाक " निकाला गया। विशेषाक के सम्पादक प० भवरलाल न्यायतीर्थ, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एव डा० ताराचन्द बख्शी थे। एक समारोह का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष श्री केशरलाल बख्शी, थे। समारोह का सयोजन भवरलाल न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने किया। यह प्रथम अवसर था जब किसी जैन विद्वान के जीवन काल मे ही किसी पत्रिका का विशेषाक निकाला गया था। विशेषाक मे ६० से भी अधिक विद्वानो समाज सेवियो एव कार्यकर्त्ताओ ने पडित जी की साहित्यिक एव सास्कृतिक सेवाओ के भागी प्रकाश डाला औरउनका हार्दिक अभिनन्दन दिनाक २२ जनवरी को एक भव्य समारोह मे किया गया। पडित जी साहब को इस विशेषाक की एक प्रति भेट की गयी।

दीक्षांत भाषण

जुलाई १९६६ मे श्री जैन मुमुक्षु मडल के तत्वावधान मे जयपुर नगर मे धार्मिक शिविर का आयोजन किया गया। इसमे लगभग १०० विद्यार्थियो ने धार्मिक शिक्षण प्राप्त किया। अन्त मे पडित जी साहब ने दीक्षात भाषण देकर नवयुवको को धार्मिक शिक्षा के प्रति अभिरुचि दिखलाने के लिये साधुवाद दिया। राजस्थान जैनसाहित्य परिषद् जयपुर द्वारा आयोजित दीक्षात समारोह की अध्यक्षता भी आपने ही की थी। यह समारोह सितबर सन् १९६६ मे मनाया गया था।

वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ द्वारा अभिनन्दन

दिनाक २६-११-६६ को लाल भवन जयपुर मे वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ जयपुर द्वारा पडित जी साहब का ओजस्वी वक्ता, निर्भीक पत्रकार, साहसी समाज सुधारक, दर्शन, साहित्य एव सस्कृति के मर्मज्ञ के रूप मे स्मरण किया गया।

महा पंडित टोडरमल द्विशताब्दि समारोह

श्री सेठ पूरणचन्द जी गोदीका द्वारा नव निर्मित टोडरमल स्मारक भवन का उद्घाटन, प्रतिष्ठा समारोह एव टोडरमल द्विशताब्दि समारोह का आयोजन दिनाक ६ मार्च १९६७ से १६ मार्च

गया। इस अवसर पर राजस्थान के राज्यपाल से लेकर सामान्य कार्यकर्ता ने अपनी श्रद्धाजलि समर्पित की। वास्तव मे पडित जी पहिले व्यक्ति थे जिनके निधन पर जयपुर नगर मे अनेक शोक सभाये आयोजित की गई हो। २६ जनवरी १६६६ को रात्रि को राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान मे समस्त जैन समाज एव जयपुर के नागरिको की ओर से पडितजी साहब की महान सेवाओ का स्मरण करते हुए उन्हे सादर श्रद्धाजलि अर्पित की गई। राजस्थान विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग एव महाराजा सस्कृत कालेज, जयपुर की ओर से पडित जी की संस्कृत साहित्य के प्रति की गई सेवाओ का स्मरण करते हुए हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित की गई। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी प्रवन्ध कारिणी कमेटी की ओर से उसी रात्रि को शोक सभा आयोजित की गई और पडित जी द्वारा की गयी क्षेत्र की सेवाओ की स्मृति मे 'प० चैनसुखदास स्मृति ग्रन्थ' निकालने का निश्चय किया गया। राजस्थान के नवोदित तीर्थक्षेत्र पद्मपुरा की प्रवन्ध कारणीकमेटी द्वारा अपनी आवश्यक बैठकमे पडितजी की सेवाओ की भूरी भूरी प्रशसा की गई। पडित जी क्षेत्र कमेटी के प्रारम्भ से ही प्रमुख सक्रिय सदस्य रहे। राजस्थान जैन साहित्य परिपद् ने पडित जी साहब के निधन को साहित्यिक क्षेत्र मे एक भारी आघात माना। पडित जी साहित्य परिपद् के पहिले अध्यक्ष एव फिर उसके सरक्षक रहे थे। इसी तरह दिगम्बर जैन शिक्षा परिषद् की प्रबन्ध कारिणी कमेटी ने पडित जी के निधन को समाज के लिये गहरा सकट माना।

दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज की प्रवन्ध कारिणी कमेटी ने उनके ३७ से भी अधिक वर्षो की सेवाओ का स्मरण करते हुए कालेज को वर्तमान रूप देने मे उनके योगदान को याद किया और उनका कालेज भवन मे एक चित्र लगाने का निश्चय किया गया। इसी तरह जैन इतिहास निर्माण समिति जयपुर, वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, जयपुर, आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार (शोध प्रतिष्ठान), दिगम्बर जैन औषधालय, जयपुर, श्री वीर सेवक मण्डल, महावीर दि० जैन बालिका विद्यालय, ज्ञान बाल निकेतन, जैन श्वेताम्बर तेरापथी माध्यमिक विद्यालय, ज्ञान विद्यालय, प्रवन्ध-कारिणी कमेटी दि० जैन मन्दिर ठोलियान, प्रवन्ध-कारणी कमेटी दि० जैन मन्दिर बडा दिवान जी, राजस्थान दि० जैन परिपद, भारत जैन महामण्डल जयपुर शाखा, दि० जैन मुमुक्षु मडल आदि अनेक सस्थाओ ने पडित जी के निधन को देश एव समाज के लिये महान सकट स्वीकार किया।

दिनाक २-२-१६६६ को महावीर पार्क मे एक सार्वजनिक शोक सभा का आयोजन राजस्थान के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री की अध्यक्षता मे किया गया। इसमे जयपुर के प्रमुख नागरिको ने तथा विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने पडित जी के गुणो के प्रति प्रकाश डालते हुए अपनी अपनी हार्दिक श्रदान्जलि समर्पित की गयी।

गुण-पूजा

इस अवसर पर जयपुर के सर्वाधिक लोक प्रिय दैनिक पत्र "राजस्थान पत्रिका" के सम्पादक ने दिनाक २६ जनवरी के अक के सम्पादकीय मे पडित जी के व्यक्तित्व के समबन्ध मे निम्न उद्गार प्रकट किये।

"प० चैनसुखदास के निधन से राजस्थान की विद्वन्मडली का एक बहुमूल्य रत्न जाता रहा है। स्वर्गीय चैनसुखदास उच्चकोटि के विद्वान् शास्त्र मर्मज्ञ, व्याख्याता, वक्ता, लेखक, समाज सुधारक तथा समाज सेवी थे। वह जैन धर्म के अनुयायी थे, परन्तु जैन धर्मावलम्बियो मे आम तौर पर जो धार्मिक कट्टरता पाई जाती है, वह उनमे लेशमात्र

समालोचक, कुशल पत्रकार, प्रभावशाली प्रवक्ता एव सहृदय प्राध्यापक के रूप मे मानते हुए अपनी श्रद्धाजलि समर्पित की। अरगुव्रत एव जैन जगत् के सम्पादक श्री रिषभदास राका ने पडित जी को राष्ट्र एव मानवता प्रेमी बतलाया तथा उन्हे जैन एकता का सच्चा समर्थक कह कर अपनी सादर श्रद्धाजलि समर्पित की। राजस्थान विधान सभा के तत्कालीन अध्यक्ष श्री निरजननाथ आचार्य ने पडित जी के निधन को अपनी व्यक्तिगत क्षति माना। डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने पडित जी को जैन सिद्धान्त का महान् विद्वान् बतलाकर अपनी श्रद्धाजलि समर्पित की। सस्कृत साहित्य मडल नयी दिल्ली ने पडित जी को समाज की अनन्य विभूति स्वीकार किया। अ० भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के मन्त्री श्री बाबूलाल जमादार ने श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए कहा कि उन जैसा उदार नेता, गरीब छात्रो का आश्रयदाता, समाज हित चिन्तक विद्वान् मिलना कठिन है। स्व० डा० नेमिचद शास्त्री आरा ने कहा कि साहित्य निर्माता, प्राध्यापक एव प्रधानाचार्य के रूप मे पडित जी ने अखिल भारतीय जैन समाज की अभूतपूर्व सेवा की है"। डा० रामजीसिंह दर्शन अध्यक्ष विभाग भागलपुर विश्वविद्यालय ने पडित जी के प्रति श्रद्धाजलि समर्पित करते हुए कहा कि पडित जी ने ठीक कर्मयोगी की तरह अपने आपको एक सस्था बना डाला था।

जैन दर्शन के सम्पादक डा० लालबहादुर शास्त्री ने पंडित जी के निधन को विद्वत् ससार की अपूरणीय क्षति माना। राजश्री पिक्चर्स प्राइवेट लिमिटेड बम्बई के श्री ताराचन्द बडजात्या ने पडित जी के निधन को जैन जगत् के लिये महान् क्षति स्वीकार की। तत्कालीन गृहमन्त्री राजस्थान सरकार श्री दामोदरलाल व्यास ने पडित जी को गिने चुने सस्कृत विद्वानो मे से एक मान कर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

इसी तरह देश के सैकडो विद्वानो एवं समाज सेवियो ने पडित जी के निधन पर पडित जी के गुणो को विभिन्न रूपो मे स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि समर्पित की। देश के ऐसे ही सम्माननीय व्यक्तियो मे श्रीमती चन्दाबाई आरा, पं० ब्रजसुन्दर शर्मा भूतपूर्व चिकित्सा एव श्रम मन्त्री, राजस्थान, मूलचन्द जी पाटनी बम्बई, श्री राजकुमारसिंह जी कासलीवाल, इन्दौर, श्री प्रेमचन्द जैना वाच कम्पनी दिल्ली, श्री लाला उग्रसेन जैन कानपुर, डा० वासुदेवसिंह वाराणसी, डा० गोकलचन्द जैन वाराणसी, स्व० श्री अनतराज वैद्य उज्जैन, प्रो० ईश्वरानन्द शर्मा डूगरपुर, डा० महेन्द्र भानावत, उदयपुर, श्री कोमल कोठारी पीपाड शहर, श्री बशीधर शास्त्री कलकत्ता, प्रो० उदयचन्द जैन वाराणसी, पं० गोपीलाल अमर सागर, प० नाथूलाल जी शास्त्री, इन्दौर, सेठ सुनहरीलाल जैन आगरा, श्री महावीरप्रसाद गोधा मिर्जापुर, रमेशचन्द जैन देहली, वाचस्पति उपाध्याय वाराणसी, प्रो० खुशालचन्द गोरेवाला, डा० राजाराम जैन आरा, प राजकुमार शास्त्री निवाई, लाला भगतराम जैन देहली, श्री लालचन्द कासलीवाल कलकत्ता, श्री गजानन्द डेरोलिया श्री महावीरजी, नन्हेलाल शास्त्री राजाखेडा, प० पन्ना लाल साहित्याचार्य सागर, माई दयाल जैन देहली, भंवरलाल सेठी इन्दौर, श्री देवकुमारसिंह इन्दौर, फतहचन्द सेठी, अजमेर, मिलापचन्द रतनलाल कटारिया केकडी, लखमीचन्द चौधरी सोनागिर, डा० कैलाशचन्द जैन उज्जैन, प० परमेष्ठीदास जी जैन ललितपुर, चादमल नलवाड़ी (आसाम), श्री रतनलाल छाबडा टोक, श्री रामचन्द्र जैन श्री गगा नगर, प० दीपचन्द पाड्या केकडी, प्रो० रामावतार शर्मा उदयपुर, सुरेशकुमार जैन गार्गीय पानीपत, प० वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, डा राजकुमार जैन

७. दार्शनिक के गीत   ८ निक्षेपचक्र
९. सयम प्रकाश   १०. पावनप्रवाह

उक्त कृतियो मे जैन दर्शनसार, भावनाविवेक, निक्षेपचक्र पावन प्रवाह एव दार्शनिक के गीत उनकी मौलिक कृतिया है। अर्हत प्रवचन, प्रवचन प्रकाश, सयम प्रकाश एव प्रद्युम्न चरित उनकी सम्पादित कृतिया है। इसी प्रकार सर्वार्थ सिद्धिसार उनकी सक्षिप्त की हुई कृति है। उक्त कृतियो के अतिरिक्त उनके सैकडो निवन्ध, कहानिया, देश एव समाज के जन मानस को आदोलित करने वाले सैकडो सम्पादकीय लेख एव टिप्पणिया उनके महान् एव विशाल कृतित्व शक्ति के परिचायक है। जैन समाज के सामयिक विषयो पर उनके उद्गार जन मानस को आदोलित करने वाले होते थे और वे पाठको के हृदय पर सीधी चोट करते थे। पत्रकारिता उनका स्वाभाविक गुण वन गया था। उनके लेख कल्याण, हिन्दुस्तान दैनिक, साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, राष्ट्रदूत एव राजस्थान पत्रिका आदि मे छपते रहते और इनके माध्यम से वे समाज एव राष्ट्र के बुद्धिजीवियो से सम्पर्क वनाये रखते थे। वास्तव मे एक ही व्यक्ति मे इतने अधिक गुण मिलना सहज सम्भव नही है।

पडित जी स्वभाव से चिन्तनशील थे। जैन दर्शन की अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयरत्नमाला एव समयसार जैसी कृतिया उनके स्वाध्याय का अग वन गयी थी इसलिये जो कुछ वे लिखते, वोलते उन सव मे इन महान् ग्रन्थो की छाया अवश्य दृष्टिगोचर होती थी। भावना विवेक, पावन प्रवाह, दार्शनिक के गीत एव जैनदर्शनसार जैसी कृतियो मे उनका मौलिक चिन्तन मिलता है।

१ जैनदर्शनसार

जैन दर्शन के प्रमुख विषयो पर निवद्ध 'जैन दर्शनसार' पंडित जी की महत्वपूर्ण मौलिक कृति है। जैन दर्शन के सभी गूढ तत्वो को विद्वान् लेखक ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है वह उनके गम्भीर ज्ञान का परिचायक हैं। जैन दर्शन पर अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, सर्वार्थसिद्धि जैसे कितने ही महान् ग्रन्थ उपलब्ध होते है लेकिन वे तो अथाह समुद्र के समान है जिनमे तैरना प्रत्येक पाठक के लिये सहज नही है। इसी दृष्टि को ध्यान मे रख कर पडित जी ने जैनदर्शनसार की रचना की। वास्तव मे जैन दर्शन पर ऐसा सागोपाग ग्रन्थ गत सैकडो वर्षों मे भी नही लिखा जा सका। यही कारण है उसे प्रकाशित होते ही राजस्थान विश्वविद्यालय मे एम् ए. (सस्कृत) के पठ्यक्रम मे स्वीकृत कर लिया गया।

'जैनदर्शनसार' मे चार अध्याय है। प्रथम अध्याय मे जीवतत्व के सम्वन्ध मे प्रकाश डाला गया है। उसके उपयोगमयत्व, अमूर्त्तित्व, कर्त्तत्व, स्वदेहपरिमाणत्व तथा उद्धवगतित्व स्वभाव के सम्वन्ध मे विवेचन किया गया है। इसी अध्याय मे अजीव तत्व तथा उसके प्रमुख स्वरूप पुद्गल द्रव्य के साथ ही मे धर्म, अधर्म, आकाश एव काल द्रव्य पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसी के आगे आस्रव, वध, सवर, निर्जरा एव मोक्ष तत्वो पर महत्वपूर्ण वर्णन मिलता है। इस प्रकार पंडित जी ने एक ही अध्याय मे जैन दर्शन के षड् द्रव्यो एव सात तत्वो का विषद वर्णन करके अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय दिया है।

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय मे जैन धर्म के दार्शनिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है और प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान एवं आगम प्रमाण का स्वरूप एव उनके लक्षण का वर्णन मिलता है। प्रस्तुत वर्णन प्रमेयकमलमार्तण्ड एव अष्टसहस्री मे उपलब्ध वर्णन के आधार पर आधारित है लेकिन पडित जी ने दर्शन शास्त्र के इन

महत्वपूर्ण प्राक्कथन में हिन्दी के आदिकाव्य पर विस्तृत प्रकाश डाला तथा ऐसी अलभ्य एवं अज्ञात कृतियो के प्रकाशन की अत्यधिक प्रशसा की। प्रद्युम्न चरित की दोनो सम्पादको ने खोजपूर्ण प्रस्तावना लिखी जिसमे हिन्दी के आदिकाल के विकास पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जैन विद्वान द्वारा रचित हिन्दी काव्य का ऐसा सुन्दर प्रकाशन श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के साहित्य शोध विभाग की ओर से किया गया। उसके प्रकाशक थे क्षेत्र के तत्कालीन मन्त्री श्री केशरलाल जी बख्शी।

प्रद्युम्न चरित की उपलब्धि एव प्रकाशन का परिचय जब हिन्दी के विद्वानो को मिला तो उसकी सर्वत्र प्रशसा की गयी। हिन्दी के महारथी विद्वान, महापडित राहुल साकृत्यायन, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० रामसिंह तोमर प्रभृति विद्वानो ने ऐसी महत्वपूर्ण कृति का हार्दिक स्वागत किया और उसे हिन्दी जगत् के लिए महान उपलब्धि बतलाया।

३ भावना विवेक

भावना विवेक पंडित जी साहब की मौलिक सस्कृत कृति है जिसमे सोलह कारण भावनाओ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। पूरी कृति मे ३१० पद्य है। पडित जी ने इस कृति को कब पूर्ण की थी इसका तो उन्होने कही उल्लेख नही किया किन्तु यह कृति हिन्दी अनुवाद सहित ३३ वर्ष पूर्व सवत् १९९८ के भाद्रपद मास मे सद्बोध ग्रन्थ माला जयपुर की ओर से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी अनुवादक है प भवरलाल न्यायतीर्थ (जो पडित जी के प्रमुख शिष्यो मे से है) सस्कृत भाषा मे इस प्रकार की कृति प्रथमवार उपलब्ध करा कर पडित जी ने स्वाध्याय प्रेमियो के लिये महान् कार्य किया। इस कृति मे उनकी विद्वत्ता सहज दृष्टव्य है। तथा वह उनकी काव्य निर्माण शक्ति की सहज परिचायक भी है।

'षोडशकारण भावना' से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। जैन समाज मे भाद्रपद मास मे षोडशकरण की प्रतिदिन पूजा की जाती है तथा शास्त्र सभाओ मे उसके महत्व पर प्रकाश डाला जाता है। लेकिन इतना होने पर भी षोडशकारण भावना पर अब तक कोई स्वतंत्र कृति उपलब्ध नही होती थी। पडित जी का इस कमी की ओर ध्यान गया और उन्होने षोडशकारण भावनाओ पर एक स्वतत्र कृति की रचना कर डाली।

४. अर्हत् प्रवचन

यह पंडित जी की सकलित एव सम्पादित कृति है। इसमे प्राकृत भाषा के प्रमुख ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, पचास्तिकाय, द्रव्यसग्रह जैसे कुछ प्रमुख ग्रन्थो मे से भगवान महावीर द्वारा निरूपित सिद्धान्तो पर आधारित प्राकृत गाथाओ का सकलन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के अतिरिक्त गुणस्थान, श्रावक, आत्म प्रशसा, पर निंदा, शील, संगति, वैराग्य, श्रमण, तप आदि कुछ सामयिक विषयो पर निबद्ध महत्वपूर्ण गाथाओ का सकलन किया गया है। गाथाओ के नीचे हिन्दी अर्थ दिया गया है। पडित जी साहब ने इसके सकलन मे पर्याप्त परिश्रम करके पाठको को महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराई है। इस कृति की लोकप्रियता इससे स्पष्ट है कि अब तक देश के कितने ही विश्वविद्यालयो ने इसे पाठ्य पुस्तक के रूप मे स्वीकृत कर लिया है। इसका प्रथम सस्करण सितम्बर सन् १९६२ मे प्रकाशित हुआ था।

५. प्रवचन प्रकाश

'अर्हत् प्रवचन' के सकलन एव सम्पादन के पश्चात् पडित जी ने सस्कृत ग्रन्थो मे से एक और सकलन 'प्रवचन प्रकाश' के नाम से सम्पादित करके उसे २२ नवम्बर ६८ को प्रकाशित कराया। इसमे विविध चरित काव्यो, पुराण सज्ञक काव्यो, स्तोत्रो

किसी को कैसे प्रोत्साहित किया जाता है

प्रो० भागचन्द जैन 'भागेन्दु'

श्रद्धेय प० चैनसुखदास जी के निधन से भारतीय साहित्य और सस्कृति के लिए एक अपूरणीय क्षति हुई है। वे उच्चकोटि के साधक और सरस्वती के आराधक थे। उदारता, सरलता त्याग, कारुण्य आदि सद्गुण उनके माध्यम से मानो मूर्त्तमान हो उठे थे, विद्वत्ता साकर हो उठी थी। उनका दृष्टिकोण बहुत सुलझा हुआ था। वे स्वस्थ, चिन्तक ,कुशलवक्ता, साहित्यकार और कर्तव्यनिष्ठ अध्यापक के रूप मे देखे गये। उनकी सेवाए सभी को सुलभ थी।

कल्पतरु

अनेक ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाए और सस्थाए प० जी के जीवन्त स्मारक तो हैं ही, उनकी प्रतिभा से प्रेरणा, प्रोत्साहन और लाभ प्राप्त करने वाले भी उससे कम नही है। जब कभी जिस किसी के सामने कोई समस्या उपस्थित हुई, प० जी उसके समाधान हेतु सदैव प्रस्तुत रहते थे। अनेक शोधार्थियो को तो वे 'कल्पतरु' थे। प्रोत्साहित करने की क्षमता उनमे अभूतपूर्व थी। उनके एक पत्र ने ही मुझे उनका पूर्ण प्रशसक बना दिया।

अब यद्यपि उनका पार्थिव शरीर शेष नही है, किन्तु उनका अनन्त कृतित्व तो अब भी विद्यमान है, विद्यमान रहेगा। उनके देहावसान से मै बहुत दु खी हू तथा उनके पावन गुणो का स्मरण कर अपनी विनम्र श्रद्धाजलि तथा शतशः प्रणाम उन्हे अर्पित करता हूँ।

(शेष पृष्ठ ३८ का)

सचालन किया वह उनके महान् व्यक्तित्व एव साहस का द्योतक है। उन्होने अपने पत्र मे सामाजिक रूढियो के विरुद्ध खूब लिखा और उनकी हृदय से भर्त्सना की। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियो से समाज के कुछ व्यक्ति नाराज भी रहे किन्तु वे अपने मार्ग से नही हटे और समाज को बराबर सावधान करते रहे। उनके पत्र घाटे मे चलते रहे लेकिन उन्होने पैसे के लिये किसी के सामने हाथ नही पसारे। यह उनके जीवन की सबसे बडी विशेपता थी कि धन के लिये वे कभी भी किसी से दबे नही और न धनिको की व्यर्थ की प्रशसा की। वास्तव मे वे सच्चे रूप मे पत्रकार बने रहे।

इस प्रकार प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने विशाल साहित्य की रचना एव सम्पादन करके तथा सैकडो लेख एव टिप्पणिया लिख कर समाज एव देश को नयी दिशा प्रदान की। पडित जी के देश मे हजारो शिष्य एव प्रशसक थे। वे उनके पास प्राय. आते रहते थे और अपने जीवन विकास के सम्बन्ध मे उनसे परामर्श लिया करते थे। पडित जी के पास आये हुए ऐसे सैकडो पत्र है जिनको पढने से ज्ञात होता है कि वे कितने विद्यार्थियो के जीवन निर्माता थे तथा कितने विद्यार्थी उनसे पत्र व्यवहार करते रहते थे।

थोडे से समय मे आस-पास मे आपकी काफी ख्याति फैल गई।

कुचामन प्रवास

एक बार एक बरात मे आपको कुचामन जाना पड़ा। वहा आपके आगमन से जैन समाज मे हल चल मच गई। एक अल्प वयस्क जैन विद्वान् को पाकर सब आनन्द से उछलने लगे और उन्होने एक विशाल आम सभा का आयोजन कर डाला। उस सभा के अध्यक्ष वहा के माने हुए विद्वान् पण्डित मधुसूदन थे। आपका जैन धर्म पर इतना सुन्दर व्याख्यान हुआ कि वहा की जैनाजैन सब ही जनता प्रभावित हुई और वहा के प्रसिद्ध सेठ गम्भीरमलजी पाड्या ने अपने विद्यालय मे रहने के लिए आग्रह किया और कहा कि मेरे विद्यालय मे प्रधानाध्यापक के पद पर बैठकर सेवा करने का अवसर दे। श्रद्धेय पण्डितजी ने क्षीण मुस्कराहट के साथ अपनी स्वीकृति दी और करीब १३ वर्ष तक आदर्श ढग से विद्यालय की अपूर्व सेवा की। आपका व्यक्तित्व मारवाड प्रान्त के कोने-कोने मे बिखर गया और दूर-दूर से विद्यार्थी आकर आपसे शिक्षण लेने लगे। वहा के बोर्डिग ने एक विशाल रूप ले लिया। पण्डितजी प्रारम्भ से ही कट्टर धार्मिक रहे। आपके जीवन की छाप विद्यर्थियो की आत्मा पर चुम्बक की तरह लगती थी।

आप हमेशा क्रातिकारी पुरुष रहे। उस समय मारवाड प्रान्त मे मिथ्यात्व का बोलबाला था। उसके खिलाफ आपने आवाज उठाई और आपके प्रभाव से समस्त सस्कार जैन विधि से होने लगे। आपने जैनत्व की मारवाड प्रान्त मे अपूर्व रूप से ध्वजा फहराई। आपके पास वही छात्र रह सकता था जो पहले कन्दमूल खाने का त्याग करता था।

श्रद्धेय पण्डितजी ने विद्यालय की सेवाये एक सरक्षक के रूप मे की। कुचामन मे ठीक ४ बजे वे उठ जाते थे। स्वय घटी बजाकर विद्यार्थियो को उठाते थे। स्वय प्रार्थना मे खडे रह कर प्रार्थना करवाते थे और इसके बाद आप सबके बीच मे बैठकर याद करने को कहा करते थे। शाम को शास्त्र सभा मे स्वय बैठकर छात्रो से शास्त्र सभा करवाते थे और उनसे पूछा करते थे कि क्या समझे। रात्रि को १० बजे तक लडको को पढने का आदेश देते थे और कभी-कभी स्वय हाथ मे लाठी टेके-टेके बतौर जाच के पहुंच जाते थे। इसका यह परिणाम निकला कि वहा के छात्र अच्छे से अच्छे विद्वान् निकले जो समाज और धर्म सेवा मे आज भी अग्रसर है।

पण्डितजी अग्रेजी के जानकार नही थे। लोगो को यह मालूम नही था कि ये अग्रेजी नही जानते। एक दिन एक मियाँ तार लेकर आ गया। आपके हाथ मे तार थमा दिया। आप पढ नही सके। मिया को पूछा कोई बीमार था क्या। उसने कहा हा। तो पडितजी ने तुरन्त कह दिया कि वह मर गया। दैवयोग से वह बात ठीक निकली। लेकिन उसके जाने के बाद आपको गहरा पश्चाताप हुआ और तय किया कि मै शीघ्र अग्रेजी पढू। पण्डितजी हमेशा अपने सकल्प के धनी रहे है। और थोडे दिनो मे अग्रेजी के वे अच्छे विद्वान् बन गये।

इन सबके बीच कई बार आपके विवाह के प्रस्ताव आये। आपने मा के आग्रह को भी नही मानकर उन सब प्रस्तावो को ठुकराया। आपका बाल्यकाल से लेकर अन्तिम समय तक सारा जीवन एक साधक के रूप मे बीता। आप आदर्श बाल ब्रह्मचारी रहे। कभी भी विकार की रेखाए युवा-वस्था मे भी आपके चेहरे पर देखने को नही मिली। वास्तव मे उस युग मे पडितजी एक महात्मा के रूप मे रहे और अपने जीवन को बढाया।

जयपुर में पंडित जी के प्रारम्भिक बीस वर्ष

पं० भवरलाल न्यायतीर्थ
सम्पादक वीरवाणी जयपुर

गुरुदेव स्व० चैनसुखदासजी जैन समाज के एक क्रातिकारी सुधारक, अनेको शिक्षा शास्त्रियो के जन्मदाता, अभाव ग्रस्तो के सकट-निवारक, छात्रो के मार्ग द्रष्टा, विधवाओ और भूखो के अन्नदाता, सच्चे सलाहगीर, सस्थाओ के प्राण, साहित्य के उद्धारक, निर्भीक, ओजस्वी वक्ता, कलम के धनी, सरलता, सज्जनता, सादगी और त्याग की मूर्ति, प्रेरणास्पद व्यक्तित्व, दर्शन व सिद्धात के प्रकाड विद्वान, सफल पत्रकार, कुशल सम्पादक आदि अनेक गुण, विभूषित सच्चे मानव थे। उनकी सी सर्वतोमुखी प्रतिभा विरलो मे ही मिलती है। जयपुर जैन समाज मे ऐसा व्यक्ति आचार्य कल्प प० टोडरमलजी के समय से अब तक नही हुआ।

प्रारम्भिक जीवन

राजस्थान के छोटे से ग्राम भादवा मे माघ कृष्णा अमावस्या स० १९५६ मे आपका जन्म हुआ। आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा भादवा व जोवनेर मे हुई। उच्च शिक्षा वनारस मे प्राप्त की। सर्व प्रथम कुचामन विद्यालय मे एक युग तक अध्यापन कार्य किया और वहा से ३० अक्तूवर, १९३१ को स्व० प० जवाहरलालजी शास्त्री की प्रेरणा से जयपुर दिगम्वर जैन महा पाठशाला मे (वर्तमान दिगम्वर जैन सस्कृत कालेज, जयपुर) प्रधानाध्यापक के पद पर कार्य भार सम्भाला। उनसे १-२ नवम्वर सन् १९३१ को लेखक की सर्व प्रथम भेट हुई और अन्तिम भेट २५ जनवरी, १९६९ को। इस ३७ वर्ष के समय मे लेखक को गुरुदेव के चरणो मे वैठकर वहुत कुछ सीखने को मिला पर सच यह है कि हम लोग उतना लाभ नही ले पाये जो लेना चाहिये था। आज उनके चले जाने के वाद यह वात पचासो व्यक्ति महसूस करते है। जयपुर जैन समाज मे आज ऐसा कोई व्यक्ति नही रहा जिस पर सवकी आस्था हो जिसे सव अपना दु ख-दर्द कह सके।

धार्मिक चेतना

पडितजी ने जयपुर आते ही सर्व प्रथम कालेज के वरावर वडे दीवनजी के मन्दिर मे शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और सैकडो श्रोतागण आपकी वाणी को सुनने प्रति दिन आने लगे। ज्ञान पिपासुओ को ज्ञान मिला, छात्रो को सुशिक्षा मिली, युवको को प्रेरणा मिली जिससे उनमे जीवन आया और सुषुप्त शक्ति जाग्रत हुई। शास्त्र स्वाध्याय की परिपाटी जो ढीली पड गई थी पुन तेजी से चलने लगी। इस प्रकार एक धार्मिक चेतना पडितजी ने समाज मे फैलाई।

सस्था उद्धारक

जैन पाठशाला की स्थिति खराव थी। अदम्य साहस और परिश्रम से एक पैसा जमा पूंजी न होते हुए भी पडितजी ने सस्था का सचालन किया। समय पर अध्यापको को वेतन दिया। सस्था से वीसो वर्ष मे जहा एक-दो शास्त्री निकलते थे। वहा सन् १९३१ से अव तक शताधिक स्नातक तैयार हो गये। सस्था को जहा ५०) रु० मासिक सरकारी सहायता मिलती थी वहाँ ढाई-तीन हजार रुपये मासिक सहायता मिलती है। यह प० का ही प्रयत्न है कि अग्रेजी के युग मे भी सस्कृत सस्था की निरतर प्रगति होती रही। पडितजी की यह सवसे वडी देन है और जव तक सस्था रहेगी पडितजी की स्मृति वनी रहेगी।

प्रतिभा के धनी

पं० कैलाशचन्द शास्त्री वाराणसी

स्व० पं० चैनसुखदास जी प्रतिभा के धनी थे। विद्यार्थी जीवन से ही वह तर्कणाशील और व्याख्यानपटु थे। एक पैर से लाचार होने के कारण उनका पूरा समय विद्यालय मे ही बीतता था और उसका उपयोग वह पठन पाठन मे करते थे। पठित ग्रन्थ उन्हे इतनी अच्छी तरह अभ्यस्त थे कि विद्यार्थी जीवन मे ही उन्हे दूसरों को पढाते थे। मैंने आप्त परीक्षा और प्रमेयरत्नमाला का अध्ययन उन्ही से किया था। उस समय वे न्यायतीर्थ की परीक्षा देते थे और मैने इससे पूर्व न्याय का कोई ग्रन्थ नही पढा था। फिर भी उनकी शैली इतनी उत्तम थी कि मुझे उक्त दार्शनिक ग्रन्थो को समझने मे कोई कठिनाई नहीं हुई और मेरी न्याय विषयक व्युत्पत्ति सुदृढ हो गई।

उस समय उनकी अवस्था १९–२० वर्ष के लगभग थी। स्याद्वाद विद्यालय मे बडे–बडे छात्र थे किन्तु वे किसी से डरते नही थे। सस्कृत भाषण मे पटु थे। उनका मौखिक द्वन्द्वयुद्ध भी सस्कृत मे ही होता था।

बनारस से जाने के बाद मेरा उनके साथ निकट सम्पर्क पत्र द्वारा ही रहा। जयपुर मे आने के बाद उनकी प्रतिभा चमकी। उन्होने राजस्थान मे अनेक जैन छात्रो को विद्यादान देकर विद्वान् बनाया। महावीर जी अतिशय क्षेत्र के द्रव्य का उपयोग छात्रवृत्ति और शास्त्रोद्धार मे होने का बहुत कुछ श्रेय उन्ही को हे। वह एक निस्पृह विद्वान थे। किसी से अर्थ की आकाक्षा नही रखते थे। फलत उनका प्रभाव भी विशेप था। सुवक्ता होने से उनकी शास्त्रसभा मे प्रतिदिन अच्छी उपस्थिति होती थी और श्रोतागण उनकी वाणी से प्रभावित थे।

प्रकृति से वह सुधारक थे अत स्थिति पालक पक्ष उन्हे अच्छी दृष्टि से नही देखता था। किन्तु उन्होने इस उपेक्षा की परवाह नही की। जयपुर समाज मे उनका इतना प्रभाव था कि जिस कार्य का वे बीडा उठाते थे उसे सफल करके ही दम लेते थे। यदि वे समाज मे राजस्थान से बाहर भी जा सकते तो उनकी ख्याति और कार्यशीलता मे चार चाद लग जाते।

शरीर से बहुत कृश होने पर भी उनकी आत्मा मे अदम्य शक्ति थी और उसी शक्ति के बल पर वे जीवित रहे। उनके अवसान से विद्वत्समाज की ही नही, पूरे समाज की ऐसी क्षति हुई है जिसकी पूर्ति सम्भव नही है।

पृष्ठ ४४ का शेष—

मित्र थे। पर जब गजराजजी ने सिद्धान्त के विरुद्ध विवाह किया तो उनका बहिष्कार करने मे भी पण्डितजी पीछे नही हटे। सिद्धान्त के अ मित्रता बाधा न बन सकी। ऐसे थे सिद्धान्तवादी पण्डितजी।

इस प्रकार हम देखते है कि पण्डितजी ने धार्मिक, सामाजिक एव साहित्यिक क्षेत्र मे जो क्रातिपूर्ण कार्य किए वे सदा अमिट रहेगे और सदा समाज को प्रेरणा देते रहेगे।

मा सरस्वती के सच्चे उपासक गुरुदेव को मेरा शतश प्रणाम।

एक निरभिमान, सहज व्यक्तित्व

महावीर कोटिया, जयपुर

जर साहित्य से सम्बन्धित कतिपय जिज्ञासाए थी। पडित जी का नाम सुना था, अत. उनके दर्शन करने का निश्चय किया। गलियो मे घूमकर एक एक मन्दिरनुमा भवन मे जैन-सस्कृत कालिज स्थित है। सीढियो से चढकर एक बडा कमरा है, जिसके एक ओर वडी सी मेज के पीछे वैठा हुआ एक अदना सा आदमी दो-तीन विद्यार्थियो को सस्कृत की कोई पुस्तक पढा रहा था। क्या यही प० चैनसुखदास है? नाम बडा पर दर्शन ......? सीधे-सादे सज्जन पुरुष। ईश्वर-कृपा से पगु और कृश शरीर, अति-साधारण वेश भूषा, बातचीत-व्यवहार मे सरलता, सभी प्रकार से सामान्य, वडप्पन जैसी कोई चीज नही। थोडी देर बाद छात्रो से निवृत्त होकर मेरी ओर मुडे। मैने अपनी जिज्ञासाए, समस्याए रखी और उनका सहयोग चाहा। सहज-भाव से उन्होने अपने विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किए, अपना पर्याप्त समय दिया। उनके प्रति स्थायी स्नेह मिश्रित श्रद्धा का भाव हृदय मे घर कर गया। इसके बाद तो उनके निकट-सम्पर्क मे आने का अवसर मिलता गया। अपरिचित से परिचित बन गए। पर उनकी महानता की, उनकी निस्पृह सरलता की, उनके सहज-स्नेह की और इन सवके साथ उनकी विद्वत्ता की जो छाप लगी, वह आज भी मेरे निकट एक धरोहर है।

निरभिमान सहज व्यक्तित्व

मैं आज अनुभव करता हूँ कि पडित जी की महानता का रहस्य उनके निरभिमान सहज व्यक्तित्व मे सन्निहित था। उनकी सादगी, उनकी विनम्रता, अपरिचितो के प्रति भी उनका सहज स्नेह सब उनके सहज व्यक्तित्व से उद्भूत थे। उनके प्रथम-दर्शन की इस पुण्य वेला का उल्लेख मैने इसीलिए किया है कि पंडित जी से मिलने वाला हर व्यक्ति मेरी ही तरह उनकी महानता से प्रभावित होता था।

इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर मिले है, जब कि पडितजी की इस निच्छल सहज प्रकृति के दर्शन हुए है। उनका पुण्य-स्मरण यह याद दिलाता है कि ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को विनम्रता, सादगी, सरलता, सभी के प्रति निष्कपट सहज स्नेह आदि गुणो को अवश्य अपनाना चाहिए। उनके जाने से जयपुर नगर मे जो रिक्तता पैदा हो गई है, उसका समाधान शायद ही हो सके, जब कि पडित जी अपने जीवन भर सभी जिज्ञासु विद्यार्थियो को समाधान सुझाते रहे थे।

सौम्य मूर्ति पडित चैनसुखदासजी
न्यायतीर्थ

जन्म तिथि के अवसर पर लिया
गया पडित साहब का चित्र

पडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ अपने शिष्य परिवार के साथ।

जिनकी स्मृति ही आज हमारा संबल है

पं० भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य

श्रद्धेय गुरुदेव का असामयिक निधन जहा राष्ट्र और समाज की अपूरणीय क्षति है वहा वह बहुत से लोगो की वैयक्तिक क्षति भी है। इन पक्तियो का लेखक भी उनमे से एक है। वे मेरे ज्ञानदाता गुरू ही नही थे, मा की सी ममता और पिता का सा प्यार भी मुझे उनसे मिला था। मेरी व्यक्तिगत कठिनाइयो की जितनी चिन्ता उनको थी और उनको दूर करने मे जितने प्रयत्नशील वे रहते थे मैं नि सकोच स्वीकारता हू कि उतनी मेरे जन्मदाता स्वर्गीय पूज्य पिताजी एव अन्य निकटतम सम्बन्धियो को भी नही थी। उनके चले जाने से आज मैं अपने को नितान्त एकाकी सूना-सूना अनुभव करता हू।

वे सच्चे अर्थो मे महा मानव थे। गृहस्थावस्था मे भी सत थे। मानवता का ऐसा कौनसा गुण था जो उनमे नही था। पर हित निरतता उनमे कूट-कूट कर भरी थी। दीन, अनाथ और असमर्थो के वे मसीहा थे। चारित्र उनका आदर्श और अनुकरणीय था। रहन-सहन सादा, बोलचाल मे नम्र, घमण्ड जिन्हे छू भी नही गया था। "विद्या ददाति विनय" सच्चे अर्थो मे उनके जीवन मे खरी उतरी थे। वे जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनो के भी तल स्पर्शी विद्वान थे। विचारो से वे युगानुसारी थे। उनकी लेखनी और वाणी मे जादू था। शिथिलाचार और रूढियो से उन्होने डटकर लोहा लिया था। बडा से बडा प्रलोभन भी उन्हे अपने आदर्श और कर्तव्यो से च्युत नही कर सकता था। वे आदर्श अध्यापक थे। अपने शिष्यो के साथ उनका पुत्रवत् स्नेह था। उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य था और ज्ञानार्जन मे व्यतीत होता था। वे सच्चे अर्थो मे अभीक्षण ज्ञानोपयोगी थे।

पूज्य गुरुदेव स्वय मे एक सस्था थे। हजारो कन्धे मिलकर भी जिस बोझ के उठाने मे असमर्थ थे उसे वे अकेले उठा रहे थे। उनके निधन से वह बोझ आज हम सब पर पडा है। उसे उठाने की शक्ति और सामर्थ्य हम सबमे उत्पन्न हो, जिस सस्था को उन्होने अपने रक्त से सीचा, परोपकार की जो पावन और निर्मल मदाकिनी उन्होने बहाई, जिस देशघाती और समाजघाती शिथिलचार और रूढियो के विरुद्ध वे जन्म भर अपनी वाणी, अपनी लेखनी और अपनी करनी से लोहा लेते रहे, हम उस सस्था को जीवित रखे उस धारा को सूखने नही दे और क्राति की मशाल को बुझने नही दे। यही उनके प्रति सच्चे अर्थो मे श्रदाजलि है और उनका सच्चा स्मारक है।

जन्मजात शिक्षक

श्री के० माधव कृष्ण शर्मा

जब १६५१ मे, निरीक्षक सस्कृत विद्यालय के पद पर मे जयपुर आया, मैने स्वय को एक विचित्र वातावरण मे पाया। इससे पूर्व मे शोधक्षेत्र मे था, जहा शोध कार्य एवं अध्ययन के साथ साथ मुझे विद्वानो के सम्पर्क तथा मार्ग दर्शन का सौभाग्य प्राप्त था। जब मुझे संस्कृत पाठशालाओ के उन शिक्षको के बीच रहना था, वहा यद्यपि पुरानी परम्परा के कुछ विद्वान पं० जी तो थे किन्तु आधुनिक ज्ञान व शोध से उनका कोई सम्पर्क नही था तथा वर्तमान सस्कृत पीढी प्राय सस्कृत मे ठोस ज्ञान से रहित थी। ऐसे वातावरण मे, मुझे जीवन मे कुछ रिक्तता का आभास सा होने लगा था।

अचानक एक दिन राजकीय कार्यो के दौरान मेरी भेट स्वर्गीय प० चैनसुखदास जी से हुई। यह तो मुझे निश्चित रूप से स्मरण नही कि हम प्रथम बार कब मिले, किन्तु इतना अवश्य प्रतीत हुआ कि मुझे एक ऐसा आदमी मिला है जिसे पाकर मेरे जीवन की इस रिक्तता का एक भाग भर सका है। मुझे उस दिन असाधारण प्रसन्नता का आभास हुआ क्योकि आखिर मैने एक अच्छे विद्वान् को पाया था। ज्यो-ज्यो मैं उनके अधिक सम्पर्क मे आया त्यो त्यो यह आकर्षण बढता गया। मैने उनमे असाधारण गुणो का समन्वय पाया, यद्यपि कालिदास ने कुमार सम्भव मे कहा है कि साधारणतया हम एक ही स्थान पर, एक ही व्यक्ति मे गुण नही पा सकते—

बहुमुखी प्रतिभा

मैने पडित साहब को न केवल एक आदर्श शिक्षक के रूप मैं पाया, अपितु वे एक प्रकाण्ड विद्वान्, शोध-कर्ता, दार्शनिक, कवि, सफल पत्रकार, समाज सुधारक और प्रभावशाली वक्ता भी थे। सच तो यह है कि वे स्वय एक जीवित परम्परा और सस्था के रूप मे थे जहा से बहुत से छात्रो ने ज्ञान, मार्ग दर्शन तथा प्रेरणा प्राप्त की। शिक्षको को आज प्रशिक्षित किया जाता है। पर वे जन्म जात शिक्षक थे जो अध्यापन के लिए जीये न कि अध्यापन के द्वारा। पाश्चात्य दार्शनिक शॉपन होवर ने कहा है कुछ दर्शन के लिए रहते हैं जब कि दूसरे दर्शन के द्वारा"। प० साहब भी अध्ययन अध्यापन के लिये रहे न कि अध्ययन के द्वारा जीवन यापन के लिए। वे विद्या की चारो अवस्थाओ की पूर्ति के एक उदाहरण थे।

विशिष्ट सेवाएँ

सस्कृत शिक्षा और शोध के क्षेत्र मे उनकी विष्टि सेवायें थी। दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज उनकी आजीवन सेवाओ का मूर्तरुप है। वे सस्कृत सलाहकार मण्डल के सदस्य थे। और सस्कृत के क्षेत्र मे उनकी विशिष्टि सेवाओ के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था।

———

(शेष पृष्ठ ५० का)

ऐसे वन्दनीय व्यक्ति का वियोग किसे व्याकुल नही करेगा? इन पक्तियो का लेखक भी उस महान् आत्मा के वरद हस्त से लाभान्वित था। यह व्यक्ति आज जितने अहं मे है, वह सब उन्ही की अनुकम्पा फल है वस्तुत संसार मे साक्षात् ज्ञान की मूर्ति पडित चैनसुखदास सहश महनीय व्यक्तित्व के धारक विरले ही हुआ करते हैं।

———

पं० चैनसुखदास ज्ञानी थे

डा० प्रेमसागर जैन

प० चैनसुखदासजी ने यदि एक ओर धार्मिक ग्रन्थो का तलस्पर्शी अध्ययन किया तो दूसरी मनन और चिन्तन से उसके मर्म को भी समझा। ग्रन्थ पढ-पढ कर पण्डित बनना आसान है किन्तु उसके मर्म का साक्षात् कर लेना उतना ही कठिन है। ऐसा बिरले ही कर पाते है। पण्डितजी उनमे से एक थे। इसी कारण मै उनको ज्ञानी कहता हू। उनके जीवन का प्रत्येक पहलू इस ज्ञान से प्रभावित रहा। शायद यही कारण था कि उन्होने एक शानदार जिन्दगी एव जीवन बिताया—गौरव और स्वाभिमान के साथ। आज वह नही है, किन्तु जीने का एक ढग दे गये है, जिसे हम चाहे तो अपना सकते है।

पण्डित जी सीधा देखते थे तो सही देख पाते थे। उन्होने न कभी टेढा देखा और न गलत देख सके। उन्हे देखने का यह तरीका जैन शास्त्रो से प्राप्त हुआ था। गाधी जी का भी यही ढग था। उन्हे भी जैन माध्यम से मिला था। अन्तर इतना ही था कि गाधी जी ने उसे राजनीति के व्यापक क्षेत्र मे अपनाया, वहा पडित जी समाज तक ही सीमित रहे। ढग दोनो का एक था। इसी कारण दोनो को सफलता मिली। मुझे दु ख है कि आज जैन लोग उस ढग को नही अपना रहे है। यदि अपना पाये तो उनके प्रति जो व्याप्त उपेक्षा है, दूर हो जाये।

आत्मबल के धनी

हर बात को सीधे देखने की नजर अहिंसा और प्रेम से मिलती है। आज जैन समाज के बडे बडे विद्वान् अहिंसा पर साधिकार बोलते है, किन्तु वे उसे अपने जीवन मे एक तिनके के बराबर भी नही उतार पाते। पंडित चैनसुखदासजी उसके प्रतीक ही थे। जो उनके पास गया, उनका हो गया। एक अपग, अशक्त, सूक्ष्म से व्यक्ति, किन्तु आत्मबल के धनी। उन्होने अपने स्व को विस्तार दिया था। एक बार जयपुर पहुच गया। जान न पहचान। पण्डितजी का जो स्नेह मिला आज भी अमृत की बूंदो की तरह सहेजे हू। दूसरो को प्रेम वही दे पाता है, जो भेद-विभेद से ऊपर उठा हो, जिसने अपने पराये का अन्तर मिटाया है। ऐसा व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक होता है। प्रेम के बिना अहिंसा एक सकीर्ण-सी चुभती चली जाती है। उसका कोई मूल्य नही। वह अहिंसा है ही नही।

निर्भीकता

निर्भीकता सम्यक्त्व का पहला गुण है। हर कोई सम्यक्त्व की बात करता है, किन्तु छोटासा भय भी दूर नही कर पाता। भय दूर होता है स्वार्थ-त्याग से और हम स्वार्थ कहा छोड पाते हैं। इसी कारण निर्भीक नही बन पाते। पडित जी मे निर्भीकता थी, ऐसा मै समझ सका हू। वह जैन ग्रन्थो के सतत अध्ययन और मनन से आई थी। मनन के पीछे भी शोध-खोज की सुपुष्ट भूमिका थी। बिना उसके, ग्रन्थो से असली तत्व पा लेना आसान नही है। काल की मोटी तहो ने, विविध सस्कृतियो के आदान-प्रदान ने और मध्यकालीन अनेक बाह्याडम्बरो के प्रभाव ने उसे दबा कर रख दिया है। उसकी असलियत मालूम करने के लिये एक तेज आँख की जरूरत है। ऐसी आख जो मोटी परतो के भीतर तक देख सके। प० चैनसुखदास जी देख पाते थे। वे केवल इस पर विश्वास नही करते थे कि जो कुछ लिखा रखा है, वह सब भगवान की दिव्यध्वनि से नि सृत हुआ था। यह सत्य है कि तीर्थंकर की मूलवाणी मे बहुत कुछ मिलावट हुई,

जयपुर के धीमान ! चैनसुखदास तुम्हारी जय हो

सुधेश जैन नागौद

'जयपुर' के धीमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
हे अनुपम मतिमान। चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।

तुमसे सूना 'जयपुर' अब पर यश तन अमर हुआ है।
और तुम्हारे कारण विश्रुत 'जयपुर' नगर हुआ है ।।
जगा तुम्हारे प्रति आदर है, हर प्रबुद्ध के उर मे।
जो तुम पर श्रद्धालु न ऐसा कौन जैन 'जयपुर' मे ।।
हे सम्मानित विद्वान् चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो ।।१।।

तुम शिक्षक, साहित्यकार थे, पत्रकार थे, कवि थे।
जो अज्ञान-तिमिर हरने को ज्ञान ज्योतिमय रवि थे ।।
तुमने शोध-खोज के कार्यों को सदैव नव गति दी।
'महावीर' जी क्षेत्र समिति को तुमने नव सम्मति दी ।।
मूर्तिमान सद्ज्ञान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान् चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।२।।

जाने कितने श्रेष्ठ गुणो का तुममे रहा समागम।
औ कण्ठस्थ तुम्हे था प्राय सारा प्रमुख जिनागम ।।
विद्यामृत के कोप। वस्तुत, तुम थे विद्यासागर।
विद्यार्थी तव तट पर आकर भरते थे निज गागर ।।
शिक्षा के सोपान, चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।३।।

युग युग तक भी अमर रहेगी तव गौरवमय गाथा।
ओ तव पद युग पर नत होगा भावी-युग का माथा ।।
प्राप्त जिन्हे भी तो होगा तव सत्कार्यो का परिचय।
वे कृतज्ञतापूर्वक तुमको नमन करेगे सविनय ।।
शिष्यो के भगवान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो।
जयपुर के धीमान चैनसुखदास तुम्हारी जय हो ।।४।।

जहा चैनसुख हो ओ तुम अब वही चैनसुख पाओ।
कवि की यही कामना है तुम दिवस रैन सुख पाओ ।।
तव जीवन से नयी प्रेरणा मिले सदा जन-जन को।
तथा मिले प्रोत्साहन आगम के अध्ययन मनन को ।।
निर्मल सम्यग्ज्ञान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो।
'जयपुर' के धीमान चैनसुखदास। तुम्हारी जय हो ।।५।।

सच्ची श्रद्धांजलि

□ पं बंशीधर शास्त्री,

वह दिन मुझे अभी तक याद है जब मेरे स्व० पू० बाबाजी श्री छोगालाल जी २२ वर्ष पूर्व पडित चैनसुखदास जी के पास ले गये थे। मै काव्य मध्यमा एव हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा देने वाला था, आगे क्या पाठ्यक्रम हो इसलिए मुझे उनके पास ले गये थे। उन्होने मुझ जैसे अपरिचित किशोर के साथ भी ऐसे स्नेह से बात की कि मैं भाव विभोर हो गया। उन्होने मुझे न्याय लेने को कहा, मैंने कहा कि किशनगढ (रेनवाल) मे जहा मैं पढता था न्याय के अध्यापन का प्रबन्ध नही है, इसलिए न्याय का अध्ययन सम्भव नही होगा। उन्होने मुझे लेख वगैरह लिखने की भी प्रेरणा दी। मैंने सर्वप्रथम खण्डेलवाल जाति के गोत्रो के सम्बन्ध मे एक लेख लिखा जिसे उन्होने "वीरवाणी" मे अविकल रूप से छाप दिया, इससे मेरा लिखने के प्रति उत्साह बढा।

मैं सन् १९४८ मे जयपुर रह कर अध्ययन करने लगा तब उनसे बराबर सम्पर्क रहा। मैंने देखा कि वे सभी विद्यार्थियो से समान रूप से स्नेह करते थे। वे विद्यार्थी को ज्ञान एव चारित्र के विकास के लिए अधिक जोर देते थे। अध्ययनशील विद्यार्थियो के प्रति उन्हे विशेष प्रेम रहता था। वे उन्हे उच्च कोटि का साहित्य पढने, समाचार-पत्र पढने एव लेख लिखने की बराबर प्रेरणा देते थे।

वे समाज की अविवेकपूर्ण रूढियो कुरीतियो को समाज के लिए अत्यन्त हानिकार समझते थे। अत. इनके विरोध मे वे हमेशा तैयार रहते थे। वे सत्-श्रद्धा विवेक के साथ निर्मल चरित्र मे विश्वास करते थे किन्तु उन्होने चरित्र के नाम पर ढोग का कभी समर्थन नही किया इसी कारण वे कुछ व्यक्तियो के कोपभाजन भी बने रहे किन्तु उन्होने कभी ऐसे कोप की परवाह नही की।

उनकी मृत्यु से २ माह पूर्व मैं उनसे मिला था। तब उन्होने पद्मपुरा मे होने वाली पचकल्याणक प्रतिष्ठा की स्पष्ट शब्दो मे अनावश्यकता बताते हुए असहमति प्रकट की थी। इस असहमति को प्रकट रूप देने के लिए उन्होने पद्मपुरा तीर्थ क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दिया था। जब उनके त्याग पत्र का मेला के निर्णय पर कोई असर नही पडा तब उन्हो ने मुझे लिखा "मैंने क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दे दिया किन्तु प्रतिष्ठा होगी ही। इसको रोकने के लिए जबरदस्त क्रांति की आवश्यकता है"।

●●●

सच्ची श्रद्धांजलि

□ पं बंशीधर शास्त्री,

वह दिन मुझे अभी तक याद है जब मेरे स्व० पू० बाबाजी श्री छोगालाल जी २२ वर्ष पूर्व पडित चैनसुखदास जी के पास ले गये थे। मै काव्य मध्यमा एव हिन्दी प्रभाकर की परीक्षा देने वाला था, आगे क्या पाठ्यक्रम हो इसलिए मुझे उनके पास ले गये थे। उन्होने मुझ जैसे अपरिचित किशोर के साथ भी ऐसे स्नेह से बात की कि मैं भाव विभोर हो गया। उन्होने मुझे न्याय लेने को कहा, मैंने कहा कि किशनगढ (रेनवाल) मे जहा मैं पढता था न्याय के अध्यापन का प्रबन्ध नही है, इसलिए न्याय का अध्ययन सम्भव नही होगा। उन्होने मुझे लेख वगैरह लिखने की भी प्रेरणा दी। मैंने सर्वप्रथम खण्डेलवाल जाति के गोत्रो के सम्बन्ध मे एक लेख लिखा जिसे उन्होने "वीरवाणी" मे अविकल रूप से छाप दिया, इससे मेरा लिखने के प्रति उत्साह बढा।

मैं सन् १६४८ मे जयपुर रह कर अध्ययन करने लगा तब उनसे बराबर सम्पर्क रहा। मैंने देखा कि वे सभी विद्यार्थियो से समान रूप से स्नेह करते थे। वे विद्यार्थी को ज्ञान एव चारित्र के विकास के लिए अधिक जोर देते थे। अध्ययनशील विद्यार्थियो के प्रति उन्हे विशेष प्रेम रहता था। वे उन्हे उच्च कोटि का साहित्य पढने, समाचार-पत्र पढने एव लेख लिखने की बराबर प्रेरणा देते थे।

वे समाज की अविवेकपूर्ण रुढियो कुरीतियो को समाज के लिए अत्यन्त हानिकार समझते थे। अत. इनके विरोध मे वे हमेशा तैयार रहते थे। वे सत्-श्रद्धा विवेक के साथ निर्मल चरित्र मे विश्वास करते थे किन्तु उन्होने चरित्र के नाम पर ढोग का कभी समर्थन नही किया इसी कारण वे कुछ व्यक्तियो के कोपभाजन भी बने रहे किन्तु उन्होने कभी ऐसे कोप की परवाह नही की।

उनकी मृत्यु से २ माह पूर्व मैं उनसे मिला था। तब उन्होने पद्मपुरा मे होने वाली पचकल्याणक प्रतिष्ठा की स्पष्ट शब्दो मे अनावश्यकता बताते हुए असहमति प्रकट की थी। इस असहमति को प्रकट रुप देने के लिए उन्होने पद्मपुरा तीर्थ क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दिया था। जब उनके त्याग पत्र का मेला के निर्णय पर कोई असर नही पडा तब उन्हो ने मुझे लिखा "मैंने क्षेत्र कमेटी से त्याग पत्र दे दिया किन्तु प्रतिष्ठा होगी ही। इसको रोकने के लिए जबरदत क्राति की आवश्यकता है"।

●●●

प्रौढ विद्वान्

☐ सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ समाज के उन शिरोमणि विद्वानो मे से थे जिन्होने समाज के निर्माण मे उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया है। पडित जी साहब की सेवाएं समाज के सीमित क्षेत्र मे ही नही रही अपितु उन्होने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म, समाज तथा देश सेवामय बना लिया था। जयपुर के साथ उनका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध था, वहा उनका प्रत्येक क्षेत्र मे सदैव अग्रणी स्थान रहा।

पडित जी दिगम्बर जैन सस्कृत कालेज के एक मात्र उन्नायक थे। कालेज के माध्यम से शिक्षा जगत को उनकी सदैव अविस्मरणीय सेवाए प्राप्त हुई। यही कारण है कि कुशल शिक्षा शास्त्री के रूप मे राष्ट्रपति पुरस्कार से समादृत होने वाले समाज मे वे प्रथम प्रज्ञापुरुष थे।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

विद्वानो के जन्मदाता पडित जी के मार्गदर्शन मे अनेक अनुसधित्सुओ ने पी० एच० डी० आदि की उपाधिया प्राप्त की। अनुसंधान तथा प्राचीन वाड्मय के शोध खोज की दिशा मे आपकी रुचिपूर्ण अनेक उपलब्धिया रही। श्री महावीर जी क्षेत्र के अन्तर्गत शोध विभाग का प्रारम्भ आपकी ही सफल प्रेरणा से हुआ। आपकी अनेक मौलिक कृतिया भी इस दिशा मे समाज की धरोहर हैं।

पडित जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा वाणी ओजस्वी थी। वे निर्भिक वक्ता, मनीषी, साहित्यकार, कुशल पत्रकार, सुयोग्य सम्पादक, कर्मठ अध्यापक तथा सफल शिक्षा शास्त्री के रूप मे सदैव अविस्मरणीय रहेगे। एक ओर जहा शिक्षा जगत उनकी अनुपम सेवाओ के लिये स्मरण करेगा वहीं दूसरी ओर समाज उनको कुशल उपदेष्टा तथा मार्गदर्शक के रूप मे विस्मृत न कर सकेगा। पाक्षिक पत्रिका 'वीरवाणी' के माध्यम से २१ वर्ष तक अपने समाज को अनवरत मार्गदर्शन प्रदान किया। उनकी लेखन शैली प्रभावक एव सशक्त तथा सम्पादकीय सामयिक, निर्भीक एव प्रेरक होते थे।

दिवगत पडित जी का निधन समाज की अपूरणीय क्षति है। मैं अपने हार्दिक श्रद्धा-सुमन स्वर्गीय आत्मा को समर्पित करता हू तथा विश्वास करता हूँ कि समाज उनके कृतित्व से प्रेरणा प्राप्त करेगा।

आजीवन स्मरणीय

★ प्रो० अमृतलाल जैन दर्शनाचार्य, वाराणसी

श्रद्धेय कविरत्न प० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, अध्यक्ष जैन, कालेज, जयपुर का नाम प्रथमत मुझे मासिक पत्र 'जैन दर्शन' से ज्ञात हुआ था, जिसके आप प्रधान सम्पादक थे। उसमे प्रकाशित भावपूर्ण हिन्दी सस्कृत कविताओ और विद्वतापूर्ण लेखो के जो आपकी लेखनी से अनुस्युत रहते थे, अध्ययन ने मेरे हृदय मे आपके प्रति श्रद्धा उत्पन्न कर दी। न केवल विशिष्ट छात्र, बल्कि वरिष्ठ अध्यापक भी समय समय पर आपके लेखो व कविताओ की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा किया करते थे। फलत आपके दर्शनो की अभिलाषा हुई। सोचता रहा जैन समाज मे अन्य विद्वानो की भाति कभी आप भी काशी पधारेंगे तो अनायास ही अभिलाषा की पूर्ति हो जायगी, पर ऐसा न हो सकेगा।

जहा तक स्मरण है सन् १९५७ मे ग्रीष्मावकाश के समय मुझे केकडी जाना पडा। वहाँ भी श्रीमान् पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया आदि प्रखर समालोचक विशिष्ट विद्वानो से आप के वैदुष्यकी भूरी-भूरी प्रशसा सुनी। विचार किया कि लौटते समय आपके दर्शन अवश्य करूगा।

सम्भवत २० जून १९५७ को जयपुर पहुचा। एक जैनेतर धर्मशाला मे सामान रख कर आपके पास गया। उस समय आप कुछ जिज्ञासु ज्ञान पिपासु सज्जनो को पाणिनीय व्याकरण पढा रहे थे, यद्यपि ग्रीष्मावकाश के कारण कालेज बन्द था। मिलते ही आपने पूछा—सामान कहा है ? मैने कहा धर्मशाला मे। तुरन्त ही उन्होने वहा से सामान मंगवा लिया और अपने पास जैन कालेज मे ही ठहरा लिया, जहा वे चौबीसो घण्टे रहा करते थे। आप केवल भोजन के लिए हि प्रतिदिन दो वार घर जाते थे। मुझे भी वे प्रतिदिन दोनो समय भोजन कराने के लिए अपने ही घर लिवा जाते थे।

मुझे 'नेमिनिर्वाणम्' महाकाव्य के कुछ सदिग्ध स्थलो का मिलान करने के लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो की आवश्यकता थी। आपने अपने स्थानीय शास्त्र भण्डारो से उन्हे शीघ्र ही मंगवा दिया। उन्ही के कमरे मे बैठकर मैं एक सप्ताह तक प्रतियो का मिलान करता रहा और वे अपने कार्यो में व्यस्त रहे।

मैं एक सप्ताह पास मे रह कर अपना जो अध्ययन किया उसके आधार पर यह समझा कि आप अनुपम आदर्श विद्वान् हैं। असाधारण अनेक विशेषताओ के कारण आप आजीवन स्मरणीय हैं।

●●●

सुरज्ञानीचन्द न्यायतीर्थ

मेरे जीवन निर्माता

पूज्य पडितजी साहब का आशीर्वाद मुझे मेरे बचपन से ही मिलने लगा था। जब वे जयपुर आये तब मैंने महापाठशाला मे प्रवेश लिया ही था। धीरे-धीरे सम्पर्क मे आता गया और प्रवेशिका श्रेणी मे आने के पश्चात् तो मेरी गणना उनके प्रिय शिष्यो मे होने लगी। उन्होने मुझे न्यायतीर्थ की उपाधि परीक्षा दिलायी। मैं दिन मे दुकान पर बैठता और प्रात एव रात्रि को उनके पास पढता पडितजी के आशीर्वाद से मुझे न्यायतीर्थ मे प्रथमबार ही सफलता प्राप्त हुई उसके पश्चात् उनके स्नेह मे बराबर वृद्धि होती रही। और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा। मेरे लघु भ्राता चिरंजीलाल को उन्होने दर्शनाचार्य कराया। इस प्रकार हमारे पूरे परिवार पर उनकी असीम कृपा रही। जब कभी हमारे सामने कोई समस्या आती हम उनके पास चले जाते और अपनी पूरी राम कहानी सुना कर उनके मार्ग दर्शन की प्रतीक्षा करते और जैसा भी वे कहते उसी के अनुसार हम लोग बढते। मुझे सामाजिक क्षेत्र मे काम करने की प्रेरणा उन्होने ही दी और जब तक वे जीवित रहे मुझे बराबर किसी न किसी सस्था मे कार्य करने का अवसर देते रहे। साहित्य क्षेत्र मे कार्य करने के लिये भी वे बराबर प्रेरित किया करते। वास्तव मे वे मेरे जीवन निर्माता थे।

पडित जी सा० मेरे गुरु थे यह मेरे लिये गौरव है। मै उनके सानिध्य मे कितने ही वर्षो तक रहा और जीवन निर्माण की मजिल को ओर बढता रहा। आज मै जो कुछ हूँ वह सब उन्ही के आशीर्वाद का सुफल है। वे क्रान्तिकारी विद्वान् थे इसलिये देश एव समाज मे व्याप्त बुराइयो के विरुद्ध जीवन पर्यन्त सघर्ष करते रहे। उन जैसा कर्मठ नेता कभी कभी ही हुआ करते हैं। मैं अपनी अनन्त भावनाओ से उनके चरणो मे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

कपूरचन्द पाटनी

स्वनाम धन्य पूज्य पंडित साहब

सनत्कुमार जैन

पूज्य गुरुदेव कविरत्न प० चैनसुखदास जी को दिव गत हुए करीब ७-८ वर्ष होने को आये किन्तु ऐसा आभास होता है कि वे आज भी हमारे सामने मोजूद है और हमे कुछ आदेश दे रहे है। जिस समय वे जयपुर की दि० जैन महापाठशाला मे पधारे उस समय मै प्रवेशिका मे पढता था। सम्मवत वह वर्ष सन् १६३१ था और मेरी आयु उस समय १४ वर्ष की थी। उस समय उपाध्याय परीक्षा मे सर्वार्थसिद्धि और न्याय सिद्धान्त मुक्तावली भी पढाई जाती थी। सर्वार्थसिद्धि आप हमे पढाया करते थे। तभी आप ने हम लोगो को कलकत्ता यूनिवर्सिटी की परीक्षाओ मे बिठाने का सिलसिला चालू किया और उसके परिणाम स्वरुप सर्वप्रथम न्यायतीर्थ परीक्षा पास करने का सौभाग्य प० भंवरलाल जी, प० मिलापचन्द जी और प० कैलाशचन्द जी को मिला। इसके बाद तो प्रतिवर्ष न्यायतीर्थ निकलते ही रहे। अभी हाल मे आपके दो प्रमुख शिष्य प० भवरलाल जी न्यायतीर्थ एव डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल क्रमश समाजरत्न एवं इतिहासरत्न की उपाधि से अलकृत किये जा चुके है।

आपके निधन से जो समाज की क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना असम्भव है। उनकी शिक्षाओ को यदि हम शताश मे भी अपने जीवन ने उतार सके तो उनकी आत्मा को असीम शन्ति होगी इसमे कोई सन्देह नही है।

(शेष पृष्ठ ६७ का)

दिन के अवसर पर उन्हे अभिनन्दन ग्रंथ तथा एक अच्छी राशि भेंट करने का सकल्प किया था। इस सम्मान को प्राप्त करने के लिए पडितजी जीवित नही रह सके। एक ज्ञान का पुंज बुझ गया।

स्पष्टवादिता स्वर्गीय पडितजी का विशेष गुण था जिसे उन्होने कभी नही त्यागा। जैन दर्शन का शोध सम्बन्धी उनका कार्य अभी चल रहा है। समाज सुधार की जो जागृति जयपुर जैन समाज मे आई थी पडितजी के बिना उसका कार्य अपेक्षाकृत अधूरा रह गया है। उनके देहावसान पर हुई शोक सभाओ मे पडितजी का प्रेरणा योग्य स्मारक बनाने का निश्चय हुआ है। आडम्बरो से सदा ही दूर रहने वाले इस मूक और दृढ निश्चयी, समाज सेवी का स्मारक पत्थर का बुत नही बन कर जीता जागता विद्या मन्दिर, सस्कृति केन्द्र अथवा सरस्वती का आराधना स्थल बने जहा हर ज्ञान का प्यासा अपनी ज्ञान पिपासा को शात करने के लिए अनुकूल वातावरण, साधन और सुविधा प्राप्त कर सके तो यह निश्चिय ही पडित जी के लिए सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

सामाजिक शक्ति और शोभा के प्रतीक

डा० कपूरचन्द जैन

मैंने उनसे एक प्रसंग मे एक प्रश्न पूछा— "आप गाधीवादी विचारो के व्यक्ति है फिर सामाजिक दायरे से ऊपर क्यो नही उठते ?" उन्होने कहा प्रश्न तुम्हारा वजनदार है। गाधीवादी दृष्टि एक अच्छाई का नाम है। जैन धर्म मे अपरिग्रहवाद उससे ऊची और स्थायी व्यवस्था है। यदि मैं गाधीवादी हू तो इसका यह अर्थ तो नही है कि मैं जैन धर्म से हट जाऊ। जैन धर्म गाधीवादी से अधिक व्यापक है जैन धर्म कतई साम्प्रदायिक नही है। सच तो यह है कि लोगो ने गलत समझा है। इसीलिए लोग सामाजिक कार्यकर्ता को सीमित दायरे का आदमी मान लेते है। मनुष्य को सेवा का काम अपने घर से ही शुरू करना चाहिए। धीरे-धीरे उसका क्षेत्र बढता जाता है फिर वही अखिल भारतीय स्तर का कार्यकर्ता हो जाता है। जैन धर्म को सीमित दायरे मे रखने की भूल हमे हमेशा दुख देने वाली साबित होगी। मेरी मशा यह है कि जैन धर्म की व्यापक और सर्वाधिक जानकारी के लिए हमारे विद्वानो को अनेक भाषाओ का विद्वान् होना चाहिये तभी वे प्रभावशाली ढग से धर्म के मर्म को लोगो तक पहुंचा सकते हैं।

मै अनुभव करता हू कि पडितजी की मशा यदि बहुभाषाविद विद्वानो के सृजन की पूरी होती है तब निश्चय ही जैन धर्म का उत्कर्ष और उसकी व्यापकता बढने मे कोई सदेह नही है।

विशिष्ट व्यक्तित्व—

वे एक स्नेही पिता, कठोर अनुशासक तथा गरिमामय गुरु के रूप मे छात्रो के हृदय मे आजीवन प्रतिष्ठित रहे। नि सन्देह पडितजी के आचार-विचार और व्यवहार से सामाजिक शक्ति मे वृद्धि हुई और उनके हर कदम से समाज की शोभा बढी है।

दिशा–बोध—

वैसे तो समूचा देश ही पडितजी से उपकृत और अनुप्राणित हुआ है। राजस्थान के होते हुए भी उन्होने सभी प्रान्तो के विद्यार्थियो को न केवल दिशा–बोध ही दिया है बल्कि उन्हे आर्थिक सुविधाऐ भी जुटाई है। उनके सहयोग का अवलम्ब पाकर कितने ही छात्र आज प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत कर रहे है।

बुन्देल खंड के सैकडो छात्रो को पंडितजी ने जीविका की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए जैन सस्कृत कालेज, जयपुर मे आयुर्वेद विभाग की स्थापना की। विभाग की स्थापना करके ही वे सन्तुष्ट नही हुए उन्होने छात्रो को छात्रवृत्तिया दिये जाने की भी व्यवस्था कराई। इस प्रकार छात्रो के पंडितजी सब कुछ थे। उनके उठ जाने से सम्पूर्ण समाज की महान् क्षति हुई है लेकिन बुन्देल खड का तो सहारा ही टूट गया है

———

विविध गुणों के धनी

श्री घनश्याम गोस्वामी सहायक
निदेशक-सस्कृत शिक्षा, जयपुर ।

राजस्थान की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने जहा विश्व प्रसिद्ध शूर वीरो और योद्धाओ को पैदा किया है, वहा उसकी कोख से महान साहित्यकारो कवियो, तन्त्र-मन्त्र शक्तियो, ज्योतिषियो, धर्मोपदेशको और भक्तो ने जन्म लिया है ।

महाकवि माघ से लेकर स्व० श्री मधुसूदनजी ओझा, श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, भट्ट श्री मथुरानाथ शास्त्री तक कई प्रतिभाओ ने इस राजस्थान मे देव वाणी के स्वरूप को सवारा और समृद्ध किया है । स्वर्गीय श्री चैनसुखदासजी देववाणी की इसी आराधना परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कडी थे । वैयक्तिक सुख-सुविधाओ का परित्याग करके ऋषिवत साहित्य और शास्त्रो की विशाल वारिधी मे अवगाहन करने वाली विभूतिया विरली ही होती है । श्री चैनसुखदासजी राजस्थान की ही नही अपितु भारत की ऐसी ही विभूतियो मे से थे । वे आजीवन सस्कृत साहित्य के अध्ययन, अध्यापन और सृजन मे सलग्न रहे । शारीरिक बाधा के बीच भी उन्होने जो सस्कृत की सेवा की है वह अविस्मरणीय है । अध्यापन एव धार्मिक उपदेशो के माध्यम से उन्होने अनेको व्यक्तियो का निर्माण भी किया । उनकी सृजन शक्ति ने उन्हे अमरत्व प्रदान किया है ।

उन्होने आजीवन भारतीय सस्कृति की सेवा मे निरन्तर रहकर एक अद्भुत आदर्श को देश के समक्ष रखा और मार्ग दर्शन कराया । आपकी व्याख्यान शैली बहुत ही सरल एव मनोहर थी ।

विविध विषयो के गहन अध्ययन के कारण उनकी अध्यापन शैली मे एक समन्वयात्मक प्रवाह था । विद्यार्थी उन्हे आदर्श अध्यापक समझते थे और थे भी । पण्डितजी अपने पास अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र की मनोदशा एव वाह्य परिस्थिति से पूर्ण परिचित रहते थे तथा उनकी सहायता के लिए सदा सर्वदा तैयार रहते थे ।
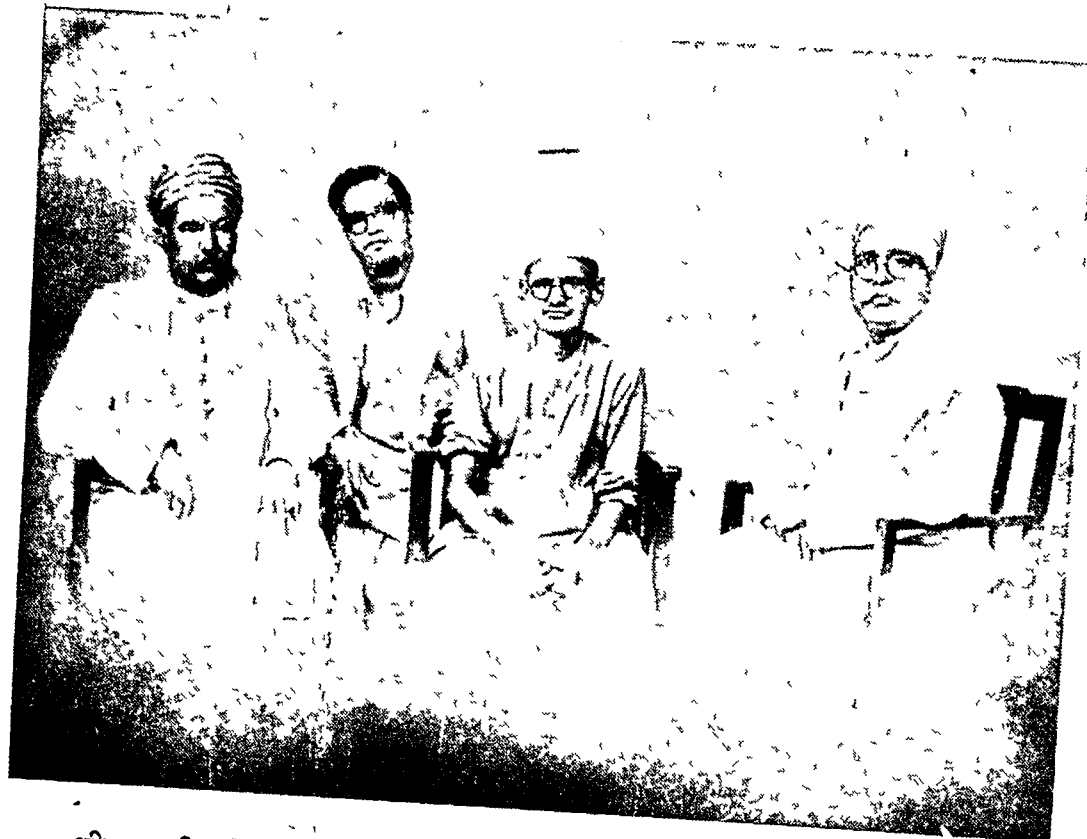
श्री महावीर क्षेत्र कमेटी के मन्त्री स्व. श्री रामचन्द्रजी खिन्दूका एव स्व श्री सेठ बधीचन्दजी गंगवाल के साथ पडित चैनसुखदास जी ↑

पूज्य पंडितजी के अन्तिम दर्शन

खण्ड २

धर्म एवं दर्शन

१
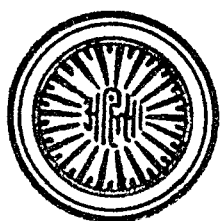
निश्चय और व्यवहार

☐ डा० कमलचन्द सोगाणी, उदयपुर

विश्व के धार्मिक इतिहास मे ऐसे अनेको व्यक्ति हुए है जिन्होने आध्यात्मिक अनुभव को जीवन का चमोत्कर्ष स्वीकार किया है। ऐसे व्यक्ति किसी देश, जाति, समाज आदि के बंधन से बधे हुऐ नही है। विभिन्न वातावरण, विभिन्न देशकाल, विभिन्न धर्म सम्प्रदायो मे उत्पन्न व्यक्तियों ने एक ही प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवो की घोषणा की है। इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभव वैज्ञानिक अनुभव की भाति मानव जाति की सम्पत्ति है। इन आध्यात्मिक अनुभव करने वालो को विभिन्न नामो से अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ योगी, सन्त, तीर्थकंर, केवली, बोधिसत्व, सूफी शुद्धोपयोगी, अर्हत्, स्थितप्रज्ञ इत्यादि। सभी योगियो तीर्थकरो आदि ने उस अनुभव को परामानसिक एव इन्द्रियातीत घोषित किया है। उसे एक अपूर्व अन्तर्द्रष्ट्यात्मक अनुभव कहा गया है। भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक समस्या है। मौन के द्वारा ही वह उत्तम रुप से अभिव्यक्त हुआ है। वह अनुभव शान्त एवम् नि शब्द है। पर जब इस अन्तर्द्रष्टायत्मक आध्यात्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है तो हम तुरन्त मानसिक बुद्ध्यात्मक स्तर पर उतर आते है। बुद्धि के द्वारा उसको समझने का प्रयास प्रारम्भ होता है। बुद्धि विश्लेष्णात्मक होती है। वह दृष्टियो के माध्यम से अनुभव को पकडना एव अभिव्यक्त करना चाहती है। वह इस अनुभव को दूसरो के लिये बुद्धिगम्य बना देना चाहती है। बौद्धिक स्तर अनुभव को सामाजिक बनाने का प्रयास है। इस प्रयास मे अनुभव अपनी मौलिकता खो देता है फिर भी वह एक अर्थ मे सामाजिक बन जाता है। बुद्धि प्रत्ययो के माध्यम से कार्य करती है। इस लिए वह आध्यात्मिक अनुभव के खण्ड-खण्ड कर देती है। पर मानव के पास इस अनुभव को दूसरो तक पहुचाने का बुद्धि और भाषा के अतिरिक्त और कोई माध्यम भी तो नही है। अनुभव के सामाजीकरण के लिए बुद्धि और प्रत्यात्मक भाषा एक मात्र शरण है। जैन दर्शन मे उस आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने के लिये जिस शैली का उपयोग किया गया है उसे हम "नय" शैली कहते है। और जिन नयो का उपयोग किया गया है उन्हे हम निश्चय नय और व्यवहार नय कहते है। पर यह ध्यान रहे कि अनुभव इन दोनो नयो से अतीत है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है: " नय पक्ष से रहित जीव आत्मा का अनुभव करता हुआ दोनो नयो के कथनो को मात्र जानता है। और उन्हे किंचित् मात्र भी ग्रहण नही करता (समयसार १४३) इसका अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक अनुभव नयातीत है।

जैन दर्शन की यह नय शैली उसके अनेकान्तवाद का परिणाम है। वस्तु के स्वरुप को कहने के

होती है। जैन दार्शनिको ने आध्यात्मिक तत्वो की व्याख्या के लिए इन दोनो नयो का उपयोग किया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र की व्याख्या इन दोनो नयो की शैली पर की गई है। इसी कारण इन तीनो की व्याख्या सर्वदेशीय और एक देशीय बन गई है। जैसे सम्यग्दर्शन को लीजिए। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है किन्तु व्यवहार नय के दृष्टि से सम्यग्दर्शन की व्याख्या अलग-अलग समयो मे अलग अलग कर दी गई है। कभी कहा गया है सात तत्वो का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, कभी कहा गया है देव-शास्त्र, गुरू का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार निश्चय नय से सम्यक्चारित्र का अभिप्राय है आत्मा मे रमण। व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या शुभ-अशुभ भावो पर आश्रित होने के कारण परिवर्तनशील है। शुभ अशुभ भाव पर की अपेक्षा रखते है तथा सामाजिक मूल्यो पर उनकी व्याख्या आश्रित होती है। सामाजिक मूल्य सार्वकालिक नही हो सकते हैं इसलिये व्यवहार नय से सम्यक्चारित्र की व्याख्या भी सार्व कालिक नही हो सकती। कभी हमे चारित्र के बाह्य पक्ष को पकडना पडता है और कभी अन्तं पक्ष को। इसलिये व्यवहार की व्याख्या परिवर्तनशील ही होती है। निश्चय नय की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का अर्थ है आत्मज्ञान, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से परवस्तु का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। इस तरह से निश्चय नय परिवर्तनशील व्याख्याओ को स्वीकार न कर अपरिवर्तनशील व्याख्याओ का हामी होती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यवहार नय निश्चय नय की दृष्टि को हृदयगम कराने वाला होता है। जिन लोगो को निश्चय नय का कथन बुद्धिगम्य नही होता और इस कारण वे उस मार्ग का अनुसरण नही कर सकते उनके लिए व्यवहार नय उपयोगी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते है कि अज्ञानी जीवो को समझाने के लिए व्यवहार नयका उपयोग किया जाता है (पुरुषार्थ सिद्धचुपाय) जैसे किसी व्यक्ति को शुद्धोपयोग की बात समझ मे न आए तो उसको शुभ-अशुभ भावो के माध्यम से समझाने का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार व्यवहार नय निश्चय नय का निमित्त बन सकता है। लेकिन यदि कोई व्यक्ति व्यवहार नय मे ही अटक जाय और उसी को अंतिम मान ले तो वह व्यवहाराभासी कहलायेगा। ऐसे व्यक्ति धर्म के सार्वभौमिक तत्व के जाने बिना धर्म के बाह्य रूपो से ही सन्तुष्ट हो जाते है। वास्तव मे देखा जाय तो व्यवहार नय उसी समय व्यवहार नय होता है जिस समय वह निश्चय नय की ओर दृष्टि को मोडने वाला बने अन्यथा वह व्यवहाराभास ही है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को विचारे बिना निश्चय नय की दृष्टि से अपने को शुद्ध मान बैठे और शुभ भावो को बन्ध का कारण जानकर हेय कह दे तो वह व्यक्ति निश्चयाभासी होगा। निश्चय दृष्टि को व्यवहार की अपेक्षा है तो व्यवहार दृष्टि को निश्चय की।

ये दोनो नय अध्यात्म के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योकि मनुष्य आत्मानुभव पर तुरन्त ही छलाग नही लगा सकता। वह शनै शनै ही उस ओर अग्रसर होता है। ऐसे समय मे निश्चय नय उस दिशासूचक यन्त्र की भाति होता है जो सही दिशा मे चलने की प्रेरणा देता रहता है और व्यवहार नय को अपने ऊपर हावी नही होने देता। व्यवहार को निश्चय का अनुगमन करने वाला बनाये रखता है। यदि यह कहा जाय कि निश्चय के बिना व्यवहार अधा है और व्यवहार के बिना निश्चय कोरा काल्पनिक है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। मानसिक स्तर पर वे दोनो परस्परापेक्षी है। जैसा कहा जा चुका है अनुभव स्तर पर न निश्चय है और न व्यवहार।

आत्मा घट, पट, रथ इत्यादि वस्तुओ को और क्रोधादि कर्मो को करने वाला है। यदि इसी को निश्चय से मान लिया जाय तो यह आत्मा पर द्रव्यमयी बन जायेगा। निश्चय दृष्टिकोण से शुभ अशुभ भावो का कर्ता और भोक्ता आत्मा नही हो सकता। वह तो केवल शुद्ध भावो का ही कर्ता हो सकता है, क्योकि उसी से उसकी तन्मयता सम्भव है। अत कहा जा सकता है कि आत्मा अपने को ही कर्ता है और अपने को ही भोक्ता हैं अन्य को नही (समयसार ८३) इसका अभिप्राय यह नही है कि राग-द्वेष आदि परिणामो का उत्तरदायित्व जीव पर न हो। जीव अनादि काल से कर्मो से बंधा हुआ है, इसलिये कर्मो का निमित्त पाकर राग-द्वेषादि परिणाम जीवो के होते है इस बात से इन्कार नही किया जा सकता। बात यह है कि जिस भूमिका मे जीव होता है उस सबधी भावो का कर्ता व भोक्ता होता है। कहा हैं अज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते है (समयसार १३०,१३१)।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पुण्य और पाप पर भी विचार किया जा सकता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि अहिंसा आदि व्रतो का धारण करना पुण्य है तथा क्रोध, मान माया लोभादि कषायो के वशीभूत होकर नाना प्रकार के हिंसादि कुकर्म करना पाप है। इन्ही को शुभ-अशुभ कर्म भी क्रमश कहा जाता है। चारित्र के क्षेत्र मे अशुभ तो त्याज्य है ही। उसके लिये तो कोई स्थान है ही नही। पर शुभ ग्रहण करने योग्य हैं। अध्यात्म मे प्रश्न यह है कि क्या निश्चय दृष्टिकोण से शुभ को ग्राह्य कहा जाय ? जब यह प्रश्न उठता है तो आचार्य कुन्दकुन्द कहते हे कि पुण्य भी एक सोने की बेडी है (समयसार १४६) इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिये कि शुभ कर्म जीवन मे पूर्णतया हेय है। जब तक मनुष्य आत्मानुभव की भूमिका पर अवस्थित नही होता तब तक शुभ कर्म उपादेय है। उस भूमिका को प्राप्त करने के पहिले ही यदि शुभ कर्मों को हेय मान लिया जायगा तो व्यक्ति अशुभ से बचने के लिये किसका सहारा लेगा। इससे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि वह शुभ करते करते शुद्ध को प्राप्त हो जायगा। शुद्ध भावो की प्राप्ति तो शुद्ध भावो से ही होती है शुभ से कही। दूसरे शब्दो मे, निर्विकल्प अवस्था की प्राप्ति सविकल्प अवस्था से नही हो सकती। सम्भवतया इसी बात को ध्यान मे रखकर आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा "प्रतिक्रमण, निन्दा आदि विष-कुंभ हैं" (समयसार ३०६) यदि इस बात को सुन कर कोई आत्मा बिना शुद्ध मे स्थित हुए शुभ को छोड दे तो ध्यान रहे वह आत्मा अशुभ मे चला जायगा। इसलिये सामान्य जीवो के लिये शुभ ही एक मात्र सहारा है। जहा-जहा शुभ को व्यवहार कह कर त्याज्य कहा गया हे वहा वहा निश्चय की अपेक्षा ही ऐसा है।

जैन दर्शन मे निश्चय और व्यवहार के इस विवेचन के पश्चात् हमे यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार का इससे क्या भेद है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही परमार्थ रूप से सत्य है, भौतिक तत्त्व व्यवहारिक रूप से सत्य है। इस तरह यहा सत्ता के परमार्थ और व्यवहार रूप से भेद है। जैनो का व्यवहार नय वस्तुओ की सत्ता को नही छूता है। वह तो केवल आत्मा के पतन की ओर सकेत करता है और निश्चय नय उच्चतम अवस्था तक पहुचने की ओर प्रेरित करता हैं। जैन दर्शन मे सत्ता के विभाग पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से नही किये गये हैं। इस तरह से जैन दर्शन के निश्चय और व्यवहार वैसे नही हैं जैसे अद्वैत वेदान्त के परमार्थ और व्यवहार। दोनो मे मौलिक भेद है।

●●●

द्रव्य को जान लेने का अर्थ ही है कि उसके सभी गुणो एव पर्यायो को भी जान ले ।

मीमासको का प्रहार इतने पर भी बन्द नही होता और वे पूछते है कि यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी स्थानो, सभी कालो मे सभी द्रव्यों के सभी गुणो एव पर्यायो का ज्ञान प्राप्त करना है तो फिर भी यह पूछा जा सकता है कि ऐसा ज्ञान क्रमिक है या युगपत् । यदि क्रमिक मान ले तो फिर अनन्त वस्तु एव अनन्त धर्म का ज्ञान कभी पूर्ण नही होगा । जैन दार्शनिक इस कठिनाई को पहले से समझ कर सर्वज्ञता को युगपत् ज्ञान मानते है । लेकिन युगपत् मान लेने पर भी प्रश्न रह भी जाता है कि ऐसा ज्ञान एक ज्ञान के द्वारा होता है या अनेक के द्वारा । मन्द एक ही ज्ञान है तो फिर विरोधी तत्वो का परिज्ञान एक साथ ही सम्भव नही ।

लेकिन यह तो गलत है क्योकि हम एक ही अनुभूति से एक वस्तु के अन्तर्गत अच्छाई और बुराई दोनो का ज्ञान प्राप्त करते है । एक साथ हम एक ही वस्त्र के लाल, पीले, हरे, काले रग को तो देखते ही है ।

सर्वज्ञता पर यह आरोप लगाते हुए अक्सर मीमासक दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते है कि सर्वज्ञ किसी अतीत या अनागत वस्तु को उसी रूप मे देखता होगा या वर्तमान मे । यदि रूप मे देखता है तो यह एक भ्रमजाल है, किन्तु यदि उसे वर्तमान मे दीखता है तो फिर उसका स्वरूप परिवर्तन हो जाता है । अत दोनो अर्थो मे सर्वज्ञता असम्भव है, किन्तु जैन तो इसका सीधा उत्तर यही देते हैं कि अतीत अनागत को वर्तमान रूप मे नही वल्कि उस रूप मे देखते हैं, इसमे कोई भ्रम का प्रश्न नही । फिर अतीत एव अनागत का भी तो अपना अस्तित्व है ही ।

एक छोटी सी आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओ का ज्ञान एक क्षण मे ही प्राप्त नही करेगा और वह अचेतन जैसा रहेगा । लेकिन आरोप लगाने वाले भूल जाते है कि न तो सर्वज्ञ की अनुभूति और न ससार नष्ट होता है अत प्रत्येक नया क्षण भी अनुभूति का विषय होता है । यह ठीक है कि किसी वस्तु का प्रागभाव एवं प्रध्वसाभाव दोनो साथ-साथ सम्भव नही है, जैसे कि किसी व्यक्ति का जन्म एव मृत्यु दोनो एक साथ सम्भव नही है लेकिन विभिन्न संयमो मे एक ही व्यक्ति का जन्म एव मृत्युको हम रोज देखते है ।

मीमासको की ओर से एक और प्रभाव आरोप है कि यदि सर्वज्ञ सभी वस्तुओ की अनुभूति करता है तो फिर उसे गर्हित से गर्हित वस्तुओ का भी अनुभव करना होगा, साथ-साथ राग-द्वेष आदि से भी वह प्रभावित होगा । फिर वह पूर्ण पुरुष या वीतराग नही रह पायेगा । किन्तु इसका उत्तर यह होगा कि राग-द्वेष आदि के ज्ञान से राग-द्वेष नही होता, जिस प्रकार जहर देख लेने मात्र से किसी की मृत्यु नही हो जाती है । किसी वस्तु का ज्ञान होना एक बात है एव उसकी सक्रिय अनुभूति अलग बात है ।

मीमासक लोग सर्वज्ञता-प्रत्याख्यान का एक प्रबल आधार धर्मज्ञता को मानते हैं । उनका कहना है कि अर्हत सर्वज्ञ नही हो सकते क्यो कि वहा धर्म का वक्ता और उपदेशक हैं और धर्म तो एक नित्य, चिरंतन एव सर्व व्यापी तत्व है । यदि महावीर, बुद्ध जैसे किसी व्यक्ति को धर्मज्ञ मान लें तो कई तरह की कठिनाइया आ जायेंगी । पहली बात तो व्यक्ति चिर

ही है। यदि सबो की अनुभूतियो के आधार पर सर्वज्ञता का प्रत्याख्यान किया जाता है तो फिर सर्वज्ञता परोक्ष रूप से सिद्ध हो जाती है क्योकि जो यह जानता है कि किसी की अनुभूति मे सर्वज्ञता नही है, वह स्वय सर्वज्ञ है। वास्तव मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष एव अर्हत् प्रत्यक्ष मे भेद होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय वस्तु सन्निकर्ष अपेक्षित है, जब कि अर्हत, प्रत्यक्ष मे आत्मा बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के वस्तु तत्व को जानता है।

(ख) अनुमान-प्रमाण की समीक्षा

मीमासको के अनुसार अनुमान मे सर्वज्ञ सिद्धि सम्भव नही है क्योकि अनुमान के लिये साध्य एव हेतु के बीच व्याप्ति सम्बन्ध आवश्यक है जो सर्वज्ञ के सम्बन्ध मे सम्भव नही। यदि मान भी लिया जाय कि व्याप्ति सम्बन्ध सम्भव है तो यह या तो **अनुपलम्भ या कार्यकारण अविनाभाव** या स्वभाव सम्बन्ध के आधार पर माना जायगा। **अनुपलम्भ** मानने से काम नही चलेगा क्योकि हेतु एवं साध्य के बीच भावात्मक सम्बन्ध चाहिये। फिर इसमे कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नही क्योकि कार्य-कारण सम्बन्ध सर्वदा पूर्वानुभूति पर आश्रित रहता है किन्तु सर्वज्ञ का कोई भी पूर्वानुभव नही होगा। तीसरा विकल्प यानि स्वरूप सम्बन्ध की तो बात ही नही हो सकती क्योकि जब सर्वज्ञ ही अनुभव से परे है तो फिर उसका स्वरूप भी अनुभव-ग्रस्त नही हो सकता।

फिर यह व्याप्ति सम्बन्ध या तो प्रत्यक्षाधारित माना जा सकता है या अनुमानाधारित। प्रत्यक्ष के आधार पर तो व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव ही नही क्योकि हम सबो का प्रत्यक्ष कर नही सकते। फिर अनुमान के आधार पर यदि व्याप्ति सम्बन्ध की स्थापना की जाय तो यह भी गलत है, क्योकि इसमे आत्मा-श्रयदोष होगा। सर्वज्ञ सिद्धि के लिये यदि हम **भाव धर्म** हेतु उपस्थित करते है तो फिर **असिद्ध दोष** लगता है क्योकि जब तक किसी की सिद्धि नही होती तो फिर **भाव धर्म** हेतु कैसे सभव है? उसी प्रकार यदि हम **अभाव धर्म** हेतु देते है तो इससे **विरुद्ध दोष** होता है क्योकि सर्वज्ञसिद्धि के बदले सर्वज्ञ असिद्धि को ही हेतु मान लिया जाता है। यदि **उभय धर्म** हेतु मान लिया जाय तो फिर अनेकातिक दोष होगा क्योकि उभय धर्म हेतु मे भावात्मक एव अभावात्मक दोनो प्रकार के हेतु होगे।

मीमासक एक और प्रश्न उठाते है कि सर्वज्ञ कोई व्यक्ति विशेष है या फिर सर्व सामान्य सर्वज्ञ। यदि उसे कोई व्यक्ति विशेष माना जाय तो चूकि हम पक्ष या विपक्ष का कोई दृष्टान्त नही दे सकते, अत हेतु असाधारण अनेकातिक से प्रभावित होगा। किन्तु यदि उसे हम सर्व सामान्य सर्वज्ञ मानते है तो फिर अर्हत प्रणीत आगम सिद्ध नही होगा।

जैन दार्शनिक समन्तभद्र की सर्वज्ञ-सिद्धि की युक्ति है कि जिस प्रकार सूक्ष्म दूरवर्ती आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी न किसी को होता ही है उसी प्रकार सर्वज्ञ भी किसी के प्रत्यक्ष का विषय है। किन्तु मीमासक इसके प्रत्याख्यान क्रम के प्रश्न उठाते है कि क्या सर्वज्ञ किसी एक या अनेक के प्रत्यक्ष का विषय है? यदि प्रथम विकल्प को मानें तो विरुद्ध दोष होगा क्योकि सूक्ष्म, अन्तरित एव दूर की वस्तुएँ प्रत्यक्ष के विषय नही हो सकते है। यदि दूसरा विकल्प माने तो उसमे कठिनाई कोई नही होगी। छह प्रमाणो के माध्यम से यदि व्यक्ति सभी चीजो का ज्ञान प्राप्त करता है तो फिर इसमे किस का विरोध हो सकता है? इन्ही कठिनाइयो के कारण जैन दार्शनिक सर्वज्ञ सिद्धि मे 'तपत्व', प्रमेयत्व,' एव 'अस्तित्व' हेतु का प्रयोग करते हैं। इस पर भी मीमासको को आपत्ति है क्योकि उसमे भी असिद्ध

प्रमाण नही रहेगे। किन्तु यदि आगम अपौरुषेय मान लिए जाए और उनका यह कथन सर्वज्ञाभाव सभी स्थानो एव सभी कालो मे सिद्ध है, स्वय आत्म विरोधी हो जायगा।

(छ) अनुपलब्धि (अभाव) के आधार पर सर्वज्ञसिद्धि

अभाव प्रमाण मे सर्वज्ञाभाव की सिद्धि सम्भव नही। अभाव के दो भेद है—**असत्त-प्रतिषेध** और पर्युदास। यदि प्रथम विलकप स्वीकार किया जाय तो सर्वज्ञाभाव आत्यन्तिक रूप से सिद्ध हो जाने पर वेद की सर्वज्ञता खडित होगी जो मीमासक स्वीकार कर सकते। किन्तु यदि दूसरा विकल्प माना जाय तो **सर्वज्ञाभाव की सिद्धि** से **सर्वज्ञसिद्धि** हो जायगी क्योकि पर्युदास अभाव मे यदि एक विकल्प को अस्वीकार किया जाय तो दूसरे का स्वीकार करना ही होगा।

इन शास्त्रीय प्रमाणो के अतिरिक्त भी सर्वज्ञ सिद्धि के लिए कई स्वतन्त्र प्रमाण दिये गये हैं जिनका नीचे विवेचन होगा —

(क) आत्मा का सचेतनता सम्बन्धी प्रमाण

जैन दर्शन जीव की चेतना को पर्याप्त मानता है। चेतना ही जीव का लक्षण है। चेतना लक्षणो जीव। जीव का स्वभाव ही है, जानना। अत यदि उसको किसी प्रकार का व्यवधान नही होगा तो वह सर्वज्ञ होगा ही। वीरसेन और विद्यानन्द ने ही समन्तभद्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि सम्बन्धी उपमा का प्रयोग कर इसको स्पष्ट किया है। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव ही हैं जलाना और वह वस्तुओ को जलाती है यदि कोई व्यवधान नही रहता है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव है जानना और वह भी व्यवधान के विना सभी वस्तुओ को जानता है। निषेधात्मक रूप से भी एक उपमा दी गई है, जिस प्रकार कोई हीरा जब तक धूल मे लिपटा रहता है तब तक नही चमकता है। ठीक उसी प्रकार जब तक जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण आच्छादित रहता है तो वह सभी चीजो को नही जानता है। अकलक ने इस युक्तिवाद का आधार दर्शन समझाते हुए लिखा है कि जीव मे **सर्वार्थ-ग्रहण** सामर्थ्य है अत जैसे ही व्यवधान दूर होता है जीव सर्वज्ञ की तरह सवो को जानने लग जाते है। इसलिए कर्म-पुदगलो का सम्पूर्ण विनाश करने के लिए समन्तभद्र ने तपश्चर्या विधान बनाया है।

(ख) अनुमेयत्व सम्बन्धी युक्ति -

मीमासको ने केवल वेद को **धर्मज्ञ** माना और किसी को नही। इस प्रकार अनुमेयत्व को धर्मज्ञता के क्षेत्र से निष्कासित कर दिया। किन्तु समन्तभद्र शबर स्वामी के इस तक को नही मानते। उनका कहना है कि जिस प्रकार अराग जैसा अदृश्य अतीत एव दूरवर्त्तीय वस्तुओ का ज्ञान भी किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर सम्भव नही है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। यद्यपि कुमारिल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि कोई भी प्रमाण सर्वज्ञसिद्ध कर सकने मे समर्थ नही है। इसीलिये अकलक के अनुमेयत्व के वदले प्रमेयत्व हेतु का व्यवहार किया है। इस तरह हम कह सकते है कि ऐसी कोई वस्तु नही जो किसी ज्ञाता के ज्ञान का विषय नही है। अत ऐसा भी कोई व्यक्ति हो सकता है जिसके ज्ञान का विषय समस्त वस्तु हो और यही सर्वज्ञता है।

(छ) अंश से पूर्ण की ओर जाने की वृत्ति

मानवमन हमेशा ही अपनी मर्यादाओ का उल्लघन करता है। किसी वस्तु के अश का ज्ञान वास्तवमे अश तक ही सीमित नही रह कर पूर्ण तक जाता है। इसीलिये मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय के बाद ही केवल ज्ञान आता है। जिस प्रकार मनोविज्ञान मे गेस्टाट-वृत्ति
होती है, उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र मे भी अपूर्णत से पूर्णता की ओर आने की हमारी सहज एव स्वाभाविक वृत्ति होती है।

(ज) परामनोविद्या सम्बन्धी युक्ति

आज परा-मनोविद्या का विकास हो रहा है जिसमे इन्द्रिय-सन्निकर्ष- निरपेक्ष ज्ञान (इ० एस० पी० और पी० के०) आदि की चर्चा हो रही है। ये बाते मनगढन्त एव केवल कपोल कल्पना नही बल्कि वस्तु स्थिति है। मनोविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर रहा है जिस प्रकार जैन दर्शन अवधि एव मनः पर्यय की बात करता है, आज परामनो विद्या भी उसको मानता है और उसके लिये प्रयोग एवं तर्क भी उपस्थित करता है। इस दृष्टि से हमे समझना होगा।

●●●

वैशाली जन का प्रतिपालक. गण का आदि विधाता।
जिसे ढूढता देश आज उस स्वतन्त्र की माता॥
रुको एक क्षण, पथिक यहाँ मिट्टी को शीश नवाओ।
राज सिद्धियो की सम्पत्ति पर फूल चढाते जाओ॥

—राष्ट्रकवि श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' वैशाली का प्रतिपालक

नराकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनो
शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध
वही राग-द्वेषादि दोषो से सर्वथा
निर्दोष है और उसके द्वारा माने गये
से बाधित नही होते हैं।[१३]

द्र के समान अकलकदेव ने भी अर्हन्त
ज कहा है। इनके अनुसार अर्हन्त ही
नके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम
कथन करते है।[१४]

न्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने 'आप्त-
कार मे सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार
। अर्थात् सब कुछ जानता है, रागादि
। जीत चुका हो, जो तीन लोको मे पूजित
ुए जैसी हैं उन्हे वैसी ही कहता हो, वही
र अर्हत् देव है।[१५]

स प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता
जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषो से रहित
आगम का स्वामी होता है। क्योकि निर्दोषिता
ा सर्वज्ञता सम्भव नही और सर्वज्ञता के बिना
शिता नही हो सकती है। इसलिए तीर्थकर

समन्तभद्र का कहना है कि जो दोषो को नष्ट कर चुका है, सर्वज्ञ और आगमेशी अर्थात्—हेयोपादेयरूप अनेकात तत्व के विवेकपूर्वक आत्महित मे प्रवृत्ति करने वाले अवाधित सिद्धातशास्त्र का स्वामी (अर्थात्–आगम का स्वामी है) वह नियम से आप्त होता है, दूसरे प्रकार के आप्तता नही हो सकती है।[११] साथ ही इनका यह भी कहना है कि जिसमे क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द द्वारा सूचित चिंता, अरति निद्रा विस्मय, विषाद, खेद और स्वेद ये अठारह दोष नही वह आप्त है और उसे निर्दोष कहते ह।[१२]

समन्तभद्र का यह भी कहना है कि जिसमे निर्दोषिता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इनमे से यदि एक गुण भी नही है तो वह आप्त भी नही है। इनके अनुसार आप्त मे इन तीनो गुणो का होना आवश्यक है। इस प्रकार सर्वज्ञ, अर्हंत और तीर्थंकर आदि ही आप्त हो सकते है। क्योकि ये तीनो गुण तो उन्ही मे पाये जाते है। वैसे भी स्वय समन्तभद्र ने अपनी 'आप्त मीमासा' मे अर्हन्त के विषय मे कहा है कि अर्हन्त ही सर्वज्ञ तथा आगम का स्वामी है जिसकी सर्वज्ञता के कारण उसके वचनो मे युक्ति और शास्त्र से किसी प्रकार का विरोध नही आता है वही राग-द्वेषादि दोपो से सर्वथा रहित अर्थात् निर्दोप है और उसके द्वारा माने गये तत्व प्रमाणो से वाधित नही होते है।[१३]

समन्तभद्र के समान अकलकदेव ने भी अर्हन्त को ही सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुमार अर्हन्त ही सर्वज्ञ है, इनके अतिरिक्त दूसरे न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते है।[१४]

हेमचन्द्राचार्य ने भी अर्हन्त को ही अपने 'आप्तनिश्चयालकार मे सर्वज्ञ कहा है। इनके अनुसार जो सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानता है, रागादि दोषो को जीत चुका हो, जो तीन लोको मे पूजित हो, वस्तुए जैसी है उन्हे वैसी ही कहता हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है।[१५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जो सर्वज्ञ होता है वही सभी दोषो से रहित और आगम का स्वामी होता है। क्योकि निर्दोषिता के बिना सर्वज्ञता सम्भव नही और सर्वज्ञता के बिना आगमेशिता नही हो सकती है। इसलिए तीर्थकर

---

११. आप्तेनोच्छिन्न-दोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना।
भवितव्य नियोगेन नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत्।

रत्नक उपा, का. ५, पृ ३७

१२. क्षुत्पिपासा-जरातक-जन्माऽन्तक भय-स्मया।
न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्त स प्रकीर्त्यते॥

रत्नक. पा, का ६, पृ. ३९

१३ स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्।
अविरोधी यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥

आ. मी, का ६, पृ १९

१४ सोऽत्र भवानर्हन्नेव, अन्येषा न्यायागम विरुद्ध।

है। इनके अनुसार जो जहा अवचक है, वहा आप्त है[20] यहा अवचक से अभिप्राय यह है कि जो छल कपट से रहित है अर्थात् निष्कपटी है और निष्कपटी वही हो सकता है जिसमे रागादि दोष नही है। अत जो रागादि दोषो से रहित है वह अवचक है और यह अवचक पद यहा उपलक्षण है।

भावमेनत्रैविद्यि ने भी आप्त का लक्षण लघु-अनन्तवीर्य के समान ही किया है। किन्तु इन्होने 'यो यत्राभिज्ञत्वे' यह विशेषण अधिक जोड दिया है। इनके अनुसार जो जिस विषय को जानता है और सत्य अवचक है वह वहा आप्त है।[3]

यशोविजय के अनुसार वस्तु जैसी है उसको उसी रूप मे जो जानता है और हितोपदेश प्रवण है वह आप्त है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आप्त दो प्रकार के है (१)लौकिक (२) और लोकोत्तर।[1] लौकिक आप्त जनक आदि और लोकोत्तर आप्त तीर्थकर आदि हैं।[2]

आगम प्रमाण के भेद

आप्त के दो प्रकार के होने से आगम प्रमाण भी दो प्रकार का है—(१) लौकिक (२) और लोकोत्तर। सिद्धर्षि ने लोकोत्तर के स्थान पर शास्त्रज शब्द प्रमाण माना है किन्तु लोकोत्तर और शास्त्रज मे कोई विशेष अन्तर नही है।

(१) लौकिक

अपने विषय मे अविसंवादी और अवचक आप्त के वचनो से जो अर्थ बोध होता है वह लौकिक आगम प्रमाण है।

(२) लोकोत्तर

यह लोकोत्तर आगम प्रमाण अगप्रविष्ट और अगबाह्य रूप से दो प्रकार का है। साक्षात् तीर्थंकर जिस अर्थ को अपनी पवित्रवाणी से प्रकट करते है और गणधर जिसका सूत्रबद्ध रूप मे ग्रथन करते है उसे अ गप्रविष्ट कहते है। यह आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानाग, समवयाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अ तकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र ओर दृष्टिवाद आदि के भेद से बारह प्रकार का हे। तथा जो गणधर परम्परा के आचार्यो के द्वारा शिष्य के हितार्थ जो रचा जाता है, वह अ गवाह्य है। यह दशवैकालिक उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। यह अ गवाह्य, है। यह दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार

---

२० यो यत्नावञ्चक स तत्राऽऽप्त ।
प्रमे रत्न. (३।६५) पृ २०४

२१ यो यत्नाभिज्ञत्वे सत्यवञ्चक सतवाप्त । पृ प्रमे (१।१२३) पृ ११७

२२ यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्त ।
जै. तर्क भा , पृ ६

२३ स च द्वेधा लोकिको, लोकोत्तरश्च ।
प्र. न त ऊ (४।६) पृ ३७

२४. लोकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादि
वही, (४,७)

श्रुतज्ञान

श्रुतज्ञान पर विचार करने से पूर्व श्रुन शब्द को जान लेना आवश्यक है। क्योकि श्रुत को समझे बिना श्रुतज्ञान को नही जान सकते है। सामान्यत श्रुत का अर्थ श्रवण-श्रुनम् से सुनना है। यह सस्कृत की श्रु धातु से निष्पन्न है। पूज्यपाद ने भी श्रुत का अर्थ—श्रुनज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर निरूप्यमाण पदार्थ जिसके द्वारा सुना जाता है, जो सुनना या सुनाना मात्र है वह श्रुत है।[२६]

किन्तु श्रुन शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ 'सुना हुआ' होने पर भी जैन दर्शन मै यह श्रुत शब्द ज्ञान विशेष मै रूढ है। पूज्यपाद ने तो अपनी सर्वार्थसिद्धि मे कहा है कि यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ का मुख्यता से प्रतिपादक होने पर भी रूढि के कारण ज्ञान विशेष मे ही रूढ है।[२७] तथा मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्[२८] इस सूत्र से भी ज्ञान शब्द की अनुवृत्ति चली आने के कारण भावरूप श्रवण द्वारा निर्वचन किया गया श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। केवल मात्र कानो से सुना गया शब्द ही श्रुत नही है।[२९]

परन्तु श्रुत का अर्थ ज्ञान विशेष करने पर जैन दर्शन मे जो शब्दमय द्वादशाग श्रुत प्रसिद्ध है उसमे विरोध उपस्थित होता है क्योकि श्रुत शब्द से ज्ञान को ग्रहण करने पर ज्ञान छूट जाता है क्योकि दोनो का एक साथ ग्रहण होना असम्भव है। इस पर जैन दार्शनिको का कहना है कि उपचार से शब्दात्मक श्रुत भी श्रुतशब्द करके ग्रहण करने योग्य है। इस लिये सूत्रकार ने शब्द के भेद-प्रभेदो को बताया है यदि इनको श्रुत शब्द से ज्ञान ही इष्ट होता तो ये शब्द के होने वाले भेद-प्रभेदो को नही बताते।[३०] अत, जैन दार्शनिको को मुख्यत, तो श्रुत से ज्ञान अर्थ ही इष्ट है। किन्तु उपचार से श्रुत का शब्दात्मक होना भी उनको ग्राह्य है।

श्रुत के बाद अब हम श्रुतज्ञान पर आते है। उमास्वाति के पूर्व शब्द को सुनकर जो ज्ञान होता था उसे श्रुतज्ञान कहा जाता था और उसमे मुख्य कारण होने से शब्द को भी उपचार से श्रुतज्ञान कहा जाता था।[३१] किन्तु उमास्वाति को श्रुतज्ञान का इतना ही लक्षण इष्ट नही हुआ। इसलिये इन्होने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे श्रुतज्ञान का एक दूसरा

---

२६ (क) तदावरणकर्मक्षयोपशमे सति निरूप्यमाण श्रूयते अनेन शृणोति श्रवणमात्र वा श्रुतम्।
सर्वा सि (१।९) पृ. ६६

(ख) श्रुतशब्द कर्म साधनश्च।२। किंच पूर्वोक्तविषयसाधनश्चेति वर्तते।
श्रुतवरणक्षयोपशमाद्यन्तरग बहिरग हेतुसन्निधाने सति श्र यतेस्मेति श्रुतम्।
कर्तरि श्रुतपरिणत आत्मैव शृणोसीति श्रुतम्। भेदविवक्षायां श्रूयते नेनेति श्रुतम्, श्रवणमात्र वा।
(त वा (१।९।२) पृ.)

२७ (क) श्रुतशब्दोऽय श्रवणमुपादाय व्युत्पादितोऽपिरूढिवशात् कस्मिश्चिज्ज्ञान विशेपे वर्तते।
सर्वा सि (१।२०) पृ ८३

(ख) श्रुतावरणविश्लेषविशेषाच्छवण श्रुतम् (त श्लो वा अ (३।९।४) पृ ३

२८. त. सू. १।२०

२९ . .... ज्ञानमित्पुनुवर्तनात्।
श्रवण हि श्रुतज्ञानं न पुन शब्द मात्रकम्।
त श्लो वा. न (३२।०।२०) पृ. ५९८

३० तच्चोपचारितो ग्राह्य श्रुतशब्द प्रयोगत।

स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। इस प्रकार शब्दो के हेर फेर के कारण दोनो मे भेद होने पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन दोनो मे कोई मूलत भेद दृष्टिगोचर नही होता है।

किन्तु नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक ने तो श्रुतज्ञान का लक्षण इस सबसे एकदम भिन्न किया है। ये तो इस बात को ही नही मानते है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। इनके उसको न मानने का कारण शायद यह रहा होगा कि श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो दो भेद हैं, उनमे अनक्षरात्मक श्रुत दिगम्बर परम्परा के अनुसार शब्दात्मक नही है और ऊपर श्रुतज्ञान की यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द योजना से पूर्व जो मति, स्मृति चिन्ता, तर्क और अनुमान ज्ञान है वे मतिज्ञान है और शब्द याजना होने पर वे श्रुतज्ञान है। इस परिभाषा को मानने पर मतिज्ञान और अनक्षरात्मकश्रुत मे कोई भेद नही रह जाता है। इसीलिये इन्होने ुतज्ञान का लक्षण इन सबसे भिन्न किया वै। इनके अनुसार मतिज्ञान के विषयभूत पदार्थ से भिन्न पदार्थ के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है।[३८]

किन्तु श्रतज्ञान मति पूर्वक होता है इस कथन मे कोई असगति नही है, क्योकि यह इस दृष्टि से कहा गया है कि श्रुतज्ञान होने के लिये शब्द-श्रवण आवश्यक है और शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है, क्योकि यह श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। जब शब्द होता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द श्रवण रूप जो व्यापार है वह मतिज्ञान है, और उसके बाद उत्पन्न होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान के अभाव मे श्रुतज्ञान नही हो सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि श्रुतज्ञान मे मतिज्ञान मुख्य कारण है क्योकि मतिज्ञान के होने पर भी जब तक श्रुतज्ञनावरण कर्म का क्षयोपशम न हो तब तक श्रुतज्ञान नही हो सकता है। मतिज्ञान तो इसका वाह्य कारण है।

अत: सक्षेप मे श्रुतज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम होने पर मन और इन्द्रिय की सहायता से, अपने मे प्रतिभासमान अर्थ को प्रतिपादित करने मे समर्थ स्पष्ट ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान के कितने भेद है ? इस विषय मे जैनाचार्यों मे परम्पर मतभेद है। सभी ने अपने-अपने मत के अनुसार श्रुतज्ञान के भेदो को गिनाया है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अग वाह्य रूप से जो भेद हे, ये भेद सभी जैनाचार्यों को मान्य है। इसलिए अब इन दो भेदो के अतिरिक्त जो भेद प्रभेद जैनाचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार बताये है उन पर विचार किया जायेगा।

आवश्यकनियुक्ति मे कहा गया है कि जितने अक्षर है और उनके जितने स्योग है उतने ही श्रुतज्ञान के भेद है, और इन सारे भेदो को गिननासभव नही है। इसलिए मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के चौदह भेद है—(१) अक्षर (२) सज्ञा, (३) सम्यक, (४) सादिक, (५) सपर्यवमित, (६) गमिक, (७)

३६ ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मतिजनितम् स्पष्टम्ज्ञानम् स्रुतम्.
सर्वद. स (आर्हद) प्र १३८

३७ अत्थादो अत्थतरमुवलभ त भणंति सुदणाणम्
गो सा (जीका) गा ५६, प्र ५४७

अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक रूप से जो श्रुतज्ञान के दो भेद किये गये हैं इनका सबसे प्राचीन उल्लेख अकलंक के 'तत्वार्थवार्त्तिक' मे मिलता है। अकलंकदेव का कहना है स्मृति, तर्क अनुमान आदि प्रमाणो के द्वारा जब ज्ञाता स्वय जानता है उस समय वे अनक्षरश्रुत है और जब वह इनके द्वारा दूसरो को ज्ञान कराता है तो वे अक्षर-श्रुत है।

ऊपर जो अक्षर और अनक्षरश्रुत की परिभाषा दी गयी है उसकी अकलंकदेव के उक्त कथन के साथ संगति नही बैठती है। क्योकि इनके अनुसार तो एक ही श्रुतज्ञान अनक्षरात्मक भी होता है और अक्षरात्मक भी होता है। जब तक वह ज्ञान रूप रहता है तब तक अनक्षरात्मक है और जब वह वचनरूप होकर दूसरे को ज्ञान कराने मे कारण होता है तब वही अक्षरात्मक कहा जाता है।

यदि हम दोनो परिभाषाओ की तुलना करे तो दोनो मे कोई विशेष अन्तर नही है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार तो अक्षर के निमित्त से होने वाला श्रुतज्ञान अक्षरात्मक है और अकलंकदेव के अनुसार अक्षरोच्चारण मे निमित्तज्ञान अक्षरात्मक है। परन्तु विचार करने पर दोनो ही श्रुतज्ञानो को अक्षरात्मक मानना उचित प्रतीत होता है। क्योकि वास्तव मे ज्ञान अक्षरात्मक नही होता है वह तो भावरूप ही होता है और अक्षर द्रव्यरूप होता है। किन्तु ज्ञान अक्षर के निमित्त से उत्पन्न होता है इसलिए इसको (ज्ञान को) अक्षरात्मक कहते है। वैसे अक्षर के निमित्त के बिना जो श्रुतज्ञान होता है वह अनक्षरश्रुत है।

श्रुतज्ञान के अनक्षरात्मक और अक्षरात्मक रूप से जो दो भेद किये गये हैं वे श्वेताम्बर परम्परा को भी मान्य है किन्तु इनके स्वरूप के विषय मे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओ मे आंशिक मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अक्षर और अनक्षरश्रुत ये दोनो ही शब्दज हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अक्षरात्मक श्रुतज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न होता है और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान को अक्षरात्मक और लिंगज को अनक्षरात्मक श्रुत माना गया है। यद्यपि यह बात तो दिगम्बर परम्परा भी मानती है कि श्रुतज्ञान मे शब्द की प्रधानता होती है। और गोम्मटसार के जीवकाण्ड मे तो स्पष्टतया लिखा है कि—श्रुतज्ञान के शब्दज और लिंगज ये दो भेद हैं किन्तु इसमे शब्दज की ही प्रमुखता है।[64] परन्तु दोनो ही श्रुत शब्दज होते है यह बात दिगम्बर परम्परा को मान्य नही है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनाचार्यो ने अपने-अपने ढग से श्रुतज्ञान के भेद किये है। उन मे श्रुतज्ञान के अक्षर और अनक्षर रूप से जो दो भेद किये गये है, अधिक प्राचीन और सर्वाधिक प्रचलित प्रतीत होते है। क्योकि श्रुतज्ञान के इन दो भेदो का उल्लेख किसी न किसी रूप मे सभी जैनाचार्यो ने किया है। आवश्यक निर्युक्ति[65] और नन्दी सूत्र[66] मे भी जो अक्खरसन्नी सम्म— आदि चौदह श्रुत के भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते है, वे किसी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ मे देखने को नही मिलते है, फिर भी उनमे अक्षर और अनक्षरश्रुत ये भेद सर्वप्रथम देखने को मिलते है। यहा तक कि प्रयत्न प्रयत्न के फलस्वरूप माना जाने वाला अंगप्रविष्ट

६४. लिंगमिदं सद्दजं पमुहं (गो. सा. (जीव.), गा. ३१५)

६५ गा ८९

संकेत सूची

१ अनु० सू० — अनुयोगद्वारसूत्रम् (ज्ञान मन्दिर, पाटण)

२. अष्टश० — अष्टशती

३ अष्टसह० — अष्टसहस्त्री (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद)

४ आ० मी० — आप्तमीमासा (श्रीशान्तिवीर दिगम्बर जैन सस्थान, शान्तिवीरनगर

५. आव० निर्यु० — आवश्यकनिर्युक्ति

६. गो० स्वा० (जी० का०) — गोम्मटसार (जीवकाण्ड), (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास)

७. जै० तर्कभा० — जैनतर्क भाषा (सिंघी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

८. त० सू० — तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय (लालाशादीराम, गोकुलचन्द जौहरी देहली)

९ त० वा० — तत्त्वार्थवार्त्तिक (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)

१०. त० श्लो० वा० अ० — तत्वार्थश्लोकवार्तिकालकार (कल्याणभवन, सोलापुर)

११. त० सा० — तत्वार्थसार (श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणासी)

१२ नन्दीसू० — नन्दीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट)

१३ न्या० अव० — न्यायावतार (जैन साहित्य विकास मण्डल, वम्बई)

१४ नि० सा० — नियमसार (श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वम्बई)

१५ प्र० न० त० लो० ल० — प्रमाणनयतत्वालोकालकार (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला बनारस)

१६. प्र० प्रमे० — प्रमाप्रमेय (जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर)

१७ प्रमे० रत्न० — प्रमेयरत्नमाला (चौखम्बा, वाराणसी)

१८, प्र० स० — प्रमाणसग्रह (सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद)

१९. भगवतीसू० — भगवतीसूत्र (अ० भा० श्वेताम्वर स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट)

४

नय

□ सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है और प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश मे वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। आशय यह हे कि प्रमाण का विषय द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। उसके एक देश द्रव्य अथवा पर्याय को वस्तु रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है प्रमाण का विषय एकात नही है क्योकि एकान्त तो अवस्तु है और नय का विषय अनेकात नही हे क्योकि एकान्त रूप अवस्तु मे अनेकान्त रूप वस्तु का आरोप नही हो सकता। इसके सिवाय प्रमाण का विषय न तो केवल विधि है क्योकि ऐसा होने पर प्रमाण जिस पदार्थ को जानेगा, दूसरे पदार्थों से उसकी भिन्नता का ग्रहण न करने पर घट की तरह पट मे भी उसकी प्रवृत्ति हो जायेगी क्योकि उसे तो केवल विधि का ही ज्ञान है यह नही है, इस निषेध का ज्ञान नही हे। तथा प्रमाण केवल निषेध को भी ग्रहण नही करता, क्योकि विधि को जाने बिना घट पट से भिन्न है, इस प्रकार के निषेध को जानना शक्य नही हे। प्रमाण मे विधि और निषेध दोनो परस्पर मे भिन्न भी प्रतिभासित नही होते, क्योकि ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोनो दोषो का प्रसग आता है। अत विधि-निषेधात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और इसलिए प्रमाण का विषय एकान्त नही है। अत प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश मे वस्तुत्व की विवक्षा का नाम नय है। यत प्रमाण से गृहीत वस्तु मे जो एकान्त रूप व्यवहार होता है वह नयनिमितक है इसलिये समस्त लोक व्यवहार नय के अधीन है।

अकलक देव ने कहा है[1] –प्रमाण से ग्रहीत अस्तित्व–नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि अनन्त धर्मात्मक जीवादि पदार्थों के धर्मों का निर्दोषरूप से कथन करने वाला नय है। शायद कहा जाये कि ज्ञाता के अभिप्राय का नाम नय है, किन्तु अभिप्राय तो अबोध रूप होता है वह जीवादिपदार्थों के धर्मो का दोष रहित कथन करने वाला कैसे हो सकता है? इस का समाधान यह है कि द्रव्य और पर्याय के अभिप्राय से उत्पन्न द्रव्य पर्याय के निरूपणात्मक बचनो को अथवा अभिप्राय वाले पुरुष को नय मानने से उक्त दोष नही आता है। आचार्य पूज्यपाद-ने कहा है[1] अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का ज्ञान कराते समय श्रेष्ठ हेतु की अपेक्षा करने वाला निर्दोष प्रयोग नय है। वहा भी जैसे अभिप्राय वाले प्रयोक्ता को नय कहा है वैसे ही प्रयोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने वाले नय जन्य प्रयोग को भी कार्य मे कारण का उपचार करके नय कहा है। साराश यह हे कि अनेक धर्मो से युक्त की विवक्षा है शेष धर्मो की विवक्षा नही है। नय के तीन रूप है अर्थरूप, शब्दरूप और ज्ञानरूप। वस्तु का एक धर्म अर्थ नय है, उस धर्म का वाचक शब्द शब्द-रूप नय है

पर क्षेत्र में भी वस्तु को सत् मानने पर किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नही रहेगा । पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर सभी द्रव्य निराश्रय हो जायेंगे तथा स्वक्षेत्र की तरह पर क्षेत्र से भी वस्तु को सत् मानने पर भी किसी वस्तु का कोई सुनिश्चित क्षेत्र नही रहेगा । पर क्षेत्र की तरह स्वक्षेत्र से भी वस्तु को असत् मानने पर वस्तु के क्षेत्र का ही अभाव हो जावेगा । स्वकाल की तरह पर काल से भी वस्तु को सत् मानने पर कोई सुनिश्चित काल नही रहेगा । पर काल की तरह स्वकाल से भी वस्तु को असत् मानने पर समस्त काल ही असम्भव हो जायेगा । तब आप कैसे किसी इष्ट और अनिष्ट तत्व की व्यवस्था कर सकेंगे । अत प्रत्येक वस्तु कथचित सत्स्वरूप और कथचित असत्स्वरूप है । कहा भी है—

भावैकान्ते पदार्थानाम भावा नाम पन्हवात् ।
सर्वात्मक मनाद्यन्तम स्वरूपमतावकम् ॥९॥

अभावैकान्त पक्षेऽपि भावा पन्हववादिनाम् ।
वोधवाक्य प्रमाण न केन साधम दूपणम् ॥१२॥

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५॥

जैसे प्रत्येक वस्तु कथ चित् सत्स्वरूप और कथ चित् असत्स्वरूप है वैसे ही कथ चित् नित्य और कथ चित् अनित्य है । जैन दर्शन मे सन् को युक्त हो उसे सत् कहा है । जैसे मिटटी का पिण्डाकार नष्ट होकर घटाकर उत्पन्न होता है किन्तु दोनो ही अवस्थाओ मे मिट्टी न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है । जो मै पहले सुखी था वही मैं अब दु,खी हू ं । इस प्रतीति मे सुखी रूप का विनाश, दु खी रूप का उत्पाद और एक पुरुष रूप त्मक है । उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनो भी परस्पर में सापेक्ष है । क्योकि व्यय और ध्रौव्य के बिना केवल उत्पाद नही होता, उत्पाद और व्यय के बिना केवल ध्रौव्य नही होता और उत्पाद के बिना केवल सत्ता सम्भव नही है अत सत उत्पाद व्यय ध्रोव्यात्मक है । इसके लिये आचार्य समन्तभद्र ने दो उदाहरण दिये है–एक राजा के के पास सोने का घडा है । उसकी पुत्री को वह प्रिय है किन्तु राजपुत्र घट तुडवाकर उसका मुकट बनवाता है । जब घट टूटता है तो पुत्री रोती है, मुकुट के बनने से राजपुत्र प्रसन्न होता है किन्तु राजा मध्यस्थ रहता है । यहा घट की इच्छुक पुत्री को इसलिये शोक हुआ कि घट नष्ट हो गया । मुकुट के इच्छुक राजपुत्र को इसलिये आनन्द हुआ कि मुकुट उत्पन्न हुआ और सुवर्ण का इच्छुक राजा इसलिये मध्यस्थ रहा है कि सुवर्ण का सुवर्ण बना रहा । इन तीनो का यह शोक, आनन्द और मध्यस्थ भाव अकारण नही है अत सिद्ध है कि वस्तु उत्पादादि तीन रूप है ।

इसी तरह एक व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं दूध ही पीऊ गा वह दही नही खाता । दूसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मै दही खाऊ गा वह दूध नही पीता । तीसरा व्रती यह नियम लेता है कि आज मैं गोरस नही खाऊ गा वह न दही खाता है और न दूध पीता है क्यो कि दोनो ही गोरस रूप है । इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक है ।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिनयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

आप्तमीमासा ।

नयचक्र' नाम का ग्रन्थ रचा। सम्भवतया नय पर यह प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ था। इसके नाम मे नय के साथ चक्र शब्द सयुक्त करके नयचक्र नाम दिया गया। चक्र गाडी के पहिये को कहते है। पहिये मे जो डण्डे लगे होते हे उन्हे अर कहते है। इस नय चक्र मे भी विधि निषेध रूप १२ अर होने से द्वादशार नयचक्र नाम दिया गया।

नय को चक्र की उपमा क्यो दी गई यह बात विचारणीय है। हमारी दृष्टि मे चक्र का कोई भाग सदा ऊचा या नीचा नही रहता। चक्र के चलने पर ऊचा भाग नीचा और नीचा भाग ऊचा हो जाता है। नय की भी ऐसी हा स्थिति है विवक्षा-वश वस्तु के एक अ श को ग्रहण करने वाला नय मुख्य होता हे और विवक्षा नही होने पर वही गौण हो जाता हे। नय की इसी सरणि का सूचन उसके साथ सयुक्त चक्र शब्द से होता हे। उपलब्ध साहित्य को देखते हुए 'नयचक्र' नाम की परम्परा का सर्वत्र यही नय चक्र प्रतीत होता है।

तत्वार्थ सूत्र के व्याख्याकार आचार्य पूज्यपाद, भट्टाकलक और विद्यानन्द ने अपने अपने व्याख्या-ग्रन्थो मे नय के सात भेदो का विवेचन किया है। इन तीनो मे से आचार्य विद्यानन्द ने अपने 'तत्वार्थ श्लोकवातिक' मे नय की स्थिति को विशेष रूप से स्पष्ट किया हे। भट्टाकलक देव ने अपने लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय मे नयो का सुन्दर विवेचन किया है। यह विवेचन दार्शनिक सरणिको लिये हुए है। 'सिद्धिविनिश्चय' का दसवा प्रस्ताव अर्थ नय सिद्धि है और ग्यारहवा प्रस्ताव शब्द नय सिद्धि है। अकलक देव ने सात नयो मे से नैगम से लेकर ऋजुसूत्र पर्यन्त नयो का अर्थ प्रधान होने से अर्थनय और शेष तीन नयो के शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा है।

(लघीय स्त्रय का २२)। ऊपर लिख आये है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है तथा उस अभि-प्राय को ही पूर्ण वस्तु मानना दुर्नय या नयाभास है। अकलक देव ने नयाभास का विवेचन करते हुए वैशेषिक दर्शन को द्रव्यार्थिकाभास, साख्यमत को नैगमाभास, ब्रह्मवाद को सग्रहाभास तथा बौद्ध-मत को ऋजुसूत्राभास बतलाया है।

अकलक के अनुवादक आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मे प्रथम अध्याय के छठे तथा तेतीस के सूत्रो की व्याख्या मे नय का इतना सुन्दर विवेचन किया है कि उस विवेचन का संकलन नय[५] विवरण नाम से किसी ने पृथक कर दिया हे और वह एक स्वतन्त्र प्रकरण जैसा प्रतीत होता है। इसमे आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण और नय के भेद को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण स्व और अर्थ का निश्चायक है तो नय उसके एक देश का निश्चायक है वह अ श न तो वस्तु है और न अवस्तु है किन्तु वस्तु का अ श है जैसे समुद्र का अ श न समुद्र है और न असमुद्र है किंतु समुद्राश है। यदि अ श को ही समुद्र कहा जायगा तो शेप अ श असमुद्र कहलायेगे या फिर एक एक अ श को समुद्र मानने पर बहुत से समुद्र हो जायेगे इसी तरह नय का विषय स्वार्थैकदेश वस्तु न ही ह क्योकि उस एक देश को ही वस्तु मानने पर स्वार्थ के अन्य देश अवस्तु कहलायेगे या फिर एक एक देश को ही वस्तु मानने से वस्तु बहुत्व का प्रसग प्राप्त होगा। वह एक देश अवस्तु भी नही है उसे अवस्तु मानने से शेप अ श भी अवस्तु कहलायेगे और तब वस्तु की व्यवस्था ही नही बन सकेगी। इसलिये नय का विषय वस्तु का एक देश है।

इस पर से यह आशका की गई कि जैसे अ शी

---

५ संस्कृत प्रथम गुच्छक (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित) मे।

नय का महत्व

आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र के प्रारम्भ मे नय का महत्व बतलाते हुए कहा है कि जैसे सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है या सप्त धातु का मूल भोजन के पाचन से बनने वाला रस है वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। तथा लिखा है कि जिनके नय रूपी दृष्टि नही है वे वस्तु के स्वरूप को कैसे देख सकते है और जो वस्तु के स्वभाव से ही अनजान है वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते है जैसे धर्महीन[६] मनुष्य सुख की वाञ्छा करता है, जैसे प्यासा मनुष्य बिना पानी के प्यास बुझाना चाहता है वैसे ही नय के ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तु स्वरुप का निश्चय करना चाहता है इन वचनो से स्पष्ट है कि वस्तु स्वरूप को जानना कितना आवश्यक है। और वस्तु स्वरुप के ज्ञान के लिये नयो का ज्ञान कितना आवश्यक है।

असल मे ज्ञानो मे दो ज्ञान सब से बडे है- प्रत्यक्ष ज्ञानो मे केवलज्ञान और परोक्षज्ञानो मे श्रुतज्ञान। दोनो ही परस्पर एक दूसरे के कारण है। केवलज्ञान के द्वारा श्रुत या आगम का प्रकाशन होता है और आगम के अभ्यास से केवलज्ञान प्रकट होता है। इस तरह केवल ज्ञानी और आगम की सन्तान अनादि है। जैसे केवलज्ञान सर्वतत्व का प्रकाशक है वैसे ही श्रुत भी सर्वतत्व प्रकाशक है। जैसे आगम दूसरो के लिये समस्त जीवादि तत्वो का कथन करता है वैसे ही केवली भी करता है अन्तर केवल इतना है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो ज्ञान रूप भी है और वचन रूप भी है किन्तु जैसे केवल ज्ञान समस्त तत्वो का एक साथ जानता है उस तरह कोई वाक्य ऐसा नही है जो एक साथ सब का कथन कर सके।

इसके साथ ही वचन का आधार वक्ता का अभिप्राय है वक्ता वस्तु को जानकर भी अपने अभिप्राय के अनुसार कथन करता है। इससे किसी भी एक वस्तु के बारे मे जितने वचन प्रकार सभव है उतने ही उस वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय है ऐसा समझना चाहिये।

इन अभिप्रायो को ही नय कहते है। अत' एक वस्तु के एक-एक धर्म को विषय करने वाले ये जितने भी वक्ता के अभिप्राय रूप नय है वा उनके विषयभूत त्रिकालवर्ती एकान्त है उन सब एकान्तो का जो तादात्म्य रूप सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। ऐसा ही स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> नयोपनयैकाताना त्रिकालाना समुच्चय।
> अविभ्राड्भावसम्बधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥
> आप्तामीमासा, श्लो० १०७।

इसीलिये जैन दर्शन मे नय का इतना महत्व है। नयो के ज्ञान के बिना वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हो सकता और वस्तु स्वरूप का ज्ञान हुए बिना सम्यग्दृष्टि नही हो सकता।

नय के भेद

आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति तर्क प्रारम्भ करते हुए कहा है कि तीर्थ कर के वचनो की

---

६ जह सद्धणामाई सम्मत्तं जह तवाइ निलये। धाओ वा एयरस तह णयमूलो अणेयतो ॥१०॥

है। ये तीनो–उत्पाद व्यय ध्रौव्य वस्तु मे एक साथ मिलकर ही रहते है। अत दोनो नयो का अलग-अलग विषय वस्तु का लक्षण नही है। इसलिये दोनो ही मूल नय अलग-अलग मिथ्या है। यदि कोई दोनो मे से एक ही नय को अपना कर वस्तु के सम्पूर्ण रूप को कहने का दावा करता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योकि किसी एक नय को ही स्वीकार करने पर ससार मोक्ष नही वन सकते है।

केवल द्रव्यार्थिक या केवल पर्यायार्थिक के पक्ष मे ससार नही बनता क्योकि उनमे से एक केवल नित्यतावादी है और दूसरा केवल अनित्यतावादी है। दोनो ही पक्षो मे सुख दुःख का सम्बन्ध नही बनता क्योकि आत्मा की कायिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण कर्म का वन्ध होता है और कषाय के कारण बद्ध कर्म मे स्थिति पडती है किन्तु आत्मा को सर्वथा अपरिवर्तनशील या सर्वथा क्षणिक मानने पर न बन्ध ही बनता है और स्थिति ही। और जब बन्ध ही सम्भव नहीं है तो ससार के भय की बात तथा मोक्ष सुख की बात काल्पनिक ठहरती है क्योकि कर्मबन्ध से ही ससार होता है और उसको काटने से मोक्ष सुख मिलता है ऐसा सभी मानते हे। अत, केवल अपने-अपने पक्ष का आग्रह करने वाले सभी नय मिथ्या हे परन्तु परस्पर सापेक्ष होने से सब समीचीन हे।

इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय के दो ही मूल भेद है। उनमे से द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है–नैगम, सग्रह और व्यवहार। इनमे से जो सत्ता आदि की अपेक्षा से सबको पर्यायरूप कलक का अभाव होने से अद्वैत रूप से जानता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रह नय है। और जो सग्रह नय के द्वारा ग्रहीत पदार्थों के भेद प्रभेदो को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय हे। यत यह नय पर्याय रूप कलक से मुक्त होता है। अत अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। इसके सम्बन्ध मे सन्मति सूत्र की नीचे लिखी गाथा दृष्टव्य है–

दव्वट्ठिय णय पयडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ।
पडिरूव मणवयणत्थाणित्थयो तस्स ववहारोत।१।४।

अर्थात् सग्रहनय की प्ररूपणाका विषय द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और पदार्थ के प्रत्येक भेद के प्रति शब्दार्थ का निश्चय करना उसका व्यवहार है।

इसका आशय यह है कि सत्ता या द्रव्य के अभेद से वस्तु के ग्रहण करने वाला सग्रह नय है और सत्ता या द्रव्य के भेद से वस्तु को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। इसी से सग्रह नय सामान्यग्राही द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति है और व्यवहार नय अशुद्धप्रकृति है। व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति कहने का कारण वह है कि यद्यपि व्यवहार नय सामान्य धर्म की मुख्यता से ही वस्तु को ग्रहण करता है। इसलिये वह द्रव्यार्थिक है फिर भी वह सामान्य या अभेद मे भेद मानकर प्रवृत्त होता है इसलिये वह द्रव्यार्थिक होते हुए भी उसकी अशुद्ध प्रकृति हे।

जो सत्य है वह भेद और अभेद दोनो को छोड कर नही रहता है। इस प्रकार जो केवल एक को ही अभेद या भेद को ही प्राप्त नही होता किन्तु मुख्यता और गौणता से भेदाभेद दोनो को ही ग्रहण करता है। उसे नैगम नय कहते है। अर्थात् सग्रह और व्यवहार नय के परस्पर भिन्न दोनो विषयो का अवलम्बन करने वाला नैगमनय है। शब्द, शील, कर्म, कार्य, कारण आधार, आधेय, सहचार, मान, मेय, उन्मेय, भूत, भविष्यत, वर्तमान आदि का आश्रय लेकर होने वाला उपचार नैगम नय का विषय है। आचार्य विद्यानन्द ने तत्वार्थ श्लोकवार्तिक व अष्ट सहस्त्री (पृ० २८७) मे नैगम नय के अनेक भेदो का कथन किया है। यह नय भी अशुद्धि को लिये हुए है क्योकि सोपाधिवस्तु को

शक्तिशाली होने से शुक्र और पुर अर्थात् नगरो का कारण-विभाग करने से पुरन्दर कहलाता है। शब्दनय की दृष्टि मे तो ये तीनो शब्द एक ही लिंग वाले होने से एकार्थक है किन्तु समभिरूढ नय की दृष्टि मे भिन्न भिन्न अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण एकार्थ नही है। चू कि अर्थ भेद के बिना पदो मे भेद नही बन सकता इसलिये शब्द भेद से अर्थ भेद होना ही चाहिये यह समभिरूढ नय की दृष्टि है तथा जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उस क्रिया रूप प्रवृत्ति जिस समय होती हो उसी समय ही उसे उस शब्द के द्वारा अभिहित करना एवभूत नय है। जैसे 'इन्द्र' शब्द का अर्थ आनन्द करने वाला है जिस समय आनन्द करना हो उसी समय इन्द्र है, अभिषेक या पूजन करना हो तो उसे अभिषेचक या पूजक कहना होगा। यह है एव-भूत नय दृष्टि है। इस तरह यह नयो का विवेचन है।

सकटो को जीतने वाले, बुरे सस्कारो पर काबू पाने वाले, साहसी, आत्म सयमी और हठ प्रतिज्ञ लोग ही सच्चा ज्ञान, धर्म और सही आचरण प्राप्त करते है।

नित्य स्वतन्त्र सत्ता नही है जब तक देह है तब तक चैतन्य है उसके पश्चात कोई पृथक चैतन्य सत्ता का अस्तित्व नही है ।

बौद्ध दार्शनिको ने भी नित्य शाश्वत आत्म सत्ता का निषेध किया है, परन्तु आत्मा के अस्तित्व का निपेध नही किया । बुद्ध की मान्यता थी कि कि सब कुछ अनित्य, गतिशील, क्षणिक तथा परिवर्तनशील है 'सर्वक्षणिक' । कही भी कोई भी स्थायित्व या नित्यत्व नही है अत, उन्होने अपनी इस मान्यता के अनुसार स्थायी एव नित्य आत्मसत्ता का निषेध किया है ।

बौद्ध दार्शनिको के अनुसार मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है, बाह्य रूप युक्त शरीर, मानसिक अस्थायी, सज्ञा, सस्कार, चेतना के समूह या सघात को ही मनुष्य कहते है । इस सघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अन्य सत्ता नही है ।

इन दोनो दर्शनो के अलावा न्याय दार्शनिक, साख्य दार्शनिक, मीमासक, अद्वैतवेदान्त दार्शनिक तथा जैन दार्शनिको ने नित्य चैतन्य युक्त तथा स्वतन्त्र आत्मसत्ता स्वीकार की है । इन दार्शनिक सम्प्रदायो ने चार्वाक द्वारा स्वतन्त्र नित्य आत्म सत्ता के निषेध की आलोचना की है । जैन, न्याय व वेदान्त-दर्शन के मानने वालो का कथन है 'मै हू' ऐसा स्व-सवेदन प्रत्येक व्यक्ति को होता है । **जैनों के अनुसार** स्वानुभव प्रत्यक्ष के सिद्ध 'आत्मा' को चार्वाक दार्शनिक किस आधार पर अस्वीकार करता है, जब कि चार्वाक वादियो ने केवल मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार किया है । **नैयायिको के अनसार** प्रत्येक मनुष्य को 'अहम् सुखी' 'अहम् दु.खी 'अहम् जानामि' इत्यादि भान होता है ।

साख्य, न्याय, मीमासा, अद्वैतवेदान्त व जैन दार्शनिको ने आत्माका चैतन्य युक्त तो माना किंतु चैतन्य आत्मा का स्वरूप ही है । ऐसा सबने नही माना ।

न्याय दर्शन व मीमासा दर्शन मे 'चेतना को' आत्मा का एक आगन्तुक गुण माना है । उनकी मान्यतानुसार 'चेतना का' आत्मा के साथ विशेष परिस्थितियो मे ही सम्पर्क होता है, और तभी आत्म चैतन्युक्त होती है, सदैव नही है । न्याय दर्शन मानता है कि आत्मा मे चेतना का सचार तभी होता है जब आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियो के साथ, इन्द्रियो का बाह्य वस्तुओ के साथ सम्पर्क होता है, अन्यथा आत्मा चैतन्य शून्य ही होता है । इस मान्यतानुसार जब आत्मा मुक्त होती है तब उसमे ज्ञान चेतना का अभाव रहता है, सुपुप्तावस्था मे भी चेतना का अभाव रहता है ।

मीमासा दर्शन भी चेतना को आत्मा का एक औपाधिक गुण मानता है, जो किसी अवस्था विशेष मे उत्पन्न होता है । मीमासा दर्शन की मान्यता है कि आत्मा स्वतः प्रकाशक नही है, क्योकि यदि ऐसा होता तो हमे प्रगाढ निद्रा मे भी ज्ञान होता है, जबकि मीमासानुसार ऐसा नही होता ।

किन्तु इनसे विपरीत जैन, साख्य, एव अद्वैतवेदान्ती चेतना को आत्मा का स्वभाव मानते है वस्तु स्वभाव शून्य कदापि नही हो सकती, जब चेतना आत्मा का स्वभाव है तब आत्मा चैतन्य रहित हो जाये यह असम्भव है ।

जैन दार्शनिको के अनुसार न्याय दर्शन मे चेतना को आत्मा का आगन्तुक गुण माना है और मुक्तावस्था मे भी जडरूप हो जाती है । ऐसी अवस्था मे बाह्य भौतिक जड-पदार्थो व मुक्तात्मा की स्थिति मे क्या अन्तर शेप रह जाता है, मुक्तावस्था फिर अर्थ मे स्पृहणीय रह जाती, शुष्क शिलावत् मोक्षावस्था से तो यह सुख दु ख रूप ससार ही भला हैं । जैनो के अनुसार तो जीव अथवा आत्मा ज्ञान चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है ।

विशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञान का सारतत्व है और ज्ञान उसका गुण है। आत्मा नित्य है इसलिये ज्ञान भी, जो इसका गुण है, नित्य है।

जैन दर्शन मे ज्ञान आत्मा का गुण है किन्तु औपाधिक नही है। जैन दर्शन के अनुसार गुण और गुणी पृथक्-पृथक् नही है, गुणी से भिन्न कोई गुण नही है। क्योकि गुणी से पृथक् गुण उपलब्ध नही होते। गुण गुणी के स्वभावी होते है, उसमे तादात्म्य सम्बन्ध होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार जैसे अग्नि स्वभाव से उष्ण होती है वैसे ही आत्मा स्वभाव से ज्ञानी है। देवदत्त और डण्डा ये दो पृथक् वस्तुए हैं, जब देवदत्त डण्डे को हाथ मे लेता है तब वह डण्डे के सम्बन्ध से दण्डी कहलाने लगता है, किन्तु जैसा सम्बन्ध डण्डे व देवदत्त मे है वैसा सम्बन्ध आत्मा व ज्ञान मे नही है। आत्मा व ज्ञान गुणी व गुण है, गुण व गुणी के प्रदेश पृथक् पृथक् नही होते इसी से गुण सदैव गुणी वस्तु मे ही पाया जाता है। गुणी की विशिष्टता ही गुणो के कारण है। एक प्रकार से गुण व गुणी मे तादात्म्य सम्बन्ध है।

आत्मा की अनेकता

आत्मा के सम्बन्ध मे विचार करते समय प्रश्न उठता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक? प्राय सभी भारतीय दार्शनिको ने आत्मा की अनेकता मे विश्वास किया है, मात्र अद्वैतवेदान्त इसका अपवाद है।

साख्य दार्शनिको के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर मे भिन्न-भिन्न है। यदि सभी शरीरो मे एक ही आत्मा मानी जाये तो एक के उत्पन्न होते ही सब मृत हो जायेगे। प्रत्येक मानव की प्रवृत्तियो, सुख दु ख रूप अनुभव इत्यादि भिन्न-भिन्न है।

नैयायिक भी आत्मा की अनेकता को स्वीकार करते है। प्रत्येक व्यक्ति की जीवात्मा पृथक् पृथक् है। यदि पृथक् न होती तो सबके अनुभव एक समान हो जाया करते। न्याय भाष्य-(३,२,३२) मे एक ही आत्मा द्वारा भिन्न-भिन्न शरीरो के सञ्चालन की सम्भावना को असाधारण घटना माना गया है।

मीमासक भी आत्मा के अनेकत्व की प्राकल्पना को मानते है, इसलिये कि अनुभवो की विविधता की व्याख्या की जा सके। जिस प्रकार मेरी क्रियाये मेरी आत्मा के कारण है, इसी प्रकार दूसरो की क्रियाये अन्य आत्माओ के कारण है। आत्मा के गुणो की अपेक्षा जो भेद दिखाई देते है वे भिन्न भिन्न आत्माओ के कारण ही है।

जैन-दर्शन मे भी आत्मा की अनेकता मान्य है। जैन दर्शन कर्म की अलध्य व्यवस्था मे विश्वास करता है। जो प्राणी जैसा करता है वैसा ही फल भोगता है। आनुभविक स्तर पर हम सुख दु ख, अमीर-दरिद्र, जन्म-मृत्यु, रोग-शोक गत आदि विभिन्नताओ का अनुभव करते है, यह सब विभिन्नता कर्मजन्य है। प्रत्येक आत्मा पृथक् पृथक् कर्म करती है, तदनुसार कर्मफल भोगती है। यदि एक ही आत्मा होती तो एक को मोक्ष प्राप्त होते ही सब प्राणियो को मोक्ष प्राप्त हो गया होता। एक ही आत्मा है तो वह ससारी होगी या मुक्त, यदि वह ससारी आत्मा है तो सब प्राणियो को संसारी होना चाहिये और यदि वह मुक्तात्मा है तो सब प्राणियो को भी मुक्त होना चाहिये। अद्वैतवेदान्त मे एक ही आत्मा ब्रह्मरूप भी है और ससारियो मे भी व्याप्त है, यह किस प्रकार सम्भव है, जबकि शकर ने आत्मा को अविभागी व एक माना है? अद्वैत मानने वाले शकर एक ही आत्मा मे एक ही समय ब्रह्मरूप व निरा अज्ञानी व्यावहारिक स्तर

अपरिणामी होने से ससार दशा मे विकृत नही होता । पुरुष कर्ता नही हे वह तो प्रकृति के कर्तृत्व के साथ भ्रमवश कर्ता प्रतीत होता है । साख्य दर्शन मे पुरुष को भोक्ता तो माना गया हे, उसके अस्तित्व प्रमाण मे कहा गया है—

'पुरुषोस्ति भोक्तृभावत' (स० का० १७) । यहा शंका उठती है कि पुरुष कर्ता नही है तो भोक्ता कैसे हो सकता है ? कर्ता प्रकृति और भोक्ता पुरुष है । ऐसा माने तो इसका तात्पर्य है कि कर्म कोई और करे और भोक्ता कोई और हो, यह मान्यता तो नैतिकता के विरूद्ध है । अत, पुरुष को केवल भोक्त मानना, कर्ता नही मानना एक अस्पष्ट स्थिति है ।

मीमासा दर्शन मे, प्रभाकर मत मे आत्मा क्रियाशीलता, अनुभव सुखोपभोग आदि गुणो का अधिष्ठान है अर्थात् कर्त्ता भोक्ता है ।

बौद्ध दार्शनिको ने स्वतन्त्र नित्य आत्मसत्ता को न मानते हुए भी कर्तृत्व भोक्तृत्व को स्वीकार किया है । उनके अनुमार प्राणी अपने किये गये कर्मो का फल आगामी जीवन मे भोगता है ।

न्याय–दर्शन के अनुसार जीव प्रयत्नशील होने के कारण कर्ता, सुखी दुखी होने कारण भोक्ता है । किन्तु यह आत्मा का यह कर्तृत्व भोक्तृत्वादि गुण तभी तक रहता जब तक वह शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने पर इच्छा, सुख दु ख, कर्तृत्व, भोक्तृत्व सभी गुण लुप्त हो जाते है । जब मन व इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता हे तब ये गुण भी नष्ट हो जाते है । अर्थात् न्याय दर्शन के अनुसार ससारी अवस्था तक ही आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व गुण है, तत्पश्चात् नही ।

जैन-दार्शनिको ने आत्मा मे कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार किया है । जैनो की 'आत्मा' उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यात्मक परिणमन करने के कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर्याय से स्वय परिणत होता है । बन्धक भी उसका होता है और मोक्ष भी उसी का होता है । जैन-दर्शन मे शुद्ध आत्मा भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त मानी गई है ।

यदि आत्मा मे कर्तृत्व भोक्तृत्व न स्वीकार किये जायें तो आत्मा निष्क्रिय जड रूप हो जायेगी । आनुभविक स्तर पर भी हम देखते है कि 'मैं' को किसी न किसी क्रिया के माध्यम से ही जानते है, साख्य-दर्शन की स्थिति विचित्र है । चेतस पुरुष तो निष्क्रिय है और जड सक्रिय । प्रकृति के कर्तृत्व से वह भ्रमवश कर्तृत्वयुक्त प्रतीत होता है । एक चेतन सत्ता दूसरी जड सत्ता के प्रभाव से कर्तृत्वयुक्त-भोक्तृत्व कैसे प्रतीत होगी ? जब पुरूष निष्क्रिय सत्ता को कोई किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, शुद्ध रूप से ससारावस्था मे कैसे ला सकता है ?

आत्मा की प्रभुत्वशक्ति

यहा एक प्रमुख प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि आत्मा स्वय अपना प्रभु है अथवा किसी अन्य सत्ता पर वह आश्रित है ? सुख-दु ख जन्म-मरण मोक्ष आदि के लिए वह किसी पर आश्रित है अथवा स्वतन्त्र है ?

इस सन्दर्भ मे न्याय दर्शन का मत है कि प्राणियो का धर्म व्यवस्थापक, कर्मफलदाता व सुख दु ख का निर्णायक वह स्वय नही अपितु ईश्वर है । परमेश्वर ही जीवो को साधु तथा असाधु कर्म कराते है । जीव कर्म करने वाला है और परमेश्वर उन सब कर्मों को कराने वाले है अर्थात् हेतु कर्ता या प्रयोजन कर्ता है । वे ही सब जीवो के सब कर्मों के अध्यक्ष है ।

प्राप्त होने पर मानव को सासारिक दुखो से निवृत्ति मिल जाती है। इस प्रकार लगभग सभी भारतीय दार्शनिक आत्मा के दो भेद अथवा अवस्थाये स्वीकार करते है (१) सासारिक (२) मुक्त।

सासारिक स्थिति मे तो लगभग सभी दार्शनिको ने समान अवस्था स्वीकार की है किन्तु मुक्तावस्था मे सभी दार्शनिको ने आत्मा की अवस्था को भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वीकारा है।

न्याय-दर्शन के अनुसार आत्मा के दो माने है (१) जीवात्मा (२) परमात्मा।

जीवात्मा अनेक तथा प्रति शरीर मे भिन्न-भिन्न है। जीवात्मा के इच्छा, राग, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, और ज्ञान गुण है। जीव कर्त्ता, भोक्ता तथा अनुभवी है, किन्तु आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व, इच्छा, रागद्वेष गुण तभी तक रहता है जब तक वह शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है। शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने अथवा मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त और निर्विकार हो जाता है, उस अवस्था मे उसे न सुख रहता है न दुख, शरीर सापेक्ष धर्म है, अत. जब मन इन्द्रिय सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते है, उस अवस्था मे वह जड पाषाणवत् शून्य हो जाता है।

'परमात्मा' एक जगत् का सृष्टा, पालक व सहारक है। उसे सभी वस्तुओ तथा घटनाओ का यथार्थ ज्ञान है। अत. वह सर्वज्ञमयी है।

यहा स्पष्ट है कि न्याय दर्शन ने जीवात्मा व परमात्मा, आत्मा के ये दो ही स्तर माने है किन्तु उसकी मान्यता ने तीसरा भेद 'मुक्तात्मा' और स्वीकारा है, क्योकि जो आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है वह न तो जीवात्मा के स्तर का रहा, न परमात्मा के स्तर का, (क्योकि परमात्मा तो एक ही है) तब फिर मुक्त आत्माओ की न्याय दर्शन मे क्या स्थिति है ? न्याय दार्शनिक यह भी स्वीकार नही सकते कि मुक्त आत्माये परमात्मा मे विलीन हो जाती है, इस मान्यता से तो उसकी आत्मा के अनेकत्व को ठेस पहुचती है। तब मुक्त आत्माओ की स्थिति क्या है ? यह विचारणीय प्रश्न है।

साख्य दर्शन मे भी आत्मा के (१) लौकिक जीवात्मा व (२) पुरुष, दो भेद (स्तर) स्वीकार किये है।

जैन दर्शन मे मुख्यत जीवो के दो स्तर माने है (१) ससारी (२) मुक्त।

कर्मबन्धन से बद्ध जो जीव एक गति से दूसरी गति मे ससरण करते है, राग द्वेष युक्त है वे जीव ससारी है और जो इनसे छूट चुके है वे मुक्त है, अर्थात् मुक्ति या मोक्ष शब्द का अर्थ छुटकारा है, अत आत्मा के समस्त कर्म बन्धनो से छूट जाने को मोक्ष कहते है। जैसे धातु को गलाने तपाने से उसमे से मल आदि दूर होकर शुद्ध धातु प्राप्त हो जाती है वैसे ही आत्मा के गुणो को कलुषित करने वाले दोषो कर्मों को दूर करके शुद्ध आत्मा की स्थिति को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। जैन दर्शन मे न तो आत्मा के अभाव को मोक्ष कहा गया है– न आत्मा के गुणो के विनाश को। अपितु जैन दर्शन मे आत्मा एक स्वतत्र द्रव्य है जो ज्ञाता–दृष्टा है, किंतु अनादिकाल से कर्म बन्धन से बन्धा हुआ होने के कारण अपने किये हुए कर्मो का फल भोगता रहता है। जब वह उस कर्म बन्धन का क्षय कर देता है तो मुक्त कहलाने लगता है।

मुक्तावस्था मे जीव के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्तवीर्य आदि स्वाभाविक

जैन दर्शन की परिमाण, परिणमन, पुरुषार्थ के द्वारा अपने शुद्ध रूप मे स्थित होना, आदि के बारे मे अत्यन्त स्पष्ट व युक्ति सगत मान्यता है। इस प्रकार हम देखते हे कि व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनो ही स्तर पर जैन दर्शन की मान्यता उचित व उपयुक्त है। दोनो ही स्तर पर यह मानवीय शकाओ का निराकरण करती है।

कहा मुडाए मूंड बसे कहा मट्ठका।
कहा नहाए गग नदी के तट्टका॥
कहा वचन के सुने कथा के पट्टका
जो बस नाहि तोहि पसेरी अट्ठका॥

अर्थ—जब यह आठ पसेरी का मन ही तुम्हारे वश मे नही है तो हे मनुष्य सिर मु डवाने, मठ मे रहने, गगा मे रहने अथवा कथा पाठ के सुनने से क्या काम ? अर्थात् किन्चत भी लाभ नही है।

भैया भगवती दास

समझने के लिए भी टीकाओ की आवश्यकता पडती है। विना गुरु सहयोग के इनसे भी ग्रन्थो का समझना सरल नही है। अष्टसहस्त्री को कष्ट-सहस्त्री का रूप देना उसकी शैली का महात्म्य ही तो है।

प्राचीन न्याय से नव्य न्याय को सरल होना चाहिये किन्तु यह नव्य न्याय प्राचीन न्याय से भी कष्ट साध्य सिद्ध हुआ है।

किन्तु हमारा प्रकृत ग्रन्थ जैनदर्शनसार सभी दृष्टियो से सरल एव सुबोध है। न उसमे अवच्छेदकावच्छिन्नत्व की झडी है न दीर्घ समास और न दार्शनिक कठिन एव जटिल परिभाषाये। सारे विषय को सरल शैली मे आधुनिकता को लिए हुए समझाया है। यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थो मे उतनी सरलता एव सरसता तो आ ही नही सकती जितनी कि साहित्यादि रोचक विषयो मे आया करती है। किन्तु फिर भी विषय को समझने के लिए इतनी कठिनता नही पडती जितनी कि अन्य दार्शनिक ग्रन्थो के समझने मे पडती है। अत कहना पडेगा कि समस्त ग्रन्थ सुबोध गद्यात्मक शैली मे रचा गया है।

विषय

जिसका नाम ही 'जैनदर्शनसार' है फिर जैन दर्शन का कौनसा विषय इसमे नही हो सकेगा, सभी होगे। ग्रन्थ कर्ता ने मगलाचरण से लेकर, अन्त तक उन सभी विषयो का वर्णन अपने प्रतिपाद्य ग्रन्थ मे कर दिया है।

जैन दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति है जो कि सभी भारतीय दर्शनो का अपना एक है। जैन दर्शन का प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ तत्वार्थ सूत्र है जो आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ का आदि सूत्र "सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" है। ग्रन्थ कर्ता ने भी इसी सूत्र को आधार बना कर ग्रन्थ की सगति प्रारम्भ की है। मोक्ष की प्राप्ति किस को होती है और किन से मोक्ष मिलता है। इन सभी तत्वो का दिग्दर्शन ग्रन्थ मे सुचारू रूप से कराया गया है।

तत्व विवेचन

जैनदर्शन मे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर-निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्वो की प्रमुखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इन सातो तत्वो का खुलासा विवेचन किया गया है।

'द्रव्य सग्रह' का आधार लेकर जीव के नव अधिकारो का वर्णन अपनी स्वय की विशेषता रखता है। तर्क वितर्क एव शका समाधानो के साथ सभी अधिकारो का सक्षिप्त एव सुन्दर विवेचन किया है। इन्ही नवो अधिकारो के बीच आत्मा की सनातन सिद्धि ग्रन्थ की अपनी स्वय की मौलिकता है। आत्मा को ससारावस्था मे शरीर प्रमाण सिद्ध करना और उसका व्यापकपना वटकणिका मात्रपना, अणु प्रमाणपना इत्यादि न होना अनेको युक्तियो से निषेधा गया है। सभी युक्तिया प्रमाण नय और निक्षेपो से युक्त अत्यन्त मनोरम हैं।

आत्मा के अध्यात्म भाषया तीन रूप जो कि आध्यात्मिक ग्रन्थो मे बताये गये है ग्रन्थ कर्त्ता ने उन तीनो का विवेचन सोदाहरण करके पाठको का अज्ञान दूर किया है। आत्मा का बहिरात्म रूप कर्मोपाधि सहित होने से हेय बतलाया है और अन्तरात्मरूप साधक रूप मे स्वीकार किया है। तीसरा परमात्म रूप पद जिसको दो भागो मे विभक्त किया है सकल परमात्मपद और निकल

दोहि जैनागमस्य बीज" अर्थात् स्याद्वाद जैनागम का बीज है। स्याद् का अर्थ कथचित् और वाद का अर्थ सिद्धात है। जिस वाद मे स्यात् की प्रधानता है वह स्याद्वाद है। ग्रन्थकार ने इसे निराग्रहवाद भी कहा है। इसमे उन्होने वस्तु का नित्यानित्यपना, सदसदात्मकपना द्रव्य–पर्यायात्मकपना, सामान्य विशेषात्मकपना, सिद्ध किया है। उन्होने कहा है कि वस्तु सामान्यतया उदित भी नही होती और नष्ट भी नही होती बल्कि विशेष रूप से उदित भी होती है और व्यय भी होती है।

सप्तभगी विवेचन

सप्तभगी विवेचन मे ग्रन्थ कर्त्ता ने स्यादस्ति, स्याद्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्याद्अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्याद्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य इन सातो भगो का सोदाहरण एवं सलक्षण निरूपण किया हे। "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभगी"। अकलकदेव के इस लक्षण की सिद्धि कई शका समाधानो के साथ की है।

अहिंसा

जिस प्रकार ग्रन्थकर्त्ता ने सप्तभगी विवेचन अनेको उदाहरणो शका समाधानो एव उद्धरणो के साथ किया है वैसे अहिंसा का विवेचन भी ग्रन्थ कर्ता की मौलिकता है। "प्रमत्तयोगात् प्राण–व्यपरोपण हिंसा" इसी सूत्र के आधार पर सम्पूर्ण विवेचन है। द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा का विवेचन अनेको प्रश्नोत्तरो के साथ किया है प्राणघात होते हुए भी यदि भावो मे विकृति नही है तो वह हिंसा नही कहलायगी और यदि भावो मे विकार है तो चाहे प्राणघात न हो तब भी हिंसा है। इसमे किसान को हिंसा करते हुए भी अहिंसक और धीवर को हिंसा न करते हुए भी हिसक सिद्ध किया है। गृहस्थ को आरम्भी उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्यागी न बता कर सकल्पी हिसा का त्यागी बताया है और मुनि को सर्वथा अहिंसक सिद्ध किया है। मन्त्र, औषधि, देवता, यज्ञ और अतिथियो के लिए भी हिसा करना वर्जित बताया गया है। इस प्रकरण मे कई आचार्यो के उद्धरण दिये है और सिद्ध किया है कि अहिंसा ही सब धर्मो की जननी है।

जाति तत्व मीमांसा

ग्रन्थ मे जाति तत्व को बडे ही सुन्दर ढंग से समझाया है। सर्वप्रथम यही कहा गया है कि जब तक जाति नाम का मद नष्ट नही होता सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही होती जो कि रत्नत्रय की नीव है। एकेन्द्रियादि जाति अथवा मनुष्य पशु इत्यादि जातियो पर ही विशेष बल दिया है। अन्य जातिया धन्धो अथवा पेशो के आधार से ही मानी गई है जो अपना पृथक मूल्य रखती है इसमे ऊच और नीच का प्रश्न ही नही पैदा होता है। जिन शासन मे इस प्रकार के जातिवाद को कोई स्थान नही जहा मानव की मानवता नष्ट की जाती है।

निक्षेप

अर्थो का शब्दो मे और शब्दो का अर्थो मे आरोप करना निक्षेप कहलाता है इसके आरोप, निक्षेप, न्यास, विन्यास आदि कई नाम है। ग्रन्थ मे इसके चार भेद नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के रूप मे गिनाये गए है। इन नामादिको को वडी सुन्दर युक्तियो के साथ उत्तमोत्तम उदाहरण देकर ग्रन्थकर्त्ता ने पाठको के सम्मुख रखा है।

इस प्रकार पडितजी की 'जैनदर्शनसार' दर्शन शास्त्र की अमर कृति है।

है, जो उनके ग्रन्थो मे विकशलित उपलब्ध होते है। किन्तु गृद्धपिच्छ ने उनका विशकलित भी प्रयोग नही किया। विकास सिद्धान्त के अनुसार ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

समन्तभद्र ने उक्त अवयवत्रय के प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ यहा प्रस्तुत हैं—

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्था प्रत्यक्षा कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति ॥

(ख) अस्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद विवक्षया ॥

जैन न्याय के विकास क्रम मे समन्तभद्र के पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेन का महत्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेन ने न्यायावतार मे पक्षादि वचन को परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवो का स्पष्टत. निर्देश किया है तथा प्रत्येक का स्वरूप विवेचन भी किया है। देखिए का० १४,१७,८१,१६, उत्तरकाल मे प्रतिपाद्यो की दृष्टि से अवयव प्रयोग ।

सिद्धसेन तक जैन चिन्तको ने सामान्यतया तीन अवयवो के प्रयोग की मान्यता को स्वीकार किया है। पर उत्तरकाल मे प्रतिपद्यो को दो वर्गों मे विभक्त कर उनकी अपेक्षा से अवयवो के प्रयोग का कथन किया है। प्रतिपाद्य दो प्रकार के है—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न।

अकलकदेव ने अवयवो की समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवो का समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी है, जिनमे दृष्टान्त नही मिलता। पर वे उक्त दो अवयवो के सद्भाव से समीचीन माने जाते है। अकलक पक्ष और हेतु की समीक्षा न कर केवल दृष्टान्त की मान्यता का आलोचन करते हुए कहते है कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नही है। सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्। अन्यथा सर्वभावाना प्रसिद्धोऽय क्षणक्षय. ॥) न्या०वि० ३८ अत एव अकलक के विचार से किन्ही प्रतिपाद्यो के लिए या कही पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त है। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्य विशेष अथवा स्थल विशेष की अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नही।

आ० विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षा मे कुमारनन्दि भट्टारक ने वादन्याय के, जो आज अनुपलब्ध है, कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये है, जिनमे बताया गया है कि परार्थानुमान के अवयवो के प्रयोग की व्यवस्था प्रतिपाद्यो के अनुसार की जानी चाहिए।

जैसा कि विद्यानन्द के उल्लेख से प्रकट है कि अवयव व्यवस्था मे नया मोड स्पष्टतया आ० कुमारनन्दि ने उपस्थित किया है। उन्होने अवयवो के प्रयोग को 'प्रयोग परिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधत' कह कर उनका प्रयोग प्रतिपाद्यो के अनुसार बतलाया है।

विद्यानन्द ने अकलक और कुमारनन्दि से प्रकाश पाकर प्रतिज्ञा और हेतु को व्युत्पन्न प्रतिपाद्यो तथा शेष अवयव को अव्युत्पन्नो प्रतिपाद्यो की अपेक्षा प्रतिपादित किया है। 'बोध्यानुरोधमात्रातु शेषावयवदर्शनात्'। पत्रपरीक्षा पृ० ३।

'तत्वार्थश्लोकवार्तिक' मे विद्यानन्द ने तीन प्रकार के बोध्य बतलाये है.

१. सन्दिग्ध,
२. विपर्यस्त और
३. अनध्यवसित।

माणिक्यनन्दि ने अपने 'परीक्षामुख' मे बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि 'एतद्द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम्' प० मु० ३।१७।

स्वार्थानुमान के विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनो से श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ता के वचन उसके कारण होने से उपचारत परार्थानुमान है।

विचारणीय है कि वक्ता का कितना वचन समूह प्रतिपाद्य के लिए अनुमेय की प्रतिपत्ति मे आवश्यक है? न्यायसूत्रकार १ और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट प्रभति न्याय परम्परा के तार्किको तथा प्रशस्तपाद[२] आदि वैशेषिक विद्वानो का मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु,[३] उदाहरण[४], उपनय[५] और निगमन[६] ये पाच वाक्यावयव अनुमेय प्रतिपत्ति मे आवश्यक है। इन मे से एक का भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नही हो सकता और न प्रतिपाद्य को अनुमेय की प्रतिपत्ति हो सकती है[७]।

साख्य विद्वान युक्तिदीपिकाकारने[८] उक्त पचावयवो मे जिज्ञासा, सशय योजन, शक्य प्राप्ति और सशयव्युदास इन पाच अवयवो को और सम्मिलित करके परार्थानुमान के दशावयवो का कथन किया है। परन्तु माठर ने[९] परार्थानुमान वाक्य के तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये है। साख्यो की यही त्रिरवयव मान्यता दार्शनिको द्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान दिङनाग के शिष्य शकर स्वामी का[१०] मत है कि पक्ष हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्विको को अप्रतीत अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव है। धर्मकीर्ति[११] इन तीन अवयवो मे से पक्ष को निकाल देते है और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतु को ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते है।

---

४ परार्थ तु तदर्थ परामर्शिवचनाज्जात। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्

५ प्रतिज्ञाहेतूदारणोपनयनिगमनान्यवयवा । न्यायसू० १।१।३२

६ अवयवा पुन प्रतिज्ञाऽपदेश निर्शनानुसन्धान प्रत्याम्नाय । प्रश० भा० पृ० ११४, ३, ४, ५, ६ प्रशस्तपाद ने हेतु के स्थान मे अपदेश, उदाहरण के लिये निदर्शन, उपनय की जगह अनुसन्धान और निगमन के स्थान मे प्रत्याम्नाय नाम दिए है। पर अवयवो की पाच सख्या तथा उनके अर्थ मे प्राय कोई विशेष अन्तर नही है।

७ वात्स्या भाष्य १।१।३९, १ ५३।

८. युक्तिदीपि कार १ की भूमिका तथा का० ६ पृ० ४७—५१

९. पक्षहेतु दृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्—माठर (का० ५ की) वृत्ति

१० न्याय प्र० पृ० १,२ (११) प्रमाण वा० १।१२८। हेतुवि० पृ० ५५।

१२. प्रकरण प० पृ० २२०।

८

परिग्रह-परिमाण व्रत और समाजवाद

पूर्णचन्द्र जैन, एम० ए० शास्त्री

दृश्यमान जगत का प्रत्येक प्राणी कल्पित सुखो की प्राप्ति एव दुखो की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्नशील है। वर्तमान युग भौतिकता का युग है अतएव सभी मनुष्य भौतिक-सुखो को ही अपना प्रिय समझ कर उन्ही सुख साधनों की पूर्ति हेतु प्रशस्त अथवा अप्रशस्त मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। प्रत्येक प्रवृत्तिमूलक आचारवादी तथा संग्रही प्रवृत्तिवाला होने के कारण स्वार्थजन्य शत्रु-मित्रता को ही जन्म देता है जो कि मानसिक द्वन्द तथा सामाजिक क्रान्ति जैसी भारी अस्थिरता को ही जन्म देती है।

ससार मे व्यक्तियो की संख्या सीमित है, किन्तु उनकी इच्छाए अनन्त एव असीमित है जिन्हे प्राप्त सीमित साधनो के द्वारा सन्तुष्ट नही किया जा सकता। सुख साधनो के प्रति असीमित इच्छाओ का उद्वेलन ही वर्ग सघर्ष एव विश्वसघर्ष का जन्मदाता है। वर्ग सघर्ष का अभाव तथा विश्वशान्ति को सुरक्षित एवं स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी इच्छाओ को सीमित करे।

भौतिक जगत की वे वस्तुएं जिन पर व्यक्ति या देश का स्वामित्व होने के कारण वह सर्वसामान्य की अपेक्षा विशेष सम्माननीय एव प्रभावशाली माना जाता है वे है जमीन जायदाद, महल, मकान, धन आदि। यही बाह्य परिकर ही व्यक्ति या देश को स्वार्थी बनाता है क्योकि इस परिकर का सचय बिना किसी मनुष्यो को कष्ट दिये सम्भव नही है। इस कार्य मे प्राणियो तथा मनुष्यो का शोषण अनिवार्य है जो कि वर्ग सघर्ष तथा विश्व सघर्ष का जनक है। समाजवाद तथा साम्यवाद इसी के प्रतिरूप है।

जब जब भी किसी समस्या विशेष ने जन्म लिया, प्रबुद्धमानव ने उसके निराकरण के उपाय अवश्य खोज निकाले। कुशल चिकित्सक जिस प्रकार असाध्य रोग को क्रमश शमित करने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार आचार्य उमास्वामी तथा परवर्ती जैन चिन्तको मे से नीतिशास्त्रकार प० आशाधर ने मानव-समाज व्यवस्था एव शान्ति को ध्यान मे रख कर व्यक्ति की सचय-प्रवृत्ति जैसी बीमारी से छुटकारा पाने के लिए पचाणुव्रत रूपी महौषधी प्रदान की। जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

(१) मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्रकार से प्राणीमात्र के प्रति अहितकारी कार्य न करना।

प्राय प्रयत्न साध्य है जब कि असद्कार्य सहज एव आकर्षक होते है ।

असद् कार्यो मे प्रवृत्ति सदैव विध्वसात्मक होती है । अत समाज मे एकरूपता लाने के लिए व्रतो की उपादेयता स्वय सिद्ध है । व्यक्ति समाज की एक इकाई है । अनेक व्यक्तियो के मेल मे समाज का निर्माण होता है । जिस समाज मे जिस स्तर के व्यक्ति को समाज को उन्नत रूप प्रदान करने के लिए अपने कर्तव्य के अनुरूप सदाशयी एव नैतिक-गुणो का धारक होना चाहिए । समाज की सुव्यवस्था, शान्ति सौहार्द तथा सृजन के वातावरण के लिए नैतिक मूल्यो के निर्धारण की आवश्यकता है, जिसके फलस्वरूप समाज मे विभिन्न वर्गों के भेद भाव से उत्पन्न होने वाले सघर्ष, अतिसचय की भावना ऊच नीच की भावना, दुराचरण, झूठ-चोरी, हत्यायें तथा अन्त मे युद्ध आदि प्रलयकारी मनोवृत्तियो को रोका जा सकता है, सुधारा जा सकता है क्योकि इन सभी बुराईयो की जड एक-मात्र भौतिकवादी दृष्टिकोण है ।

वर्तमान युग मे भौतिक मूल्यो के आधिक्य के कारण सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक वातावरण भी पूर्णत भौतिकता से प्रभावित होता जा रहा है । फलस्वरूप सर्वत्र केवल अर्थ की प्रतिष्ठा तथा नैतिकता की उपेक्षा की जा रही है । 'सर्वे गुणाः काचनमाश्रयन्ति" के अनुसार अर्थ की ही प्रधानता है । प्रत्येक व्यक्ति काले या सफेद माध्यमो से लक्ष्मीपति बनने का प्रयास कर रहा है । वर्तमान सभ्य-ससार को अलंकृत करने वाले व्यक्तियो की रूपसज्जा, सौन्दर्य प्रसाधन और उनके मनोरञ्जन के साधन उपन्यास, नाटक, नौटकी, सिनेमा, वस्त्र, भोजन की विविध सामग्री एव स्वाद लिप्सा, परिधान का ढग तथा इन सबके आधार पर निर्मित समाज का वातावरण मनसा वाचा, कर्मणा व्यभिचार एव दुराचरण का साधन बन गया है । नैतिकता को ताक मे रखकर युद्ध और शोषण का विश्व व्यापी दौर चल रहा है ।

आज के युग मे जीवन की परिभाषाये बदलती जा रही है । आजकल "जीने की अपेक्षा भोग-विलास मे—अनियन्त्रित रूप से सलग्न रहने का नाम ही जीवन है ।" तदर्थ धनोपार्जन के लिये नैतिक तथा अनैतिक साधनो का प्रयोग किया जा रहा है । निर्धन—वर्ग अति निर्धन तथा अमीर वर्ग और धनिक बनता जा रहा है । शोषण का बाजार चारो ओर गर्म है । मजदूरवर्ग तथा पूंजी पतियो के बीच सघर्ष ही इसका प्रतिफल होगा । विस्तृत क्षेत्र मे इसी के प्रतिरूप उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद एव युद्ध तथा अन्त मे जातीय एव सास्कृतिक परम्पराओ का लोप हो जाता है । युद्ध से नागरिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है, सम्पत्ति का विनाश व्यापारियो मे मुनाफा खोरी, चोर बाजारी, अतिसग्रह तथा घूसखोरी आदि अनैतिक प्रवृत्तिया जन्म ले रही है । ऐसी अवस्था मे यह नितान्त आवश्यक है कि समूचे विश्व मे पुन नैतिकता के मूल्यो की स्थापना की जाये तथा मनुष्य के भौतिकवादी दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाया जाय अन्यथा विज्ञान की बढती हुई विनाशकारी शक्तियो मानव जाति का कभी नाम निशान समाप्त कर सकती है । अतएव मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान करते हुए अपनी लालसाओ को सयमित करना होगा । जिसका एक मात्र माध्यम अणुव्रतो का अनुसरण करना ही है । अणुव्रतो के माध्यम से व्यक्ति के सुधार के बाद समाज तथा विश्वसुधार किया जा सकता है ।

अणुव्रत कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र और विश्व के मनुष्यो एव समस्त प्राणियो के प्रति व्यक्ति के व्यवहार की नैतिक गारन्टी है । क्योकि "मनुष्य के कर्तव्यो की व्यवस्थित व्याख्या का नाम ही अणु-

परिग्रह के दोष

जैसा कि पहले कह चुके है कि परिग्रह ही अनन्त अनर्थो का मूल है। व्यष्टिगत, समष्टिगत, देशगत अथवा विश्वव्यापी जितने सघर्ष हुए है वे सभी अतिसग्रह, ममत्व भाव तथा दुराग्रहवादिता के कारण ही हुए है। प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार आशाधर ने परिग्रह जन्य दोषो को इस प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार रात्रि मे अन्धकार बढता है वैसे ही मानव-समाज मे परिग्रही व्यक्ति के प्रति अविश्वास बढता है। अग्नि को बढाने के लिए जिस प्रकार घी सहायक होता है उसी प्रकार पदार्थो के प्रति मोह या तृष्णा को प्रज्वलित करने लिए परिग्रह सहयोगी होता है तथा व्यक्ति के मानस सागर मे इच्छाओ के ज्वार आने लगते है।

परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार

परिग्रह की सूक्ष्म एव स्पष्ट विवेचना करते हुए गृहस्थ धर्म शास्त्रकार आशाधर ने कहा—

वास्तु क्षेत्रे योगात् धनधान्ये वन्धनात् कनकरूप्ये ।
दानात् कुप्ये भावान्न गवादी गर्भतो मितिमतीयात् ।।
सा धर्मामृत६४। ४

अर्थात् १–वास्तु क्षेत्र योग, २–धन धान्य बन्धन, ३–कनकरूप्यदान ४–कुप्यभाव तथा ५–गवादिगर्भ के विषय मे निर्धारित मर्यादा का उल्लघन करना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार नामक दोष होने से नैतिक अपराध है।

१. क्षेत्र वास्तुयोगातिचार

वास्तु अर्थात् घर, ग्राम, नगर या देश की मर्यादा का उल्लघन करना। यथा घर की मर्यादा लम्बाई, चौडाई तथा सख्या सीमित होने पर उसे दो या तीन मजिला बनवाना अथवा दो मकानो को मिलाकर एक कर लेना। दूसरे देशो की सीमा मे अपने देश की सीमा निर्धारित करना। नगरो और ग्रामो को राजाओ द्वारा अपने राज्य मे मिला लेना।

२ धनधान्य बन्धनातिचार

धन–गणिम, धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से चार प्रकार का है। व्यक्तिगत तथा व्यापारिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर सीमोल्लघन के भय से कभी-कभी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने पास न रख किसी दूसरे के सरक्षण मे रख देता है। व्यापारी अपना माल दूसरे व्यापारी के यहा बन्धक करा देता है। इस तरह वस्तुओ की प्राप्ति के अभाव मे सामान्य जनता को बहुत कष्ट का सामना करना पडता है तथा श्रावक कम होने से वस्तुओ के मूल्य भी बढ जाते है। जीवनोपयोगी वस्तुओ का अतिसग्रह करना मानवता का हनन करना है।

३ कनकरूप्यदानातिचार

सोना, चादी को सीमाति रोक के भय से दूसरो परिचितो के पास रख देना अथवा छोटे गहनो को बढा लेना या जमीन मे गाड देना आदि।

४ कुप्यभावातिचार

स्वर्ण तथा चादी से भिन्न ताम्बा, पीतल, बास, लकडी मिट्टी आदि तथा इनसे बने हुए उपकरणो का व्यापार या प्रयोग करना तथा सीमातीत होने पर उन्हे दूसरो के पास सुरक्षित रखना।

५. गवादि गर्भातिचार

गाय, भैस आदि के गर्भाधान होने पर सीमा का उल्लघन होते भी पशुओ को रखना। आचार्य

है। अतएव स्वार्थवद्ध दृष्टि होने से ऐसा व्यक्ति साम्यवाद का कभी पोषक नही हो सकता। ऐसे ही भेद–भाव को दूर करने के लिए प्लेटो ने पारिवारिक साम्यवाद को निम्न आधारो पर खडा किया है—

(१) सरक्षक वर्ग की पारिवारिक सस्था की समाप्ति।

(२) पति–पत्नी के सम्बन्धो का अन्त।

(३) स्त्री पुरुप का सम्भोग सयोग केवल देश के लिए अच्छी सन्तान प्राप्ति हेतु।

(४) उत्पन्न वच्चो पर समाज का अधिकार।

(५) सम्राट् पूर्णत ब्रह्मचारी तथा (६) उत्पादक वर्ग पर किसी प्रकार का वन्धन नही।

इसी प्रकार के साम्यवाद की कल्पना अप्रायोगिक ही नही हास्यास्पद भी है। क्योकि ऐसा करने से समाज स्वत दो भागो मे विभक्त हो जायेगा और समाज मे भ्रष्टाचार फैल जायेगा। मनुष्य केवल मशीन के एक पुर्जे की तरह ही अस्तित्वहीन हो जायेगा। समाज शास्त्री वीसेज के अनुसार–"परिवार एक आधारभूत एव सार्वभौमिक सस्था है। प्रत्येक समाज का जीवन इसी पर निर्भर है। अतएव इसे समाप्त नही किया जा सकता।"

रूस, चीन अमेरिका जैसे भौतिकवादी प्रगतिशील देशो मे प्रचलित उपरोक्त वादो से भारतीय प्रवुद्ध विचारक भी अप्रभावित नही रह सके। उन्होने प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्रो के परिप्रेक्ष्य तथा सस्कृति क परिवेश मे प्रजातन्त्रात्मक राज्य की कल्पना को मूर्त्त रूप प्रदान किया। भारतीय सविधान व्यक्ति को अपने वहुमुखी विकास के समान रूप से के अवसर प्रदान किये है। महात्मा गाधी ने भी अपने सर्वोदय सिद्धात के द्वारा व्यक्ति को उसके सर्वागीण विकास के लिये अपनी एक निजो परिकल्पना प्रदान की है। इसके अन्तर्गत वर्ण तथा वर्गहीन समाज मे ग्रामीण स्वराज्य का आधार अहिसा एव प्रेम को ही बनाया है।

परिग्रह–परिमाण व्रत एवं समाजवाद

वर्तमान विश्व मे प्रचलित समाजवाद, व्यक्ति के विकास के प्राचीन मार्ग का ही एक नया रूप है। भारतीय चिन्तको ने अपरिग्रहवाद के रूप मे इसे बहुत पहिले ही प्रतिपादित किया था। जिसके परिणाम स्वरूप ही विश्व मे हुए अपने उतार-चढाव के वाद ही मानव जाति शाति से जी सकी। २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने 'जीओ और जीने दो'' का सिद्धात का प्रतिपादन मानव के समान रूप से विकास को ध्यान मे रखकर किया था। आचार्य जिनसेन के अनुसार मनुष्य जाति एकैव जातिकर्मोदयोद्भवा" अर्थात मनुष्य मात्र मे देश गत, जाति या वर्णगत कोई भेद नही प्रत्युत मानव मात्र की एक ही जाति है। अतएव सभी को अपने विकास के साधन एव अवसर मिलना चाहिये।

परिग्रहपरिमाण व्रतानुसार पदार्थो के सग्रह की मर्यादा का विधान हे। साथ ही अपनी आवश्यकताओ से अधिक सग्रहीत वस्तुओ को उन्हे जिनके पास उनका अभाव है, प्रदान कर देना चाहिये। "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्" उपरोक्त कथन की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति से अधिक सग्रह न करे जिससे समाज के अन्य सदस्यो की आवश्यकताये भी पूर्ण हो सके। इस तरह साम्यवाद, समाजवाद एव सर्वोदयवाद अपने

६

जैन दर्शन में स्याद्वाद सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रमाण ज्ञान का विषय

प० मूलचन्द जैन शास्त्री

जैन दर्शन या आर्हत दर्शन मे सामान्य रूप से यावत् सत् को परिणामी नित्य माना गया है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला सत्[1] होता है, प्रत्येक सत् अनन्त धर्म विशिष्ट कहा गया है। इस अनन्त धर्म विशिष्ट सत् का यथार्थ रूप मे प्रतिपादन करने वाला या एक धर्म मुखेन उस सत् रूप पदार्थ मे रहे हुए अनन्त धर्मों को एक साथ विषय करने वाला प्रमाण है—प्रमाण वह स्फार प्रकाश वाला दीपक है कि जिससे पूर्ण प्रकाशित हुई वस्तु का कोई भी अ श अज्ञान नही रह पाता है। यद्यपि जैन दार्शनिको ने पदार्थ के मौलिक रूप को जानने के लिये दो साधनो का उपदेश[2] दिया है, परन्तु उनमे से प्रथम साधन द्वारा ही ऐसा है जो स्याद्वाद सिद्धान्त की शिखर पर पूर्णकलश की तरह

१. "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्"-तत्वा० सू० अ० ५
२ "प्रमाण नयैरधिगम " तत्वा० सू० अ० १

शेष पृष्ठ १४० का

के लिए जैन सस्कृति की देन है। प्रत्येक जैन व्यक्ति अनासक्तभाव से सम्पत्ति का सचय करता है तथा समय आने पर वर्णगत एव धर्मगत भेद भावो को भूल कर मानवता की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पित कर देता है। चक्रवर्ती भरत तथा राजर्षि जनक ऐसे ही परिग्रह-प्रमाणव्रती थे जिहोने अपार सम्पत्ति के बीच रहते हुए भी उससे अशमात्र भी ममत्व नही रखा। प्रत्येक जैन गृहस्थ देवदर्शन के साथ ही अपनी ली गई मर्यादा का स्मरण तथा अनुसरण करने की प्रतिज्ञा करता है साथ ही अधिक वस्तुओ को नि.सकोच दूसरो को प्रदान करता है। उसकी यह भावना सच्चे समाजवादी होने को प्रमाणित करती है।

क्षेम सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान-धार्मिको भूमिपाल
काले काले च सम्यक वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।।
दुर्भिक्ष चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके।
जैनेन्द्र धर्मचक्र प्रभवतु सततं सर्वसौख्य प्रदायी।।

●●

गुण के साथ वस्तु मे रहे हुए अन्य अविवक्षित-नास्तित्व-अवक्तव्य आदि अनेक गुणो की अभेद-वृत्ति एव अभेद का उपचार लेकर परस्पर मे अभिन्नता की ओर है। तात्पर्य इसका इस प्रकार है—जीवादिक वस्तुओ मे जिस समय अस्तित्व गुण वर्तमान हे उसी समय उसमे और भी अनन्त गुण मौजूद है। ऐसा तो हे नहीं कि जिस समय अस्तित्व गुण मौजूद हो उस समय अन्य अशेप-गुण उनमे मौजूद न हो। जब पुत्र ऐसा कहता है कि "यह मेरा पिता है" तो पितृत्व धर्म की उपस्थिति मे और जो पतित्व भागिनेयत्व, पितृव्यत्व, आदि धर्म है वे भी उनमे उस समय रहे हुए हैं। नय की दृष्टि मे ही वस्तुगत अन्य अविवक्षित धर्म गौणता की कोटि मे प्रक्षिप्त हो जाते है और प्रमाण की दृष्टि मे ये ही सब धर्म एक गुण के प्रतिपादन द्वारा सबके सब उसी समय ग्रहीत कर लिये जाते है।[५] इस तरह काल की अपेक्षा लेकर एक विवक्षित हुए धर्म के साथ अन्य अविवक्षिति धर्मो की अभेदवृत्ति[६] बन जाती है। अस्तित्व गुण जिस प्रकार जीव का स्वभाव है उसी प्रकार और भी शेप धर्म उसके स्वभावरूप हे। आत्म स्वरूप है, यह आत्मरूप की अपेक्षा से उस विवक्षित धर्म के साथ अन्य अविवक्षित गुणो की अभेदवृत्ति है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुए विवक्षित हुए अस्तित्व धर्म की आधारभूत है, उसी प्रकार वे और भी धर्मो की जो उसमे रहे हुए हैं आधारभूत है। इस तरह यह आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य धर्मो की अभेदवृत्ति है। जीवादि द्रुतधर्मो को ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सातो मे से एक किसी-किसी धर्म की मुख्यता से समान धर्मो के ग्रहण करने मे प्रमाण सप्त भगी घटित हो जाती हैं। शका—भग सात ही होते है इसका कारण क्या हे ?

उत्तर—जानने वाले के प्रश्न सात होते है

प्रश्न—सात प्रकार के प्रश्न होने मे कारण क्या है ?

उत्तर—सात प्रकार की जिज्ञासा।

प्रश्न—सात प्रकार की जिज्ञासा क्यो होती है ?

उत्तर—क्योकि सात प्रकार के सशय होते है।

प्रश्न—सात ही प्रकार के सशय होने मे क्या कारण हे ?

उत्तर—सात प्रकार के संशय होने का कारण उसके विपयभूत सात प्रकार के वस्तुधर्मो का होना है।

---

५ "प्रमाणप्रतिपन्नानत धर्मात्मक वस्तुन कालादिभिरभेदवृत्ति-प्रधान्यादभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वच सकलादेश स्याद्वादरत्नाकार-स्याद्वादमजरी।

६ "तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्काला शेपा अनन्तधर्मो वस्तुन्येक त्रेति तेषां कालेनाभेद वृति। यदेवास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूप तदेवान्यायनन्त गुणानामपीति आत्मरूपेणा-भेदवृत्ति, य एवाधाराऽर्थो द्रव्याख्यो ऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्ति, य एवाविष्वग्भाव कथञ्चित् तादात्म्यलक्षणः सबधो ऽस्तित्वस्य स एव शेप विशेषाणामिति सबधेना भेदवृति, य एव चोपकरो ऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरण स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्ति, य एवगुणिन सबधी देश क्षेत्र लक्षणो ऽस्तित्वस्य स एवान्य गुणानामिति गुणि देशेनाभेद वृत्ति इत्यादि-स्याद्वाद मंजरी पृ० २८४।

को ग्रहण करने की ओर है तो वह दृष्टि अशग्राहीनय रूप है।

शका प्रमाण सप्तभगी मे और नय सप्तभगी मे जो स्यात् शब्द का प्रयोग होता है सो नयसप्त भगी मे तो यह उचित है क्योकि वहा यह शब्द प्रतिपादित हुए उस धर्म की मुख्यता बतलाता है और शेष अविवक्षित धर्मो की गौणता। प्रमाण सप्त भगी मे तो यह बात नही। क्योकि विवक्षित एक धर्म के द्वारा अन्य अविवक्षित हुए धर्म गृहीत ही हो जाते हे है अत इसका प्रयोग यहा निरर्थक ही प्रतीत होता है क्योकि यहा किसी भी धर्म की मुख्यगौण विवक्षा नही है।

उत्तर पहिले हमे यह समझ लेना चाहिये कि वाक्य के साथ जोडा गया यह "स्यात्" किस अर्थ का कथन करने वाला हे—स्यात् शब्द अव्यय–निपात–रूप है और यह किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा इस अर्थ का द्योतक या कथक है। यह शायद, भ्रमवाद, अनिश्चयवाद, सम्भ–ववाद आदि का कथक नही है। 'स्यात्' शब्द से यह ज्ञान हो जाता है कि वस्तु केवल उस विवक्षित धर्म वाली ही नही है किन्तु इससे अतिरिक्त और भी धर्म इसमे विद्यमान है। परन्तु वर्तमान मे इस धर्म की विवक्षावश मुख्यता हो रही है। एतावता अन्य अशेष विद्यमान धर्मो का इसमे अभाव नही है। विवक्षित धर्म यदि यह समझता हो कि मै ही इस समय इस वस्तु मे मुख्य रूप से विवक्षित हुआ हू। अत मेरा ही सर्वदा इस पर एकच्छत्र राज्य रहेगा सो "स्यात्" शब्द उसकी इस सर्वहरा प्रवृत्ति को चुनौती देता है कि यह तेरा मन्तव्य क्षणिक है क्योकि यहा तो अन्य अनन्त धर्मो का भी साम्राज्य है। मैं इसी बात को द्योतित करने या कहने के लिये बैठा हुआ हू। मेरा सम्बन्ध विवक्षित धर्म से नही हे। क्योकि उसका उल्लेख तो उस वस्तु मे उस प्रयुक्त शब्द के द्वारा हो ही रहा है। मेरा सबन्ध तो इस वस्तु मे अविव–क्षित अन्य अशेष धर्मो से है। जब अन्य धर्म की विवक्षा होगी तब तुम अविवक्षित की कोटि मे पहुचा दिये जाओगे। इस तरह यह 'स्यात्" शब्द विवक्षित धर्म की सर्व–हरा प्रवृति को शमित करता है और वस्तु पर सर्वदा के उसके एकाधिपत्य को नियमित करता है।

शका यह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है सो इसका क्या द्वय है ?

उत्तर. जिस प्रकार अधकार मे स्थित घटादिक पदार्थों का दीपक प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह शब्द अस्ति आदि पदो द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त का द्योतक-प्रकाशक होता है यह कहता है कि वस्तु मे अनेका–न्तात्मकता स्वाभाविक है। अप्राकृतिक नही। घटादि रूप वस्तु का परिवार बहुत बडा है। वह इतना ही नही है कि जितना वह विवक्षित शब्द द्वारा प्रकट किया जा रहा है।

वाचक पक्ष : जब "स्यात्" शब्द अनेकान्त का कथन परक होता है यह विवक्षित धर्म का कथन करता हुआ अविवक्षित धर्मो की रक्षा करता है।

शंका. जब स्यात् शब्दार्थ कथचित् शब्द सदादि पदो द्वारा कथित अर्थ का द्योतन ही कर देता है तो फिर वाक्य मे इसके प्रयोग की

१०

मध्यकालीन हिन्दी जैन कवियों की दृष्टि में भेद-विज्ञान

□डा० (श्रीमती) पुष्पलता जैन, नागपुर

स्व-पर का विवेक भेद विज्ञान कहलाता है। उसका प्रकाश आदि काल से लगे हुए जीव के कर्म और मोह के नष्ट हो जाने पर होता है। सम्यक् दृष्टि ही भेद-विज्ञानी होता है। उसे भेद-विज्ञान सासारिक पदार्थो से ऐसे पृथक् कर देता है जैसे अग्नि स्वर्ण कटिट्का आदि से भिन्न कर देती है।[1] रूपचन्द इसी को सुप्रभात कहते है– "प्रभु मो को सुप्रभात भयो"। वह मिथ्या भ्रम, मोह, निद्रा, क्रोधादिक कषाय, कामविकार आदि नष्ट होने पर प्राप्त होता है। यही मोक्ष का कारण है।[2]

भेद विज्ञान होने पर चेतन को स्वानुभव होने लगता है। अनयपक्ष के स्थान पर अनेकान्त की किरण प्रस्फुटित हो जाती है, आनन्द कन्द अमन्द मूर्ति मे मन रमण करने लगता है।[3] इसलिए भेदविज्ञान को "हिये की आखे" कहा गया है। जिसके प्राप्त होने पर अमृतरस बरसने लगता है और परमार्थ स्पष्ट दिखाई देने लगता है।[4] जैसे कोई व्यक्ति धोबी के घर जाकर दूसरे के कपडे पहन लेता है और यदि इस बीच उन कपडो का स्वामी आकर कहता है कि ये कपडे मेरे है तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिन्ह देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्म सयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव मे रहता है अर्थात् शरीरादि को अपना मानता है। परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब स्व-पर का विवेक हो जाता है तो वह रागादि भावो से भिन्न अपने स्व-स्वभाव को ग्रहण करता है।[5]

जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहस क्षीर-नीर का पृथक-करण कर देता है उसी प्रकार भेद-विज्ञान अपनी भेदक शक्ति जीव और पुद्गल को जुदा जुदा करता

१. नाटक समयसार, जीवद्वार, २३
२. हिन्दी पद सग्रह पृ० ३६
३ वही पृ० ३६–३७
४. वही बनारसीदास, पृ० ५६
५. नाटक समयसार-जीवद्वार ३२

भैय्या भगवतीदास ने "जैसो शिवखेत तेसौ देह मे विराजमान, ऐम लखि सुमति स्वभाव मे प्रगति है।[13] कहकर "ज्ञान विना बेर बेर क्रिया करी केर फेर, कियो कोऊ कारज न आतम जतन को कहा है।[14] कवि का चेतन जब अनादिकाल से लगे मोहादिक को नष्ट कर अनन्तज्ञान शक्ति को पा जाता है तो कह उठता है :

"देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै।
काल अनादि फिर्‌यो परवश ही अब निज सुघहि चितावै ।।[15]

भेद विज्ञान रूपी तरुवर जैसे सम्यक्त्व रूपी धरती पर ऊगता है तो उसमे सम्यग्दर्शन की मजबूत शाखाये आ जाती है, चरित्र का दल लहलहा जाता है, गुण की मजरी लग जाती है, यश स्वभावत चारो दिशाओ मे फैल जाता है। दया वत्सलता, सुजनता, आत्मनिन्दा, समता, भक्ति, विराग, धर्मराग, त्याग, धैर्य, हर्ष, प्रवीणता आदि अनेक गुणमंजरी मे गू थे रहते है।[16] भूधरदास को भेदविज्ञान हो जाने पर आश्चर्य होता है कि हर आत्मा मे जब अनन्तज्ञानादिक शक्तिया है तो ससारी जीव को यह बात समझ मे क्यो नही आती। इसलिए वे कहते है

पानी विन मीन प्यासी, मोहे रह रह आवै हासी रे।।[17]

द्यानतराय आत्मा को सबोधते हुए स्वय आत्म रमण की ओर झुक जाते है और उन्हे आत्मविश्वास हो जाता है कि 'अब हम अमर भये न मरेंगे'। भेद विज्ञान के द्वारा उनका स्वपर विवेक जाग्रत हो जाता है और अत्मानुभूतिपूर्वक चिन्तन करते है। अब उन्हे धर्म चक्षुओ की भी आवश्यकता नही। अब तो मात्र आत्मा की अनन्त-गुणशक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक भाव नष्ट हो चुके है और आत्मानुभव करके ससार दु ख से छुटे जा रहे है

हम लागे आतमराम सौ।
विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमे घन-धाम सौ ।।
समता सुख घट मे परगास्यो, कौन काज है काम सौ।
दुविधाभाव जलाजुलि दीनौ, मेल भयौ निज स्वास सौ।
भेद ज्ञान करि निज पर देख्यौ, कौन विलोकै चाम सौ ।।
उरै परै की वात न भावै, लौ लागी गुण-ग्राम सौ ।।
विकल्प भाव रक सब भाजे, झरि चेतन अभिराम सौ।
'द्यानत' आतम अनुभव करि कै, छूटे भव-दुख धाम सौ।[18]

कवि छत्रपति ने भी भेदविज्ञान के माहात्म्य का सुन्दर वर्णन किया है।[19]

---

१३ ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पृ० ३४
१४ वही, शत अष्टोत्तरी, पृ० ६७
१५ वही, परमार्थ पद पक्ति, १४, पृ० ११४
१६ वही, गुणमजरी, २-६ पृ० १२६
१७. हिन्दी पद सग्रह पृ०
१८ अध्यात्म पदावली ४७, पृ० ३५६
१९. मनमोदन पद ७६, पृ० ३६

इन घटनाओं का विस्तृत वर्णन आचार्य रविषेण ने किया है।[1] यह भी उल्लेख आता है कि एक बार हनुमान मेरु पर्वत की वन्दना के लिये अकृत्रिम जिन चैत्यालयो की वन्दना करके जब वे भरत क्षेत्र को वापस लौट रहे थे तब आकाश मे विलीन होती हुई उल्का को देख कर ही वह ससार से विरक्त हुए।[2] मूर्ति स्थापना और पूजा का महत्व बताते हुए रविषेणाचार्य ने लिखा है—

"जो जिन भगवान की आकृति के अनुरूप जिन विम्ब बनवाता है, तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजा और स्तुति करता है उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नही है"।[3]

आचार्य रविषेण सातवी शताब्दी के विद्वान थे। सातवी ही शताब्दी मे रचित एक अन्य ग्रन्थ 'परमात्म प्रकाश' मे कहा गया है कि—

"तूने न तो साधुओ को दान दिया, न जिनेन्द्र भगवान की पूजा की और न पच परमेष्ठी को नमस्कार ही किया, फिर तुझे मोक्ष का लाभ कैसे हो…………?[४]

इसी शताब्दी मे रचित जटासिहनंदि के 'वराग चरित' (सर्ग २२) मे जिन पूजा के महत्व के साथ जिनबिम्ब और जिनालय निर्माण का भी बडा महत्व बताया है। आचार्य अमितगति ने जिनेन्द्र की अगुष्ठ प्रमाण प्रतिमा पधराने वाले को भी अविनाशी लक्ष्मी की प्राप्ति का पात्र कहा है। आचार्य पद्मनंदि ने तो उससे भी आगे बढकर बिल्व पत्र के आकार के मन्दिर मे जौ के दाने के बराबर मूर्ति की शान्तिपूर्वक स्थापना करने वाले को ऐसे पुण्य का पात्र कहा है जिसका वर्णन करने मे सरस्वती भी असमर्थ है।

श्रीमान् पडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री सिद्धाताचार्य ने उपासकाध्ययन की प्रस्तावना मे[५] इस विषय का विशद विवेचन करते हुये लिखा है कि "यह सहज रूप मे कहा जा सकता है कि मूर्ति पूजन की परम्परा जैन धर्म मे बहुत पुराने समय से चली आ रही थी, और उत्तर काल मे तो जिन प्रतिमा और जिनालयो का निर्माण बहुतायत से होने लगा। जब भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तिया तोडी जाने लगी तो उसकी प्रतिक्रिया के रूप मे भारत मे मन्दिरो और मूर्तियो के निर्माण पर पहिले से ही अधिक जोर दिया जाने लगा। ग्यारहवी शताब्दी के बाद का युग तो इन प्रवृत्तियो के चरमोत्कर्ष का युग रहा। इसी युग मे प्रतिष्ठा पाठो आदि की रचना हुई और पूजा साहित्य का भी विशेष रूप से सृजन हुआ।

सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन मे तो जैन मूर्ति पूजा का बडा ही सागोपाग विधि-विधान

---

१ पद्म पुराण पर्व ६५, ६६ एव ६७।

२. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण पर्व ११२

३. जिनबिम्ब जिनाकार जिनपूजा जिनस्तुतिम्।
य करोति जनस्तस्य न किञ्चि दुर्लभं भवत् (पद्मपुराण पर्व १४ श्लोक २१३)

४. दाण ण दिण्णऊ मुनिवरहु, णवि पुज्जिउ जिणणाहु, पचण वदिउ परमगुरु, किमु होसइ सिवलाहु।
(परमात्म प्रकाश १६८)

५. ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपासकाध्ययन प्रस्तावना पृष्ठ ४८-४९-५०

उक्त कलिग जिन की प्रतिष्ठा थी। कलिंग नगर के निकट कुमारी पर्वत पर भगवान महावीर का समवशरण आया था। इस पावन घटना की स्मृति मे उक्त स्थान पर स्तूप आदि स्मारक बनाये गये थे और मुनियो के निवास के लिये गुफाये भी निर्मित हुई थी, जो सम्राट खारवेल के समय के बहुत पूर्व से वहा विद्यमान थी। प्रो० बनर्जी का भी यही मत है।[६]

यही कलिंग जिन 'अग्रजिन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। वीर निर्वाण संवत् १०३ (४२४ ई० पूर्व) मे मगध नरेश नदिवर्धन कलिग पर आक्रमण करके राजधानी मे प्रतिष्ठित इस भव्य मूर्ति को अपने साथ उठा ले गया था। कालान्तर मे सम्राट् खारवेल ने अपने राज्य के बारहवे वर्ष मे मगध को जीत कर इस मूर्ति को बडे समारोह पूर्व वापस ले जाकर यथा स्थान पुर्नस्थापित किया था। कलिग सम्राट खारवेल की इस पराक्रम पूर्व विजय को उल्लेख खण्डगिरी की हाथीगुफा मे प्राकृत के एक शिलालेख मे किया गया है। इस घटना से अनेक महत्व पूर्ण बाते सिद्ध होती है। एक तो यह कि नन्दकाल, अर्थात् ईसा पूर्व पाचवी चौथी शताब्दी मे, जैन मूर्तियो का निर्माण कराकर उनकी पूजा प्रतिष्ठा किये जाने की परम्परा विद्यमान थी। दूसरे यह कि उस समय कलिग देश मे एक प्रसिद्ध जैन मन्दिर व मूर्ति थी जो इस प्रदेश भर मे लोक पूजित थी। तीसरे यह कि नन्द सम्राट, जो इस जैन मूर्ति को अपहरण करके ले गया और उसे अपने यहा सुरक्षित रखा, अवश्य ही जैन धर्मावलम्बी रहा होगा व उस लोक पूजित जिन बिम्ब के लिये उसने अपने यहा भी जिनालय बनवाया होगा। चौथे यह कि कलिग की जनता व राजवश मे उस जिन प्रतिमा के लिये बराबर दो तीन सौ वर्ष तक ऐसी अटूट श्रद्धा बनी रही कि अवसर मिलते ही कलिग सम्राट ने उसे वापस लाकर अपने यहा पुनर्स्थापित करने का महान् कार्य किया। इस प्रकार जैन धर्म मे मूर्ति पूजा का इतिहास सम्मत उल्लेख हमे ईसा पूर्व सातवी आठवी शताब्दी मे निर्विवाद रूप से प्राप्त होता है।[१०]

मथुरा ककाली टीला

तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के काल को यदि हम वर्तमान मान्यता के अनुरूप भारतीय मूर्तिकला का प्रारम्भ काल माने तो हमे ज्ञात होता है कि भारतीय मूर्तिकला के उद्भव और विकास की इस यात्रा मे जैन कलाकारो का उल्लेखनीय और महत्व-पूर्ण यागदान प्रारम्भ से ही रहा है और भारतीय मूर्तिकला की कोई ऐसी विधा नही है, कोई ऐसा प्रकार नही है तथा कोई ऐसा काल नहीं है जिसका समर्थ एव सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व जैन कला मे प्राप्त न होता हो।

इस काल की जो जैन मूर्तिया व शिल्पावशेष प्राप्त हुए है उनमे मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त सामग्री अपनी प्राचीनता तथा अन्य कलागत विशेषताओ के लिए सारे ससार मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। यहा प्राप्त शिलालेखो के आधार पर स्मिथ ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि "मथुरा का यह देव निर्मित स्तूप भारत मे वास्तुकला का सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण है। इससे प्राचीन कोई भी मानव निर्मित उदाहरण समूचे भारत मे कही भी

---

९ डा० ज्योति प्रसाद जैन—भारतीय इतिहास . एक दृष्टि पृष्ठ १८१
१० डा० हीरालाल जैन भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान पृष्ठ ३०७

कुषाण काल और मौर्य काल मे, अथवा यो कहे कि ईसा पूर्व के निर्माण मे तीर्थकर प्रतिमाओ मे चिन्ह या लाञ्छन बनाने की पद्धति नही थी। शासन यक्ष तथा यक्षिणियो का अकन भी तब तक मूर्ति के साथ नही किया जाता था। गुप्त काल से मूर्तियो मे चिन्ह बनना प्रारम्भ हुआ और पूर्व मध्य काल (छठवी सातवी शताब्दी) से तो यह अनिवार्य परम्परा ही हो गई। शासन देवियो को भी तीर्थ-कर के पादमूल मे इसी काल से स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ।

गुप्त काल मे देवगढ, सीरा पहाड, नचना, राजघाट-वाराणसी और मन्दसोर आदि मे जैन मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण हुआ। इस काल की दर्जनो एक से एक सुन्दर और मनोज्ञ प्रतिमाए हमारे देश के अनेक सग्रहालयो मे सुरक्षित है।

जैन मूर्ति निर्माण और पूजन प्रतिष्ठा की यह परम्परा तब से आज तक जिस उल्लेखनीय कला-त्मकता और निर्माण की विशेषता के साथ प्रवर्त-मान है वह तो देश के उपलब्ध पुरातत्व से सहज ही स्पष्ट है। श्रवणबेलगोला मे गोम्मटेश्वर भगवान बाहुबलि की जगत् प्रसिद्ध प्रतिमा इस परम्परा का एक अद्वितीय और शानदार उदाहरण है। कारकल आदि मे भी बाहुबलि की बडी बडी प्रतिमाए है। उत्तर भारत मे आहार, थूबोन जी, खजुराहो और बजरगगढ की शान्तिनाथ प्रतिमाओ की गणना भी इन्ही मे करना पडेगा। पद्मासन विराजमान मूर्तियो मे कुण्डलपुर, चान्दनपुर महावीर, तेवर, देवगढ तथा राजस्थान की सुन्दर सगमरमर की मूर्तिया उल्लेखनीय है। इन सब के साथ यथेष्ठ परिकर सज्जा और कथन उपकथन आदि से सम्बन्धित अकन भी प्राय हर जगह देखने को मिलते है।

जैन मन्दिरो के निर्माण की शृ खला भी हमारे देश मे पिछले पन्द्रह सौ वर्षो से अनवरत चली आ रही है। देवगढ के विविधता पूर्ण मन्दिर, खजुराहो के उत्कृष्ट कलायुक्त विशाल जिनालय तथा आबू-देलवाडा, रनकपुर आदि के विशाल और विशिष्ट मन्दिर इस बात के प्रतीक है कि जैन सस्कृति मे मूर्ति पूजन और मन्दिर निर्माण की परम्परा एक प्रमुख और प्राणवान परम्परा रही है। जब से हमारा इतिहास पाया जाता है, या यो कहे कि जब से हमारा अस्तित्व पाया जाता है, तभी से मूर्ति पूजा की यह परम्परा हमारी धार्मिक आस्था और आस्तिक्य भावना की अभिव्यक्ति का बडा सहज माध्यम बन कर हमारे प्राणो से जुडी रही है।

they are subjective, yet they are very much objective. Hence in Jaina spiritual literature certain characteristics are invariably found. These characteristics consist of spiritual knowledge, spiritual joy, spiritual steadfastness, intuition, ineffability, activistic attitude, moral elevation, freedom from fear, permanancy and so on. We may say that these are the articulate expressions of mystical life

(1) **Spiritual Knowledge.**

First, self knowledge or spiritual knowledge is a characterizing feature of transcendental life. 'Know thyself' is an often quoted maxim. Knowledoe of the Atman is the supreme knowledge. The Samayasara pronounces that the self with spiritual knowledge knows his ture nature and he lacking in the knowledge, blinded by his own nescience is unable to perceive his ture nature.[2] In other words the self with spiritual knowledge by contemplating upon the impure nature of the self becomes himself impure.[3] Moreover, knowledge is the self, there connot be (any) knowledge a part form the self.[4] The self who knows the ture nature of reality becomes Jitamoha or conqueror of delusion who by subjugating the delusion realises that the self is intrinsically of the nature of knowledge [5] Therefore, the realization of the self as the knower by nature leads towards the eschewment of the sence of mineness[6] Further, it is pointed out that the soul is co-extensive with knowledge, knowledge is said to be co-extensive with the objects of knowledge, the object of knowledge comprises the physical and non-physical universe therefore knowledge is omnipresent[7] The knower of the self become an omniscient and the omniscient neigther accepts ncr abandons, nor transforms the external objectivity, he sees all round and knows everything completely[8] Moreover, the knower of the self knows simultaneously the whole range of variegated and unequal objectivity possible in all places and present in three tenses[9] Hence, in the omniscient the knowledge reaches the very verge of objectivity and the vision extends over the phys cal and super-physical universe[10] Thus, knoledge and epiritual

2. Samayasara, 185
3 Samayasara, 186.
4 Pravacanasara,—I. 27
5 Samayasara, 32.
6 Pravacanasara II 109
7 Ibid I 23
8 Ibid I 32
9 Pravacanasara I, 15
10. Ibid I. 61

Hence speaking in the language of the mystic we may say that with the emergence of the Atmanic experience and steadfastness in it, the conquest over the senses, mind and passions, become automatic. The mystic is steadfact in his true nature.

(iv) Intuitive insight

Fourthly intuitive insight is a characterizing mark of mystical exeprience, the intuitive insight is the Pratyaksa Jnana or direct and immediate apprehension of realty This Pratyaksa knowledge perceives (all) the nonconcrete things among the concrete and those that are beyond the scope of senses, those that are hidden and all other than are related to substances and also that are not 20 Moreover, the mystic who possesses self knowledge, directly visualizes all objects and their modifcations, he does even comprehend them through sense perception[21] To be more clear we may say that nothing is indirect to him who is himself omniscient that who is all round rich in the qualities of all the organs of senses though himself beyod the senses[22] Hence the intuitive insight of self khowledge is able to penetrate into the innermost core of phenomenal and noumenal realities.

The intuitive insight is also termed as Yogi perception. Haribhadra pronounces that Zogic perception will take cognizence of even such things as are beyond the perception of non-yogi[23] Thus Yogic perception pierces through the veils of reality directly and immediately Prof Ranade rightly says that "mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct immediate intuitive apprehension of God"[24] Montague points out that "the theory that truth can be attained by a super rational and super sensuous faculty of intuition is *mysticism*"[25] *thus*, mystical experience involves the full operation of the intuitive faculty which subsums under it the operations of intellect, will and feeling and is not contradictory to them All things are visualized simultaneously and therefore, the Siddhas and Arhats are the masters of this intuitive insight.

(v) Ineffability

Fifthly, the mystic experience or transcendental experience is ineffable or it is inarticulate and unverifiable by empirical methodology. In other words, the spiritual things are beyond the categories of verifability through the senses The

20 Pravacanasara I 54
21 Ibid I . 21
22 Pravacanasara I 22
23 Yogabindu, 50 P 15
24 Pathway to God in Hindi Lit. Preface P 2
25 The ways of knowing, P 54
26 Pathway to God in Hindi Lit Preface pp 3.4

life of a mystic. The lazy and letharigic person cannot attain such perfection in every aspect of life Miss Underhill has rightly pointed out that true mysticism is active and practical, not passive and the critical. It is an organ c life process a something which the whole self does, not something an opinion[33] We may say that spiritual perfection is an arduous task in the human life, how can it be pronounced as passive ? Assiduity in spiritual pursuits is wholly indispenaable The mystics have not turned their backs from the betterment of the worldly people. They are ever ready for the spiritual mission to which they are whole heartedly devoted Therefore, the mystic's heart is set upon the transcenental self on the one hand and on the other he is endeavouring for the overall uplitgrment of the society. The Tirthamkaras set the examples 'of this activistic attitude towrds mystical life. Mr William James seems to be partially right when he characterizes the mystical life with passivity. Outworldly the mystics appear to us as passive being, but for their own welfare and for the welfare of the people they are fully active. To be more clear we may say that seeming inactivity is not an essential feature of spirituality. They are most active beings trying hard for the betterment of the society

(vii) **moral Elevation**

Sevently, moral elevation is another distinguishing feature of Jaina mysticism Mystics are the upholders of all that is good and perfect, and simultaneously they are the upolders of moral and spiritual values They follow a fullfledged moral life or we may say that they teach an eternal ethical code which is beyond the spatis temporal limitations. We find in them a perfection of moral virtues Supreme forbearance modesty, straight forwardaness, 'truthfulness, purity, self restraint, austerity, renunciation non-attachment and celibacy are constitutive of mystics, moral life It is inconceivable that the mystic who has attained supremacy on account of the realization of perfact Ahinsa may in the least pursue an ignoble life of Hinsa. a life of vice He is no doubt beyond the category of virtue and vice Punya and Papa (good and evil Subha and Asubha psychical states, yet he may be pronounced to be the most virtuous soul in the world Dr Radhakrishnan sums up the whole matter while saying that the great sin is the sin of disbelief in the potential powers of the soul To know onself and not to be untrue to it, is the essence of the goods life''[34]

(iii) **Freedom from fear .**

Eightly, the transcendental life is free from fear Mystical state is free

33 Mysticism, P 81

34. Idealist View of life, P. 118

universe He is the most benevolent being in the world It is said that the mystics evince a feeling of friendliness towards those who ares uperior to oneseg in perfection, that of combassion towards those who are superior to onself in perfection, that of compassion to wards those who are in a state of suffering and that of neutrality towards those who are incorrigible [38] Shri Subhacandra proclaimo that the mystical life is so much effective that even furious animals become modest and humble, the cruel tigers give up their cruelty and become free from the feeling of enmity. This change in feelings is an natural as the rains from the clouods which extinguishes the fire in the forest. In other words the company of mystic who possesseso equanimity, removes the ferocity from the hearts of the animals Moreover, the same idea is exquisitely expressed in the one verse by the same author when he says that in the presence of a mystic the tigress loves the youngone of a dear, the cow caresses the cat, the cat fondles the youngone of the swan and peahen plays with the youngone of the snake[39] Here, we see that all types of enmity is brushed aside. In a similar veino. Hardhadra tells us that on account of spiritual life one finds onself in possession of firmness. patience. faith, friendliness (for all beings), popularity (in the eyes of the worldly ones), intuitive awareness of the nature of things, freodom from obsessions contentment, forbearance, gentlemanly conduct, honour received from otheros and the sup eme bliss of calmness.[40]

●●●

38. Yogasataka, 79 p. 88
39. Jnanarnava, 24 : 21–22
40. Yogabinqu, 52–54 p. 16

१३

ध्यान द्वारा आत्म सिद्धि

श्री रतनचन्द्र जैन रत्नेश
एम. ए., एम एड, लामटा

प्रत्येक धर्म ध्यान का विशेष महत्व है। किसी न किसी रूप मे ध्यान की महिमा सब धर्मों मे गाई गई है। कठोपनिषद् की प्रसिद्ध श्रुति है.—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू
स्तस्मान् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्ष—
दावृत्तचक्षुरमृत्वमिच्छन्॥"

अर्थात् मनुष्य स्वभाव से ही बहिर्मुख होता है। वह आत्मदर्शन मे साधारणत प्रवृत्त नही होता। कोई धीर—वीर व्यक्ति ही ऐसा होता है जो इन्द्रियो के बाह्य विषयो से अलग, अन्तरात्मा के दर्शन (ध्यान) मे दत्तचित्त होता है।

ऐसा साधक ही विभिन्न सीमागत धरातलो से ऊपर ऊठकर स्वय का अनुभव करता है।

जैनधर्म मे भी मोक्ष (मुक्ति हेतु ध्यान की प्रेरणा की गई है) आचार्य रामसेन अपने 'तत्वानुशासन' (ध्यानशास्त्र) नामक ग्रन्थ मे कहते है।

"स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्माद्वाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यान सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम॥३३॥"

दोनो प्रकार का (निश्चय एवं व्यवहार) मोक्षमार्ग ध्यान से सधता है। अत. मुमुक्षुओ को आलस्य त्यागकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

डाक्टर मगलदेव[१] शास्त्री के अनुसार "सब धर्मों मे निश्चय ही अध्यात्म की विशेषता यह रही है कि उसका नेतृत्व लौकिक स्वार्थ सिद्धि से असम्पृक्त तथा विश्व-कल्याण को चाहने वाले ऐसे मुनिजनो के हाथ मे, रहा है जो आतरिक शत्रुओ पर विजय प्राप्ति का व्रत धारण किए हुए थे) यह बात अन्य धर्मो मे देखने मे नही आती। यही कारण है कि अन्तर्दृष्टि और आत्म-समीक्षण का जितना अधिक विचार जैन धर्म के अध्यात्म ग्रन्थो मे मिलता है उतनी मात्रा मे कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नही होता।

स्वर्गीय प० जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर' (सम्पादक एवं व्याख्याकार 'तत्वानुशासन') के

१ भूमिका तत्वानुशासन पृ० १८।

जीतना—यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्पत्ति मे सहायभूत सामग्री है'

परिग्रह-त्याग, कषाय निग्रह व्रतधारण तो सभव होता है पर मन एव इन्द्रियो पर नियंत्रण कठिन है—अत ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रिय रूपी घोडो को वश मे करना चाहिए। कहा भी है—

"ज्ञान वैराग्यरज्जुभ्या नित्यमुत्पथवर्त्तिन'
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तु मिन्द्रिय-वाजिन ।।७७।।"

आत्म द्रव्य ही ध्येय—

ससार मे विभिन्न द्रव्य है परन्तु आत्म द्रव्य ही ध्यये है। आत्मा सत्, चित् एव आनन्द स्वरूप है।

"सति ही ज्ञातरि ज्ञेय ध्येता प्रतिपद्यते
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतम स्मृत ।।"

'ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान स्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम-सर्वाधिक ध्येय है। इसी की उपासना या ध्यान करना चाहिए'

आत्म द्रव्य के ध्यान में पंचपरमेष्ठी प्रधान है-

आत्मा के ध्यान मे वस्तुतः (व्यवहार से) पच परमेष्ठी ही ध्यान किये जाने योग्य है। इनमे अरहत, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सकल (शरीर सहित) है और सिद्ध परमेष्ठी निष्कल (शरीर रहित) हैं तथा स्वामी है।

"तत्रापि तत्वत पच ध्यातव्याः परमेष्ठिन ।
चत्वार' सकलास्तेषु सिद्ध स्वामी तु निष्कल ।।

सिद्धात्मक ध्येय का स्वरूप

सिद्धो का स्वरूप एवं उनके ध्येय का स्वरूप निम्न प्रकार है—

"अनन्त दर्शनज्ञानसम्यक्त्वादि गुणात्मकम्।
स्वोपात्तऽनन्तर-त्यक्-शरीराऽऽकार धारिणम् ।।
साकार च निराकारममूर्तमजरमरम्।
जिनबिम्बमिव स्वच्छ स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ।।
लोकाग्र शिखराऽऽरूढमुद्ढ—सुखसम्पदम्।
सिद्धात्मान निरावाध ध्यायेन्निर्धूतकल्मषम् ।।

"अनन्त दर्शन, ज्ञान एवं सम्यक्त्व आदि गुणो से परिपूर्ण, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीर के आकार का धारक है, साकार और निराकार दोनो रूप है, अमूर्त्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ स्फटिक मे प्रतिबिम्बित जिनबिम्ब के समान है, लोक के अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख सम्पदा से परिपूर्ण है, बाधाओ से रहित और कर्म-कलक से विमुक्त है—ऐसा स्वरूप है सिद्धात्मा का, सिद्धो का। ऐसे सिद्धो को ध्याता ध्यावे-अपने ध्यान का विषय बनावे।

पंच-परमेष्ठी का ध्यान स्वयं की आत्मा का ध्यान है

एकाग्रता से पच परमेष्टी का ध्यान स्वय का ध्यान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार मे कहा है—

"जो जाणदि अरहंत दव्वत-गुणत्त-पज्जयत्तें हि।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्य लओ ।।

"जो अरहन्त को द्रव्य, गुण और पर्याय से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है।"

वर्तमान समय में भी ध्यान सम्भव है

कुछ लोगो का यह कथन हैं कि इस पचमकाल

निश्चय ध्यान बडा दुर्लभ होता है और स्थायी नही रह पाता। किंचित् यदाकदा ही यह सम्भव होता है। व्यवहार ध्यान से ही कभी कभी इसकी झलक एक पल के लिए प्राप्त हो पाती है। छठवे एव सातवे गुणस्थान के बीच झूलते हुए मुनिराज ही इसका आस्वादन कर पाते है। कुछ सद्गृहस्थ भी इसकी अनुभूति भाग्यवशात् कभी कर लेते है। व्यवहार ध्यान ही निश्चय ध्यान का राजमार्ग है- "पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (आलम्बन) ध्यान के अभ्यास को वढाया जाय। तत्पश्चात् निश्चय-नयाश्रित अभिन्न (निरालम्बन) ध्यान के द्वारा अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे लीन हुआ जाय।[3]

व्यवहार-ध्यान मे किसी भी मन्त्र आदि का आलम्बन लिया जाता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-इनका आलम्बन लिया जाता है। व्यवहार ध्यान से ही निश्चय ध्यान की परम्परा आगे बढती है। अर्हन्तदेव के ध्यान का फल तत्वानुसार मे निम्नप्रकार कहा गया है-

"वीतरागोऽप्यय देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभि ।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलद शक्ति स्तस्य हि तादृशी ।।"

वीतराग होने पर भी अर्हन्तदेव मुमुक्षुओ को स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने मे सहायक होते है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानादि से सम्पन्न आचार्य, उपाध्याय एव साधु ध्यान के योग्य है।

इसी प्रकार अकार से लेकर हकार पर्यन्त जो मन्त्ररूप अक्षर है वे अपने अपने मण्डल को प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय है। वैसे 'अमन्त्रमक्षर नास्ति नास्ति मूलमनौषध' अर्थात् ऐसा कोई अक्षर नही है जो कि मन्त्र के काम नही आता और ऐसी कोई मूल नही जो कि औषधि के रूप मे काम मे न आती हो। केवल 'योजकस्तत्र दुर्लभ.' इनकी सयोजना करने वाले ही दुर्लभ होते है।

महामन्त्र णमोकार, असिआउसा-सयुक्ताक्षार ॐ, ह्री, श्री, क्ली, अर्ह का ध्यान करने से आत्म सिद्धि प्राप्त होती है।

परमेष्ठियो के ध्यान से सब कुछ ध्यात होता है। फिर उससे कुछ और पृथक ध्यान की आवश्यकता नही होती, कहा भी है—

"सक्षेपेण यदत्रोक्त विस्तरात्परमागमे ।
तत्सर्व ध्यातमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिसु ।।"

हृदय, ध्यान का स्थल है

हृदय-कमल के पत्रो पर असिआ उसा की स्थापना करना चाहिए। ये पच परमेष्ठी के वाचक शब्द है।

हृत्पकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।

ध्येयों के प्रकार

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से ध्येय चार प्रकार के होते है। इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

"वाचस्य वाचक नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण पर्ययवद् द्रव्य भाव स्याद्गुणोपर्ययो ।।"

स्व और पर के ज्ञान हेतु श्रुत (आगम) ज्ञान आवश्यक है। आगमन को तीसरा नेत्र कहा गया है। अत पहले श्रुत द्वारा अपने आत्मा मे आत्म सस्कार को आरोपित करना चाहिए। श्रुत (आगम) मे आत्मा को जिस यथार्थ प्रकार का बताया गया है। उस प्रकार भावनाओ के द्वारा हमे आत्मा को सस्कारित करना चाहिए। इसके पश्चात् इस सस्कारित आत्मा मे एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करना चाहिए।

श्रोती भावना --

आगम मे जिस प्रकार आत्मा को बताया गया है, उसे श्रोती-भावना कहते है। इस श्रोती भावना का स्वरूप निम्न प्रकार है—

—"मै चेतन हू, असख्य प्रदेशी हूँ मूर्त्तिरहित, अमूर्त्तिक हूँ, सिद्धसदृश, शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षण से युक्त हूँ।"

शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ, मैं चेतन हू, शरीर अचेतन है, शरीर नाशवान है, मै अक्षय हूँ।

मैं अन्य नहीं हु, मै अन्य का नही हूँ। अन्य मेरा नही है। मै, मै ही हू, अन्य अन्य का है।

अचेतन मेरा नही होता, मै अचेतन का नही होता। मैं ज्ञान-स्वरूप हू, मेरा कोई नही है और न मै किसी दूसरे का हू।

इस ससार मे मेरा शरीर के साथ जो स्व-स्वामि सम्बन्ध हुआ है और दोनो मे जो एकत्व का भ्रम है, वह पर के निमित्त से हे, स्वरूप से नही।

"योऽत्र स्व-स्वामि सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुपा सह
यस्त्वेकत्व भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपत

इस श्रोती भावना मे आत्मा अपने मे स्थित हुआ, अपने द्वारा, अपने आपको इस रूप मे देखता है कि अन्य पदार्थो से उसे रूचि नही रहती उनसे स्वत विरक्ति हो जाती हैं।

इस प्रकार, इस भावना मे लीन होकर आत्मा अन्य शरीरादिक से अपने आपको भिन्न निश्चित करके स्वय मे ही लीन हो जाता है और अन्य किसी प्रकार की चिन्ता नही करता। यह ध्यान की प्रमुख सीढी हैं।

चिन्ता का अभाव तुच्छ नही यह स्वसवेदन रूप है —

चिन्ताऽभावो न जैनाना तुच्छा मिथ्या द्दशामिव।
दृग्बोध साम्य रूपस्य स्वस्य सवेदन हि स ॥

चिन्ता का अभाव जैन मत मे वैशेपिक दर्शन के समान तुच्छ अभाव नही है। बल्कि यह अभाव वस्तुत. दर्शन, ज्ञान और समता रूप आत्मा के सवेदन रूप है।

जैन दर्शन मे अभाव को भी वस्तु धर्म माना है जो कि वस्तु-व्यवस्था के अग रूप है। यदि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तु की कोई व्यवस्था नही बनती। इस दृष्टि से अभाव सर्वथा असत् रूप या तुच्छ नही है, जिससे चिन्ता के अभाव रूप होने से ध्यान को ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओं के अभाव की दृष्टि से असत् होते हुए भी स्वात्म-चिन्तात्मक-स्वसवेदन की दृष्टि से असत् नहीं है, और इसलिए तुच्छ नही है। ध्यान के लक्षण मे प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्द का अर्थ करने पर उसका यही आशय है, न कि सर्वक्ष चिन्ता के अभाव रूप, ध्यान का ही अभाव।[४]

---

४. प० जुगलकिशोर जी मुख्तार' वही पृ० १५१

14

Analytical Treatment Of Transfinite Numbers In Dhavala

□L. C. Jain

In the authors article (1967)[1] certain set theoretic approaches of Virsena's life-long work "DHAVALA"[2] (circa ninth century) commentary of "SHATKHANDAGAMA" were related in briefo In the present article only a few pages of DHAVALA are exposed in simple modern mathematical operational symbols. The units of set measures are classified as simple measure and number measure about which dteails are available else where.[4] Herern and what follows the symbols and notataons of number measure will be adhernd to as already adopted, unles otherwise stated.[5]

1 Logarithmic Treatment

At the out set it may be noted that in DHAVLA, the mathematical details are given in sentences without any notations practically The sets treated therein are finite, transfinite, ordered, well-ordered, plain and mixed One may call those sets mixed which have been formed as a result of mixing well-orderd set or sets with plain or ordered set or sets.[6] There seems no

1 Cf JSM.
2 Cf DT
3 For its preliminary mathematical details, Cf MD.
4 Cf JSM ND, BCM TPG etc.
5 Cf. JSM.
6 Cf AST for details, Cf as for symbolic repreaentations.

and

$$\log I_{1j} + \log\log I_{1j} = \log\log \overline{I_{1j}}|^1 \quad \ldots\ldots (1.106)$$

$$I_{1j} (\log I_{1j}) = \log \overline{I_{1j}}|^1 \quad \ldots\ldots (1.107)$$

Therefore

$$\log \overline{I_{1j}}|^1 = I\,[I_{1j}] \quad \ldots\ldots (1.108)$$

Similarly

$$\log \overline{I_{1j}}|^1 = \frac{[I_{1j}]^2}{I} \quad \ldots\ldots (1.109)$$

Further

$$\log \overline{I_{1j}}|^1 + \log\log \overline{I_{1j}}|^1 = \log\log \overline{I_{1j}}|^2 \quad \ldots\ldots (1.110)$$

Also

$$[\log I_{1j}|^1]\,[\overline{I_{1j}}|^1] = \log \overline{I_{1j}}|^2 \quad \ldots\ldots (1.111)$$

Therefore

$$\log \overline{I_{1j}}|^2 = I\,[\overline{I_{1j}}|^1] \quad \ldots\ldots (1.112)$$

Similary

$$\log \overline{I_{1j}}|^2 = \frac{[I_{1j}|^1]^2}{I} \quad \ldots\ldots (1.113)$$

It is known that

$$\log \overline{I_{1j}}|^2 + \log\log \overline{I_{1j}}|^2 = \log\log \overline{I_{1j}}|^3 \quad \ldots\ldots (1.114)$$

Now

$$\log\log \overline{I_{1j}}|^3 < [\overline{I_{1j}}|^1]^2$$

because according to (1.111) and (1.114)

$$\log\log \overline{I_{1j}}|^3 = \log \overline{I_{1j}}|^2 + \log\log \overline{I_{j}}|^2$$

$$= [I_{1j}]^{I_1 \quad 1} \log I_{1j} + [I_{1j}+1] \log I_{1j}$$

$$+ \log\log I_{1j} \quad \ldots\ldots (1.115)$$

Thus the log log $\overline{I_{1j}}|^3$ has not reached even a single square-place (Varga-Sthana) above $\overline{I_{1j}}|^1$ from this the auther concluds

"तेणे देसि दोण्ह रासीण वग्गसलागाओ सरिसाओ"

Again

$$\log \log \overline{I_{1j}}|^{3} < [\overline{I_{1j}}|^{1}]^{2}$$

by virtue of (1 115)

Therefore

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{3} < \log \log \left\{ (I_{1j})^{(I_{1j})} \right\}^{2}$$

$$< \log 2\, I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

$$\leqslant [I_{1j}]^{2} \qquad \text{.. ....(1 122)}$$

Now

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{2} < 1 + \log I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

$$\therefore \log \log \log \log \overline{I_{1j}}^{3} - \log \log I_{1j} < 1 + \log I_{1j}$$

$$< 1 + 2\, I_{pj} \log I_{pj}$$

....(1.122a)

At the same time

$$\log \log \overline{I_{1j}}|^{3} > \overline{I_{1j}}|^{1} \text{ by virtue of (1 115)}$$

$$\therefore \log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{3} > \log [I_{1g} \log I_{1g}]$$

$$> \log I_{1j} + \log \log I_{1j}$$

Or

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{3} - \log I_{1j} > \log \log I_{tj}$$

$$> 2 I_{pj} \log I_{pj} \quad \text{..... ... ...}$$

.... (1 122b)

Now if in (1·122a) and (1 122b)

A is substituted in place of 2 log I_{pj}

Then

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{3} - \log \log I_{1j} = A\, I_{pj}$$

....1 123)

Again, from (1 120)

$$\log \log \log \log \overline{I_{1j}}|^{3} = \log \left[2^{A (I_{pj})} \log I_{1j} \right]$$

$$= A\, I_{pj} \log 2 + \log \log I_{1j}$$

(1) How many are the Mythic view souls relative to Fluent-measure, in general ? (They) are Infinite[13]

(2) Relative to time (the Mythic view souls) are not exhausted by Infinite-Infinite Hypo-serpentine and Hyper-Serpentine (periods).[14]

(3) Relative to quarter (the Mythic view souls) are Infinite-Infinite Universes (lokas)[15]

(4) The knowledge of the (above) three (measures) is the *Becoming measure* [16]

Now we proceed to expose the details given by Virasena

FLUENT–MEASURE

This measure has been shown by Virasena to be equivalent to Iim, where the number is said to be between the following terms : [17]

$$\left[\left\{(I_{1j})^{2}\right\}^{2}\right]^{2 \cdots\cdots} < I_{1m} < \left[\left\{(I_{1u})^{y^{2}}\right\}^{y^{2}}\right]^{y^{2} \cdots} \qquad \cdots\cdots \quad \cdots\cdots (2\ 101)$$

Where the proeess of squaring and extracting square roots is an infinitum

13 ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥2॥
Cf. DT, verse 2.

14 अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्साप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण ॥3॥
Cf DT, verse 3

15 खेत्तेण अणंताणंता लोगा ॥4॥
Cf DT, verse 4.

16. तिण्हं पि अधिगमो भाव पमाण ॥5॥
Cf DT, verse 5.

17 Cf DT, p 10.

QURTER MEASURE

Relative to quarter, or Kshetra, the measure of the set Jश्रे is said to be I_1 times the measure of the set L which is the set of space-points (Pradesas)[21] contained in Loka or universe beyond which is non-universe or empty space Virasena follows the method of mapping of Jश्रे upon L, ie, by alloting to every space-point of the universe L an element of Jश्रे, and repeating the process I_1 times

The Loka (universe) has 343 cublic Rajus of volume. A Raju is a unit of cosmological measure of the immense distances of the Loka This length in a Euclidean flat space may be considered to be a straight line & the set of space-points contained in it may be denoted by R

The measure of space-points or Pradesas in R has been discussed by Virasena analytically[22]

Let the number of islands and oceans be n and the diameter of Jambudvipa be denoted in terms of the set of space-points contained in the stretch, Z In the discussion, it appears that the term "gunide" should be replaced by "bhanide", otherwise results obtained would be incorrect

Thus according to one of the schools,

$$\left[2^{\{n+1+\log_2 z\}}\right]=R \qquad (2\ 104)$$

or taking log both the sides,

$$n+1+\log z = \log R \qquad (2\ 105)$$

According to the other school,

$$\left[2^{\{n+S+\mathrm{Log}\ z\}}\right]=R \qquad (2\ 106)$$

If one insists on having "gunide" $\log 2_2$ will have to be interpreted for "Chinnavisitthama" and thus

---

21 Pradesa is the space occupied by an ultimate particle of matter, known as Pudgale-Paramanu

Cf RY, p. 135 for details.

22 Cf DT, p 34 et seq. Cf. also TPG, pp 99-102

Dividing (2 110) by 2 we have

$2^{2w-1} - \frac{3}{4}$ lacs of Yojanas

. (2 112)

As

$$2^{2w-1} - \frac{3}{4} > 2^{2w-1} - \frac{3}{2}$$

(2 113)

hence the second mid-section of the Raju will fall on the "Svayambyu ramana" ocean

Similary the third mid-section or ardhaccheda will lie on the corresponding island, because the distance of the centre of the ocean preceding the Svayambhuramana" island from its own outskirt is

$$\frac{1}{2} + \left[2 + 2^2 + 2^3 + \ldots + 2^{2w-3}\right]$$

$= 2^{2w-2} - \frac{3}{2}$ lacs of Yojanas, ... (2.114)

Whereas the half of amount given in (2 112) is

$$2^{2w-2} - \frac{3}{2^3} \qquad ..(2\ 115)$$

And

$$2^{2w-2} - \frac{3}{2^3} > 2^{2w-2} - \frac{3}{2} \qquad (2\ 116)$$

Similar it is obvious that

$$2^{2w-3} - \frac{3}{2^4} > 2^{2w-3} - \frac{3}{2}$$

. ... .

... .

and in general

$$2^{2w-(x-1)} - \frac{3}{2^x} > 2^{2w-(x-1)} - \frac{3}{2}$$

... ... (2 117)

R has also been defined as follows

$$\left[(\text{श्रं})^3 \right]^{\left\{ \frac{\log_2 \text{प}}{A} \right\}} = \text{श्रे} = 7R$$

(2 119)[24]

Where श्र is the sct of space-points in the specified finer width प ls the set of instants contained in Palyopama period of time, and श्रे is the world-line or Jaga-sreni which is a set of space-point contained in a length of seven Rajus

BECOMING-MEASURE—

The knowledge of the three foregoing measures is the Becoming measure or Bhave-pramana Virasena, perhaps on the basis of tradit-ional knowledge, has deserided this in an analytical form in details through the methods of cut (khandita), division (bhaita), spread (viralana) reduction (aphrita), measure (pramana), reason (karana), explanation (nirukti), and extra-creation (vikalpa)[25]

The method of vikalpa (abstraction or extracreation) is classified as adhastana vikalpa (lower-abstraction) and uparima vlkalpa (higher abstraction) wher the use of the concepes of dharas (sequences) play roles, as muell as use is made of the logarithnrs to different bass

An example regarding logarithrns is the equation

$$\frac{(J)^2}{\left\{ \log_n \left(\frac{J^2}{J\text{मि}} \right) \right\}} = J\,\text{मि}$$

(2 121)

3 APPENDIX

The following copy of a table from Artha Samdrishti chapter of Todaramala illustrate the symbolic expressions about measures of various types of sets relative to Fluent, Quarter, Time and Becoming measures

---

24 Cf TPG, p 22

25 Cf DT, p, 40 et seq

The first row may be rather translated as, name, Soul, Matter, Medium of motion, Medium of Rest, Universe, real time, practical time, non-universe (empty space), the words carrying some shade of the meaning attached to them.

The first column may be similarly translated as name, fluent-measure, quarter-measure, time-measure and becoming-measure.

REFERENCES

AS : "ARTHA SAMDRISHTI" of todaramala, Gandhi Hari Bhai Deokaran jain Granthamala, Calcutta. (date of publication not mentioned). Note This chapter is on Jiva Kanda and Karma-Kanda of Gommatasara (pp 1–308). There is one more chapter on "ARTHA SAMDRISHTI" on Labdhl-sara and Kshapanasara by the author under the same publications (pp 1–207). The work was completed by the author in A. D 1771 We shall denote the later chapter by ASL.

AST · "ABSTRCCT SET THEORY" by A. A. Fraenkel, Amsterdom (1953)

BCM . "The Jain School of Mathematics" B B Datta, Bul Cal. Math. Soc , vol XXI, 1929, pp 115-145

DT "DHAVALA TIKA samanvitah SHATKHANDAGMA'i, by Virasenacarya, book 3, edited by Hiralal Jain, Amaroti (1941)

JSM "On the Jain School of Mathematice", L. C. Jain, Chotelal Smriti Grantha, Calcutta (1667), pp 265–292

MD Mathematies of Dhavala", A. N. Singh, Shat khandagama, vol IV, Amarasoti, (1942), V–XXI.

RAC The Role of the Axiom of choice in the development of the Abstract Theory of Sets", doctoral thesis by W. L. Zlot,

खण्ड ३

साहित्य एवं संस्कृति

पुष्पदन्त और सूरदास का कृष्णलीला चित्रण एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० देवेन्द्रकुमार जैन

महाकवि पुष्पदन्त और सूरदास का समय, दार्शनिक मान्यताये, भाषा और यहा तक काव्य वस्तु भी विभिन्न है, फिर भी दोनो के कृष्ण-लीला वर्णन मे मूलभूत समानताएं है। पुष्पदन्त अपभ्रंश के कवि है, जबकि सूरदास व्रज भाषा के। एक का समय (१० वी सदी का मध्य बिन्दु) देशी राज्यो के बीच सत्ता सघर्ष का समय था, जबकि दूसरे का (१६ वी सदी का उत्तरार्ध) मुगल सत्ता के उत्कर्ष का। एक ने अपने महापुराण की गिनी-चुनी सन्धियो मे कृष्ण का वर्णन किया है, जबकि दूसरे ने सूर सागर मे कृष्ण की समूची लीलाओ का गान किया है। श्रीमद् भागवत पर आधारित होते हुए भी सूर दसवे स्कन्ध मे इन लीलाओ को इतना विस्तार कर डालते हैं कि वह एक स्वतन्त्र काव्य-सर्जना बन गई हे।

'सूर सागर' मे वर्णित कृष्ण लीलाओ के परम्परागत स्रोत के सम्बन्ध मे अभी तक धारणा यह है कि विद्यापति पदावली और गीत गोवन्द से सूर ने प्रेरणा ग्रहण की। आचार्य शुक्ल का कहना है कि सूर के लीलागान की कोई पूर्व-परम्परा (चाहे वह मौखिक ही क्यो न हो) थी। पुष्पदन्त के महापुराण मे वर्णित लीलाओ को देखकर सन्देह नहीं रह जाता कि ई० सदी दसवी मे कृष्ण की बाल और यौवन लीलाए अपने नये सन्दर्भ मे न केवल लोकप्रिय थी, वरन् उन्हे भाषा काव्य मे प्रवेश मिल चुका था। मोटे तौर पर, पुष्पदन्त कृष्ण की लीलाओ के साथ उनकी देवी (पौराणिक) लीलाओ का भी वर्णन करते है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर। यह नही कहा जा सकता कि प्रेरणा सूर ने पुष्पदन्त से सीधे ग्रहण की। फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि दोनो के लीला वर्णन मे कुछ न कुछ मूल समानता है और यदि यह कि पुष्पदन्त ने परम्परागत जैन कृष्ण नेमि पुराण मे जो कुछ नई बाते जोडी वह लोकप्रियता के कारण। महापुराण की दो सन्धियो (८५-८६) मे कृष्ण लीलाओ का ही मुख्य रूप वर्णन है। शेष सन्धियो मे (८७-८८) मे जरासन्ध और तीर्थंकर नेमिनाथ के प्रसग मे श्री कृष्ण का चरित्र आता है।

पुष्पदन्त के अनुसार श्रीकृष्ण का जन्म सामान्य समय से पहले, अर्थात् ७ वें माह मे होता है और वह भी माता-पिता की वन्दी अवस्था मे। यही कारण है कि मारने की इच्छा रखने वाला कस उनके जन्म की बात नही जान पाता। वसुदेव नवजात बालक को गोद मे उठाते है। बलराम उन पर छत्र की छाया करते हैं और एक देव, बैल

रूप से वर्णित है परन्तु उसके कारण अलग-अलग हैं ।

"महापुराण" मे कृष्ण की बाल लीलाओ के दो भाग है मानवी लीलाए, देवी लीलाएं, बालपन की लीलाए जैसे धूलधूसरित बालक का गोपियो का हृदय चुराना, मथानी पकड लेना, मन्दिर तोड लेना, अर्धवेलिया दही बिखेर देना, गोपियो का पकडना और मथानी तोडने के बदले आलिंगन मागना या दिन भर आगन की कैद ।

कृष्ण शरीर की श्याम छाया से गोपी का सफेद वस्त्र काला होना, उसे धोने के प्रयास मे सहेलियो हसी का पात्र बनना, कभी भैस का पाडा पकडना, और कभी गाय का बछडा । यशोदा का (गु जाफ्के दुय-रइअपयोगे) मू गो की गेद बताकर उसे उडाना बालक का मक्खन खाना और उसे पास पाकर गोपियो का घर के काम मे मन न लगना ।

भद्दइ नियडि बिर घरयम्मु ण ।
लग्गइ वारिहिं ।। (८५।६)

पुष्पदन्त ने जिसे प्रयोग कहा है, सूरदास ने वाल-विनोद के वर्णन मे ऐसे कई प्रयोगो का उल्लेख किया है ।

घी के वर्तन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर कृष्ण उसे बुलाते हे । यह देखकर नन्द यशोदा आपस मे हसते है

"घयभायणि अवलोइवि भावइ ।
णिय पडि विम्बू विट्ठ वोल्लावइ ।
हसइ णदु लेप्पिणु अवरूडइ ।
तहु उरयलु परमेसरू मन्डइ ।
इसी तथ्य को शब्दो मे देखिये
"माखनखात हंसत किलकत हरि
स्वच्छ घट देख्यो ।
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत
जानत आन परेख्यो ।।"

दूसरी लीलाए देवी लीलाए जिनमे से कृष्ण का आलौकिक व्यक्तित्व उभर कर आता है । "सूर सागर" मे चूकि कृष्ण जन्म की खबर कस को बालिका से लग जाती है अत उसमे ये घटनाए प्रारम्भ से ही होने लगती है । महापुराण मे कस को कृष्ण के जन्म की बात उस समय ज्ञात होती है जब उनका पुण्य प्रताप बढ चुका होता है । कस दुस्वप्न देखता है । उसका फल देखने पर उसका ज्योतिष वरूण उसे कृष्ण जन्म की सूचना देता है । वह पूतना को भेजता है, कृष्ण उसका रक्त मांस चूस लेते हैं । वह भाग खडी होती है फिर नही आती हे । एक दूसरे दिन बालक जब अपनी स्वाभाविक क्रीडा मे लीन रहता है तब शकटाकार बना कर देवी आती है और मुह की खाती हे । मा ऊखल से बालक को बाध कर यमुना किनारे चली जाती हे । बालक उसके पीछे लगता है, एक राक्षस वृक्ष फेकता है जो उसकी बाहुओ से टकराकर नष्ट हो जाता है ।

एक गधी और अश्व आते है, दोनो पराजित होते है । पनिहारिने यशोदा को सब बाते बताती हैं । वह घबडाकर आती है और हाथ फेरकर देखती है कि कही बालक को चोट तो नही है ? उसका बन्धन खोल देती है । बालक अरिष्ट को पछाडता है और उसकी कीर्ति सारी गोकुल बस्ती मे फैल जाती है । मा को जब मालूम होता है तो वह कुढती है सोचती है कि कोख से बालक नही–राक्षस पैदा हुआ है । लोग तमाशा देखते हैं और मेरा लाल अकेला ही संकट से भिड जाता हे । वह उसे नद-गोठ ले जाती है । कृष्ण को मथुरा बुलाने

श्रीकृष्ण का अपने कुल के उद्धारक के रूप मे अभिनन्दन किया जाता है। उग्रसेन को मथुरा के राज्य पर स्थापित कर वह थौरीपुर जाने का निश्चय करते है। "सूरसागर" मे कस, कृष्ण को लेने के लिए अक्रूर को भेजता है। कृष्ण के साथ केवल नद जाते है—यशोदा और दूसरी गोपिया नही जाती हे। देवकार्य (कस वध) होने के बाद भी, जब कृष्ण वृन्दावन नही जाते तो नन्द लौट आते है। कृष्ण के बिना उनकी इस वापसी पर यशोदा और गोपियो पर गहरी प्रतिक्रिया होती है। बाद मे कृष्ण कुशल सदेश देने के लिए उद्धव को भेजते है। उद्धव से निर्गुण साधना का उपदेश सुनकर गोपियो को गहरा आधात लगता है। वे उसका कडा विरोध विरोध करती है और इस प्रकार प्रेमभक्ति के समर्थन मे उपालम्भ प्रधान एक नया आख्यान चल पडता है। उद्धव, कुब्जा और राधा उसके प्रमुख पात्र या कोण है। पुष्पदत के कृष्ण काव्य मे उनका अभाव है। उनके अनुसार कृष्ण के साथ ग्वाल बाल सहित नन्द यशोदा भी मथुरा मे जाते है। थोरीपुर जाने के पहले वे सब की कामनाएँ पूरी कर बिदाई देते है। वह स्वीकारते है कि नन्द यशोदा का उन पर बहुत बडा उपकार है कि वे उसे भूल नही सकते—

> "इय गोवीयण वयणई सुणतु
> कीलइ परमेसरू दर हसतु,
> सभासियऊ मेल्लिवि गव्वनाऊ
> इह जन्महु महु तुहु तायताउ
> परिपालिउ थण थणणोण जाइ
> कीसरमि न खणु भि जसोइमाइ
> कइवय दियहिइ तुहु जाहि ताम
> पडिवक्ख कुलक्खऊ करभि जाय।"

इस प्रकार, गोपीजनो की बाते सुनते और कुछ हसते हुए परमेसरु क्रीडा करते रहे। बाद मे गर्वभाव छोड कर उन्होने कहा—"इस जन्म मे आप मेरे तात है। मैं यशोदा माता को एक क्षण के लिए भी नही-भूल सकता, जिसने स्तन का दूध पिलाकर मुझे पाला है। कुछ दिनो के लिए आप लोग चले जाय, तब तक मै शत्रुओ का नाश कर लू।

कृष्ण की कृतज्ञता के इस स्वर की अनुगंज सूर सागर मे कहा सुनाई देती है, जब उद्धव को सदेश देते हुए कृष्ण कहते है

> "ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाही
> प्रात समय माता जसुमति
> अरू नद देखि सुख पावत
> माखन रोटी दही सजायो
> अति हित साथ खबावत।"
> "अनगन भाति करी बहुलीला
> जसुदा नद निवाही"

ऊपर कहा जा चुका है कि गोपियो की बाते सुनकर कृष्ण कुछ मुसकाते रहे। आखिर ये वचन क्या थे। वास्तव मे इन वचनो के बहाने पुष्पदन्त ते अपने कौशल से कृष्ण की सयोग लीलाओ की झलक दे दी है। मथुरा मे ही कुछ दिनो तक कृष्ण के साथ रति क्रीडा (रइ कीलिरेहिं) करने वाली गोपिया उनसे कहती है—

> कइ वय दियहहिं रइ कीलिरीहिं।
> कोल्लावाउ पहु गोवालिणीहिं॥
> पगुत्तउ पइ माहव सुहिल्लु।
> कालिंदि-तीरि मेरउ कहिल्लु।
> एवहिं महुरा-कासिणिहिं रत्तु।
> महु उपरि दोसहि अथिर चित्तु।
> कवि भणइ दहिउ मथति यादू।
> तुहु मइं घरियउ उब्भतियाइ।

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्यों का वर्गीकरण

डा० देव कोठारी

जैन साहित्य के निर्माण एव सुरक्षा की दृष्टि से राजस्थान प्रदेश का वातावरण सर्वाधिक अनुकूल रहा है। यहा के जैन शास्त्र भण्डारो मे प्राकृत अपभ्रंश सस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओ मे लिपिबद्ध रूपात्मक तथा विषयात्मक विपुल हस्तलिखित साहित्य इसका पुष्ट एव प्रबल प्रमाण है।

किन्तु मध्यकाल मे यहा जितना अधिक जैन सर्जित हुआ, उतना अन्य किसी शताब्दी मे नही हुआ। उस विपुल साहित्य मे भी राजस्थानी भाषा मे जैन काव्यो की रचना अत्यधिक परिमाण मे हुई। वास्तव मे यह काल राजस्थानी जैन काव्य के निर्माण का स्वर्णकाल था। राजस्थानी के अधिकतर उत्कृष्ट जैन कवि इसी काल मे हुए तो काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ राजस्थानी जैन काव्य इसी अवधि मे लिखे गये। इस काल के राजस्थानी के प्रसिद्ध जैन कवियो मे हेमरत्नसूरी, उपाध्याय जयसोम, सारग, उपाध्याय गुणविनय, महोपाध्याय समयसुन्दर पुण्यकीर्ति, भुवनकीर्ति, जिनोदयसूरि, जिनराजसूरि, केशराज, जटमल, महोपाध्याय लब्धोदय, सहजकीर्ति, श्रीसार, कनककीर्ति, उपाध्याय कुशलधीर, जिनसमुद्रसूरि, त्रीकममुनि, जयरग, लक्ष्मीवल्लभ, उपाध्याय लाभवर्द्धन, समयप्रमोद, कनकसुन्दर, महिमसुन्दर, लावण्यकीर्ति, जिनरगसूरि, कातिविजय, जयसोम तपागच्छी,य महिमोदय, धर्ममन्दिर, कनकनिधान, लोहट, खेतल, घनानन्द आदि प्रमुख है। इनकी राजस्थानी जैन काव्य रचनाये सैकडो की सख्या मे विविध जैन और जैनेतर ग्रन्थ भण्डारो मे सुरक्षित है। ये रचना प्रबन्ध और मुक्तक दो रूपो मे पाई जाती है —

प्रबन्ध काव्य

राजस्थानी के जैन प्रबन्ध काव्यों मे महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनो सम्मिलित है। इन काव्यो के नामकरण काव्य की नायक-नायिका अथवा कथा वस्तु मे जैन धर्म के मुख्य चर्चित सिद्धात के अनुसार या काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर हुआ है। ये जैन प्रबन्ध काव्य रस, चौपाई वेलि, फागु, चर्चरी, चरित, सन्धि धवल, बारहमासा, विवाहलो, प्रवाडा, प्रबन्ध आदि काव्य-रूपो मे सर्जित है।

किन्तु मध्यकाल मे 'रास' काव्य के स्वरूप और शैली मे व्यापक परिवर्तन हो गया। लोकगीतो की देशियो तथा दोहो का प्रयोग इस अवधि के रासो काव्य मे अधिक हुआ। किसी-किसी रास मे चौपाई छन्द का प्रयोग भी किया गया, फलस्वरूप रासो को चतुष्पदी या चौपाई सज्ञा से भी अभिहित किया जाने लगा। कुछ ऐसी रचनाए भी उपलब्ध होती है, जिनमे चौपाई छन्द का प्रयोग नही किया गया हे, फिर भी उनका नामकरण 'चौपाई' के नाम से किया गया है। ऐसी रचनाए आगे चल

८. मोह् विवेक रास[८]	धर्म मन्दिर	वि० स० १७४१
९. परमात्म प्रकाश चौपाई[९]	" "	वि० सं० १७४२

एतिहासिक प्रबन्ध काव्य

ऐतिहासिक प्रवन्ध काव्य जैन धर्म के प्रभावक आचार्यो व जैन सघ के प्रमुख श्रावको से सम्वन्धित है। इनमे से ऐसे प्रभावक आचार्यों व श्रावको के प्रमुख कार्यों का अकन किया गया है, ताकि भावी पीढी उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सके, ऐसे कुछ प्रबन्ध काव्य निम्न है—

१. कर्मचन्द वशावलीरास[१०]	उपाध्यायगुण विनय	वि० स० १६५६
२ जिनचन्द्रसूरि निर्वाण रास[११]	समय प्रमोद	वि० स० १६७०
३ सघपति सोमजी निर्वाणवेलि[१२]	समय सुन्दर	वि० स० १६७० के बाद
४. विजयसेन सूरि निर्वाण स्वा[१३०]	गुणविजय	वि० स० १६८३
५ सुजस वेलि[१४]	कातिविजय	वि० स० १७४४ के लगभग

उपदेशात्मक प्रवन्ध काव्य

जैन धर्म की मान्यताओ व सिद्धान्तो को उपदेशात्मक तरीके से इन प्रवन्ध काव्यो मे प्रस्तुत किया गया है। कतिपय ऐसे प्रवन्ध काव्य निम्नलिखित है—

१. वारह व्रत रास[१५]	उप० गुणविनय	वि० स० १६५५
२ चार कषाय वेलि[१६]	विद्याकीर्ति	वि० स० १६७० के लगभग
३. वृहद्गर्भ वेलि[१७]	रत्नाकरगणि	वि० स० १६८०
४. पचगति वेलि[१८]	हर्षकीर्त्ति	वि० स० १६८०
५ वारह भावना वेलि[१९]	जयसोम	वि० स० १७०३

---

८ हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची (जोधपुर), भाग १, पृ० २१६

९. जैन गूर्जर कविओ, भाग–२, पृ० २४०

१० वही, भाग–३, खण्ड १, पृ० ८३० ११ वही, पृ० ८९८

१२. समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४१५– १७

१३. जैन गूर्जर कविओ, भाग–१, पृ० ५२१ १४ वही, भाग-६, खण्ड–२, पृ० १२०९

१५ जैन गूर्जर कविओ, भाग ६, खण्ड १, पृ० ८२९

१६. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ग्रन्थाक ८६२९

१७' ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वडोदा, ग्रन्थाक १९१९०

१८. दिगम्वर जैन मन्दिर ठोलिया, जयपुर,

१९. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ८५८६

४. लीलावती चौपाई[29]	हेमरत्न	वि० स० १६७३
५. पद्मिनी चरित चौपाई[30]	लब्धोदय	वि० स० १६८०
६. गोराबादल चौपाई[31]	जटमल	वि० स० १६८०
७. प्रेमविलास प्रेमलता चौपाई[32]	जटमल	वि० स० १६९३
८. लीलावती चौपाई[34]	लाभवर्द्धन	वि० स० १७४२

मुक्तक काव्य

राजस्थानी जैन प्रवन्ध काव्यो की तरह राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य भी मध्यकाल मे सँख्या, रूप एवँ विषय-वैविध्य की दृष्टि से अपरिमित प्राप्त होते है। प्राय समस्त मुक्तक काव्यो का मूलस्वर धर्म व नैतिक जीवन के उत्थान के साथ-साथ आत्म कल्याण की अटूट भावना है। फलस्वरूप यह काव्य शान्त रसात्मक भक्ति का अ ग वन गया है। औपदेशिक प्रवृत्ति भी इनमे उपलब्ध होती है। किन्तु उसका स्वर भी भक्ति प्रधान ही है। इस कारण इन मुक्तक काव्यो को कण्ठस्थ करने की सामान्य प्रवृत्ति जैन समाज मे रही है। मन्दिरो मे पूजा, उत्सव एव अन्य मागलिक अवसरो पर तन्मयता के साथ तथा भाव विभोर होकर विभिन्न देशियो मे गाना इनकी मुख्य विशेषता है। इनमे रचनाकाल का उल्लेख अत्यल्प पाया जाता है। अत. इन रचनाओ का निर्माण कारण कवि-समय ही मानना उपयुक्त रहता है।

रचनात्मक वर्गीकरण

मध्यकाल मे रचित राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य बारह प्रकार के विभिन्न काव्य-रूपो मे उपलब्ध होता है, यथा—

(१) सख्यामूलक मुक्तक काव्य

ये वे मुक्तक काव्य है, जिसके नाम पद्यो की सख्या सूचक होते है। अर्थात् जिनका नामकरण उस रचना की कुल पद्य सख्या की ओर सकेत करता हुआ होता है, जैसे—

पचक, अष्टक, नवरसा, बीसी, इक्कीसी, चौवीसी, पच्चीसा, इकतीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, चालीसी, पच्चासा, बावनी, सत्तरी, पिचहत्तरी, छिहत्तरी, शतक (सईक), मतसई, हजारा, मातृका, कक्का आदि।

छन्दमूलक मुक्तक काव्य

विशिष्टि छन्दो मे लिखे गये मुक्तक काव्य छन्दमूलक मुक्तक काव्य की श्रेणी मे आते हैं। ऐसे काव्य, छन्द के नाम से ही अभिहित किये जाते है। उदाहरणार्थ-निसाणी, गजल, छन्द, छप्पय, कुण्डलिया, लावणी, दोहा, गीत, ढाल, ढालिया

---

२९ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ग्रन्थाक ३५००

३० भवरलाल नाहटा-पद्मिनी चरित चौपाई, पृ० १-१०८

३१ वही, पृ० १८२-२०८

३२. जैन गूजर कविओ, भाग ३, खण्ड १, पृ० ४०१३

३३. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर, ग्रन्थाक ४०१३

(१२) अन्य मुक्तक काव्य

अन्य किसी श्रेणी में नहीं आने वाले काव्यो-रूपो को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है जैसे—प्रवहण, वाहण, गीत आदि।

विषयनुसार वर्गीकरण

मध्यकाल में पाये जाने वाले उपर्युक्त समस्त राजस्थानी जैन मुक्तक काव्य-रूपो का वर्ण्य-विषय विविध प्रकार के है। अत विषय विधिता की दृष्टि से जैन मुक्तक काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य
२ उपदेशात्मक मुक्तक काव्य
३ ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य
४. स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य
५ तीर्थ व यात्रा प्रधान मुक्तक काव्य
६. ऐतिहासिक मुक्तक काव्य
७ बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य
८. वर्णनात्मक मुक्तक काव्य
९. प्रकीर्णक मुक्तक काव्य

धार्मिक व सैद्धान्तिक मुक्तक काव्य

जिन मुक्तक काव्यो मे धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति और सैद्धान्तिक विश्लेषण को प्राथमिकता दी गई है, उन राजस्थानी जैन मुक्तक काव्यो को इस वर्गीकरण के अन्तर्गत रखा गया है। ऐसे कुछ काव्य निम्न है—

१ बारह भावना गीतम्[३४]	समयसुन्दर
२ श्रावक बारह व्रत कुलकम्[३५]	समयसुन्दर
३ सिद्धान्त श्रद्धा सज्झाय[३६]	समयसुन्दर
४ चौदह गुणस्थाणक[३७] स्तवण	धर्मवर्द्धण
५. अट्ठावीस लब्धि स्तवन[३८]	धमवर्द्धण
६ पंच इन्द्रिय री सज्झाय[३९]	जिनहर्ष
७ सामायक बत्तीस दोष सज्झाय[४०]	जिनहर्ष
८ नववाड सज्झाय[४१]	जिनहर्ष

२-स्तुति प्रधान मुक्तक काव्य

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उन मुक्तक काव्यो को लिया गया है जिनमे तीर्थंकर, विरहमान, ऐरावत क्षेत्र, तीर्थ, पौरणिक चरित्र, गुरू, एव साधु आदि की वन्दना, स्तुति के माध्यम से चौवीसी, वीसी व स्तवन के द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्तुति प्रधान काव्य इस प्रकार है—

---

३४ नाहटा-समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ४५९
३५ वही, पृ० ४६४
३६. वही. पृ० ४७७
३७ नाहटा-धर्मर्द्धन ग्रन्थावली पृ० २७८
३८ वही, पृ० २८६
३९. नाहटा-जिनहर्ष, ग्रन्थावली, पृ० ४६६
४० वही, पृ० ३८१
४१, वही, पृ० ४९८

१ बीकानेर चैत्य परिपाटी[५६] धर्मवर्द्धन
२ जैसलमेर चैत्य प्रवाडी[५७] सहजकीर्ति
३. तीर्थयात्रा निरूपक गीतम्[५८] जिनराज सूरि
४. गिरनार तीर्थयात्रा स्तवन[५९] जिनरजासूरि
५ तीरथभास[६०] समयसुन्दर
६ अष्टापद तीरथभास[६१] समयसुन्दर

५–ऋतु व तिथि सम्बन्धी मुक्तक काव्य

ऋतु व तिथि विपयक मुक्तक काव्यो मे विभिन्न ऋतुओ, तिथियो एव पर्वो का वर्णन किया गया है। ऐसे कुछ मुक्तक काव्य निम्नलिखित है—

१. ज्ञानपचमी बृहत्स्तवन[६२] समयसुन्दर
२ मोन एकादशी स्तवन[६३] समयसुन्दर
३. सीत उष्ण वर्षा वर्णन[६४] धर्मवर्द्धन
४. पनरह तिथि रा सवैया[६५] जिनहर्ष
५. वरसात रा दूहा[६६] जिनहर्ष

६–ऐतिहासिक मुक्तक काव्य

इस प्रकार के मुक्तक काव्य इतिहास पुरुपो, ऐतिहासिक स्थानो एव घटनाओ से सम्बिन्धित है। जैन और जैनेतर इतिहास विषयक दोनो प्रकार के ऐसे मुक्तक काव्य उपलब्ध होते है, यथा—

१ अनूपसिघ रा सवैया[६७] धर्मवर्द्धन
२. गीत राउल अमरसिध रो[६८] धर्मवर्द्धण
३. कवित्त जसवन्तसिंघ रो[६९] धर्मवर्द्धण
४. कवित्त दुरगादास रो[७०] धर्मवर्द्धण
५ गुर्वावली गीतम्[७१] समयसुन्दर

७–बुद्धि परीक्षा प्रधान मुक्तक काव्य

जैसा कि नाम से स्पष्ट है इस प्रकार के मुक्तक काव्यो का विषय मानव बुद्धि की परीक्षा करना है। हियाली, गूढा, प्रहेलिकाए, समस्या आदि इसी श्रेणी के मुक्तक काव्य है। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

---

५६ नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २१८
५७ जैन गूर्जर कविओ, भाग–३, खण्ड १, पृ० १०२१
५८ नाहटा–जिनराज सूरि कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
५९ वही, पृ० ४२
६०. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ६०
३१ वही, पृ० ६१–६३
६९ नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० २३६
६४ नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० १०१
६५ नाहटा–जिनहर्प ग्रन्थावली, पृ० ४०३
६६. वही, पृ० ४२२
६७. नाहटा–धर्मवर्द्धन ग्रन्थावली, पृ० २४२
६८, वही, पृ० १४५
७९ वही, पृ० १४६
७०, वही, पृ० १४७
७१. नाहटा–समयसुन्दर कृति कुसुमाजली, पृ० ३४८

५. सुन्दरी स्त्री[८]	जिनहर्ष
६ यौवन[९]	जिनहर्ष

मध्यकाल के राजस्थानी जैन काव्य के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इस अवधि मे राजस्थानी जैन काव्य कितना समृद्ध एव विशाल परिणाम मे उपलब्ध है। इस समस्त काव्य की भापा सरल सुबोध राजस्थानी है जिस पर तत्कालीन लोक भापा का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित है। जहा कही पर भी भापा मे क्लिष्टता आई है वह मात्र प्रसग की अनिवार्यता के कारण ही है। कला पक्ष एव भाव पक्ष की समृद्धि इनकी अन्य विशेपता है और उस दृष्टि से इस कारण के काव्य का स्वतत्र अनुसधानात्मक अध्ययन अपेक्षित हे।

८७ वही, पृ० ४२५
८८ वही, पृ० ४२५-२६

(शेष पृष्ठ १९४ का)

नही है और लीलाओं के वर्णन का दार्शनिक उद्देश्य व्यक्ति चेतना को रागात्मक धरातल पर समष्टि चेतनाओ की प्रतीति कराता है। इस व्यापकता की अनुमति मे मनुष्य अह की व्यक्तिगत क्षुद्रताओ को तिरोहित कर देता है।

तेरे दर्शन से हे स्वामी, लखा है रूप मैं मेरा,
तजू कब राग घन तन, वे सब मेरे विजाती है।

अर्हद् भक्ति की कृपा से उनका रोग शात हो गया। ७० वर्ष की अवस्था मे उनका देहान्त हो गया।

चम्पाशतक मे यद्यपि अधिकाश पद भक्ति परक है किन्तु कुछ पद आध्यात्मिक, सामाजिक एव उपदेश परक भी मिलते है। अनेक राग एव रागनियो मे निर्मित इन पदो मे कवियित्री ने जो भाव भरे है उससे उनकी विद्वत्ता, सिद्धान्तभिज्ञता एव अध्यात्मिकता के दर्शन होते है। आपके पदो को हम भक्तिपरक, शिक्षा परक और अध्यात्म परक इन तीन भागो मे विभाजित कर सकते है।

आपके भक्तिपरक पदो मे कवियित्री के भक्त हृदय की स्पष्ट झलक निहित है। उनकी अन्तर्वेदना पद के प्रत्येक वाक्य से ध्वानित होती है। इन पदो का परायण करने से ऐसा प्रतीत होता है मानो उनमे हृदयगत भावो को गूथ कर सामने रख दिया हो। आपकी कविताओ से परमात्मा की शाँत मुद्रा के दर्शन होते है जिससे विपत्तिया स्वत दूर होने लगती है। सभी पद वासना से मन को हटाकर अपने आत्म स्वरूप मे लग जाने की प्रेरणा देते है। मानव विराट शक्तिशाली होता हुआ भी दीन, गरीब एव अल्पबुद्धि वाला है इसलिये दु खो से घबराकर उनसे वह छुटकारा पाना चाहता है। कवियित्री की धारणा है कि कर्म मोह का प्याला मिला कर उसे पूर्णत अज्ञानी बना देते है किन्तु अर्हद् भक्ति ही एक ऐसा अमोघ मन्त्र है जिससे आत्मा का कल्याण सम्भव हे और इसी भावावेश मे गा उठती हे —

"करम म्हारो काई करसी,
जो म्हारे परमेष्ठी आधार।"

आपको परत्मामा के समान ही गुरू मे भी अटल विश्वास था। सच्चे गुरू वीतरागी होते है भक्ति ही मोक्ष मार्ग मे सहायक होती है। गुरू ही उसे उचित मार्ग पर चलने का उपदेश देते है। अत गुरू कैसे हो ? यह उन्होने इस प्रकार बताया है—

जिन्हो का ध्येय आतम है, लगी है लौ जहा जिसकी,
नही कुछ खबर बाहर की
सुरति खगी जिनमे लगी जिनकी
इसी चित्त ध्यान केवल ते, चिदानन्द ज्योति जागी है,
मिलेगे कब गुरू हमको, को साचे वीतरागी है॥

अध्यात्म परक पदो मे भी कवियित्री ने अध्यात्म की जो गगा बहायी है वह अपने आप मे पूर्ण है। वह आत्मा को सम्बोधित करके जगत के सभी विकल्पो को त्याग कर अपने आत्म सुख को वरण करने के लिये कहता है। आत्मा परमात्मा एक है। परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त हो गये है किन्तु आत्मा अभी शरीर बन्धन से मुक्त नही हुई, बस यहा दोनो मे भेद है। आपको आत्मध्यान की तीव्र अभिलाषा है। इसीलिये आप कहती है —

"मैं कब निज आतम को ध्याऊ,
पर परिणति तजि, निज परिणति गही,
ऐसी निज निधि कब पाऊं,
इतने से ही उनको सन्तोप नही होता।
"समकित बिन गोता खाओगे,
दर्शन बिन गोता खाओगे।"

कवियित्री ने अपने कर्म के पल भी गहरी आस्था प्रकट की है। जैसा कर्म वैसा ही फल—
"कारण कौन प्रभु मोहि समझावो,
एक मात ने दो सुत जाये, रग रूप मे भेद लखायो"
एक पाठशाला पढे दोऊ मिलि,

१८

अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यान काव्य

डा० त्रिलोचन पाण्डेय, जबलपुर

विगत शताब्दी के अन्तिम चरण मे हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने कुछ प्रेमाख्यानो की ओर सकेत किया था किन्तु इनकी ओर वास्तविक ध्यान 'पदमावत्' के उस स्स्करण से आकर्षित हुआ जिससे डा० ग्रियर्सन तथा प० सुधाकर द्विवेदी ने प्रस्तुत किया था। तब से आज तक पिछले ७०-८० वर्षो मे इस काव्य धारा पर अनेक विद्वानो ने विचार किया है और सन्त-काव्य, राम-काव्य, कृष्ण-काव्य आदि की भाति इसकी भी प्रतिष्ठा हो चुकी है। इनका अध्ययन करते समय आज मुख्य रूप से दो प्रश्न उठते है—क्या इनका मूल स्रोत भारतीय माना जाय जैसा कि प० परशुराम चतुर्वेदी, प० रामपूजन तिवारी आदि विद्वानो ने लक्षित किया है? अथवा इन्हे फारसी काव्य-परम्परा मे स्थान दिया जाए जैसा पहले प० रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता थी। हम एक तीसरा प्रश्न रख सकते है—इनमे जन साधारण मे प्रचलित लोक कथाओ का आधार किस उद्देश्य के लिए किस सीमा तक ग्रहण किया गया है।

उपर्युक्त तीनो प्रश्नो का समाधान खोजने के लिए हमे उन जैन आख्यानो का विश्लेषण करना होगा जिनकी परम्परा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी मे चली आई है। हिन्दी मे इस समय दो प्रकार के प्रेमाख्यान स्वीकृत हैं—सूफी प्रेमाख्यान और असूफी (हिन्दू) प्रेमाख्यान। इनके अतिरिक्त प्रेमाख्यानो की एक तीसरी काव्य धारा है जैन प्रेमाख्यानो की जिसके बिना प्रेमाख्यानो का वास्तविक रूप ज्ञात नही हो सकेगा। एक प्रकार से यदि देखा जाए तो असूफी प्रेमाख्यानो मे आधे से अधिक जैन प्रेमाख्यान ही दिखाई देगे। ढोला मारू, मृगा-हसावली, उषाअनिरूद्ध, स्थूलिभद्र, नेमिनाथ, विद्या विलास आदि के वृत्तो को अनेक जैन कवियो ने ग्रहण किया है जो विशुद्ध भारतीय परिवेश को लेकर चले है। प्राकृत और अपभ्रंश मे इनका प्राचीन स्वरूप देखना आवश्यक है। अपभ्रंश के प्रेमाख्यान विशेष रूप से महत्त्व रखते हैं।

अपभ्रंश के आख्यानो मे 'णायकुमार चरिउ', 'भविस्सयत्त कहा', 'करकड चरिउ', प्रकाशित हो चुके है जिनमे प्रेम, अपहरण, यात्रा विवाह, युद्ध, उदारता आदि के वर्णन यथा स्थान मिलते है। इनके अतिरिक्त कुछ आख्यानो का सकेत खोज रिपोर्ट से मिलता है। इस प्रकार अपभ्रंश के लगभग २५ ग्रन्थ उल्लेखनीय है :—

१	णायकुमार चरिउ	पुष्पदन्त	१० वी शताब्दी
२	विलासवई कहा	साधारण	११ ,,
३	सुदसण चरिउ	नयनन्दि	,, ,,
४	जम्बूसामी चरिउ	वीरकवि	,, ,,
५.	करकण्डु चरिउ	कनकामर	,, ,,
६.	पउमसिरी चरिउ	धाहिल	१२ वी ,,

३. अलकार प्राय: सादृश्य मूलक है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा अलकार अधिक है। इनका विधान भी शास्त्रीय शैली का है। अप्रस्तुत विधान आकर्षक है किन्तु उसमे कोई नवीनता नही। अन्य अलकारो मे अतिशयोक्ति, विरोधाभास, श्लेष और यमक प्रधान है जो रचयिताओ की चमत्कार प्रवृत्ति के परिचायक है।

४ अपभ्रंश आख्यानो की भाषा मुक्तक रचनाओ की भाषा से भिन्न पडती है। वाक्य-विन्यास, पदरचना, क्रियारूप परिनिष्ठित स्वरूप का परिचय देते है यद्यपि शब्द भण्डार तद्भव अधिक है। कवियो के सम्मुख प्राकृत--अपभ्रंश रचनाओ का आदर्श रहा है। भाषा मे प्रवाह एवं सहजता अवश्य है किन्तु वह एक साचे मे ढली है। ध्वन्यात्मक शब्द युग्मो की जिस आवृत्ति के लिए अपभ्रंश प्रसिद्ध है, वह इनमे स्थान स्थान पर लक्षित होगी। सूक्तियो और लोकोक्तियो के प्रयोग ने इसे समृद्ध किया है और फिर भी इन प्रयोगो ने उसे बोलचाल का स्वरूप प्रदान नही किया।

५. सास्कृतिक चित्रण की दृष्टि से ये काव्य महत्वपूर्ण है। लगभग पाच सौ वर्षों के दीर्घकाल मे फैले हुए ये आख्यान तत्कालीन सामाजिक जीवन, नगरवासियो के रहन सहन, रीतियो, प्रथाओ, लोकाचारो, अनुष्ठानो और लोक विश्वासो की विशाल सामग्री जुटा देते हैं। यह सामग्री इतिहास ग्रन्थो मे कही उल्लिखित नही। बडे-बडे नगरो, उद्यानो, जलाशयो तथा रनिवासो के वर्णन यदि समाज के उच्च स्तरो का परिचय कराते हैं तो खानपान, मनोरजन, उत्सव विलास, विवाह, वर्णव्यवस्था, पारिवारिक सम्बन्धो आदि के चित्रणो से मध्यम वर्ग का भी परिचय मिलता है। जन साधारण का जीवन सरल था, फिर भी राजाओ, सामन्तो तथा सेठो का अधिक वर्णन हुआ है। व्यापारी जिस प्रकार की यात्राए करते थे और जिस प्रकार की सामग्रिया खोज कर लाया करते थे, वह वैभव विलास का विशेष रूप से द्योतक है। नायको के देशान्तर वर्णन अन्य द्वीपवासियो पर प्रकाश डालते है। सिंहल द्वीप की यात्राए इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

६ इन आख्यानो की विषयवस्तु लोक कथाओ का अनुसरण करती है। यह इन्हे देखने से ही ज्ञात है। प्राय सभी कथानक उन महत्वपूर्ण व्यक्तियो पर केन्द्रित है जो धर्म साधना में विश्रुत हो चुके थे। ऐतिहासिक यात्रा या घटनाओ का उल्लेख केवल चरित्र को व्यापकता प्रदान करने के लिए किया गया है अन्यथा काल्पनिक वृत्तो की अधिकता उन्हे सामान्य जन जीवन से ऊपर उठा देती है। जैन पुराणो के महापुरुष इन आख्यानो की आधार भूमि बने है। जिनकी अलौकिक या आश्चर्यकारी घट--नाओ के अकन मे जैन कवियो ने काल्पनिक तत्त्वो का ही उपयोग किया हे। अत ये आख्यान अव-दानो की कोटि के है।

७ इनमे लोक तत्त्वो का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। काल्पनिक कथानक स्वय अपने मे लोक तत्त्व है। इसके अतिरिक्त तीन ओर विशेषताए मिलेगी जो लोक तत्त्वो की है। ये है—रोमाचक वातावरण की सृष्टि, लोक विश्वासो की प्रचुरता और प्रेम मार्ग मे विघ्न बाधाओ व उनके निराकरण का विधान, रोमाचक वातावरण के लिए अलौकिक प्राणियो मे गधर्व, विद्याधर, व्यतर, राक्षस आदि उपस्थित होकर भूमिका तैयार करते हैं। जादुई शक्तिया पात्रो को ही नही, अपने पाठको को भी रहस्यपूर्ण प्रदेशो मे खीच ले जाती है, श्मशान भूमि, पाताल लोक, किन्नर लोक, भयकर वनस्थली आदि अद्भुत वातावरण की सृष्टि करते है, । स्वप्न विचार, शकुन विचार, कर्मफल, भाग्य-

एक बार करकुंड की सभा मे आकर चम्पा के राजदूत ने अपने राजा का प्रभुत्व स्वीकार करने को कहा जिस पर क्रुद्ध होकर उसने चम्पा नरेश पर चढाई कर दी। घोर युद्ध के बाद माता पदमावती ने पिता पुत्र का सम्मिलन कराया। घोडीवाहन उसी को राजपाट सौप कर स्वय विरक्त हो गया। मन्त्री के कहने पर करकुंड ने दक्षिणपवर्ती राजाओ पर चढाई की। मार्ग मे तेरापुर नामक स्थान पर उसने पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन किया, उसने वहा दो गुफाए और बनाई। इसी बीच एक विद्याधर उसकी प्रेमिका मदनावली को ले भागा। करकुंड उसके वियोग मे विह्वल हो गया किन्तु पूर्व जन्मा एक बन्धु के समझाने पर कि पुन उनका मिलन होगा, वह आगे बढा। यह आश्वासन देने के लिये उसे नरवाहनदत्त का आख्यान सुनाया गया। सिहलद्वीप जाकर उसने राजकन्या रतिवेगा का पाणीग्रहण किया। जल मार्ग से लौटते समय एक भीमकाय मत्स्य ने नौका उलट दी। जल मे कूद कर उसने मत्स्य को मार डाला पर अपनी नौका पर नही लौट सका। मन्त्री किसी प्रकार उस बेडे को किनारे पर ले आया। शोक पूर्ण रतिवेगा दूसरे किनारे जा लगी और देवी-पूजन करने लगी। देवी ने उसे अरिदमन का आख्यान सुनाया।

करकुंड का अपहरण कोई विद्याधरी कर ले गई। उससे विवाह करके करकुंड पुन रतिवेगा के पास आया और चोल, चेर, पाड्य के नरेशो को उसने पराजित किया। उन राजाओ के मुकटो पर जिन प्रतिमा के दर्शन करने के कारण, जिन्हे वह रौद चुका था, उसे पश्चाताप हुआ। तेरापुर स्थान मे पुन लौट आने पर उसे मदनावली मिल गई। चम्पापुरी मे आकर वह सुख से रहने लगा। एक दिन वह उपवन मे शीलगुप्त मुनिराज का दर्शन करने गया। उनके धर्मोपदेश से उमे वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने मुनिराज से तीन प्रश्न किए— उसे कुंडु क्यो हुई ? उसके माता पिता का वियोग क्यो हुआ ? उसकी प्रिय मदनावली का अपहरण क्यो किया गया ? मुनिजी ने इन प्रश्नो का समाधान करने के लिए उसके तीन पूर्वभवो के वर्णन सुनाए। इन्हे सुनकर करकंडु अपने पुत्र वसुपाल को राजपाट सौप कर विरक्त हो गया।

'करकुंड चरिउ' के लेखक मुनि कनकामर ने ग्रन्थ के आरम्भ मे जिनेद्रदेव का स्मरण किया है जो परमात्मा पद मे लीन है और मृत्यु भय से रहित है। वे संयमरूपी सरोवर के राजहस है, उत्तम गुणो से सम्पन्न है तथा आतमरस के अगाध समुद्र है। कवि अपनी विनय प्रदर्शित करते हुए कहता है—

"वायरणु ण जाणामि जई विछ्दू।
सुअ जलहि तरेव्वइ जइवि मदु॥
जइ कहवण परसइ ललिय वाणि।
जइ बुहयण लोयहो तणिय काणी॥
जइ कविगण सेव हु मइ ण कीय,
जइ जडमण सगइ मलिण कीय॥

अर्थात् न तो मैं व्याकरण जानता हूं और न छद शास्त्र। शास्त्र रूपी समुद्र के पार पहुचने मे मन्दबुद्धि हू। मेरी वाणी मे लालित्य का प्रसार नही होता। बुद्धिमानो के सम्मुख लज्जा उत्पन्न होती है। मैंने कविजनो की सेवा भी नही की, मूर्खों की सगति से ही मेरी मति मलिन हुई है। तदुपरान्त कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो स्वयभू आदि का उल्लेख करते हुए कथानायक करकुंडु के चरित्र वर्णन मे प्रवृत्त होता है। फिर उसने जम्बूद्वीप स्थित विशाल नगरी चम्पा का भव्य वर्णन किया है जहा रेशमी पताकाए उडती है, स्थान स्थान पर रक्त कमल बिखरे हुए है।

विवाह करते समय मोतियों से तोरण सजाया जाना स्वर्ण निर्मित चौरिया लटकाना, मनोहारी निर्मल वेदिया बनाना, ये सभी प्रसग आचारो व अनुष्ठानो के निर्देशक है। रतिवेगा देवी की उपासना लाल वस्त्रो से करती है। आज भी लोकपरम्परा मे देवी पूजा के लिए लालवस्त्रो का ही विधान मिलता है।

कही रणनीति का परिचय होता है। रथ रथो से, हाथी हाथियो से घोडे घोडो से पुरुष पुरुषो से लडते थे जैसे करकडु के द्रविड राजाओ के साथ युद्ध मे वर्णित है। पद स्मरण करते हुए सात पग आगे बढता है, फिर आनन्द भेरी बजवा कर दक्षिण काक्षी लोगो को एकत्र करता है। मुनिवर के उपदेश जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तो की व्याख्या करते हैं। आदर सत्कार की यह प्रणाली अन्य काव्यो मे भी मिलेगी।

इस आख्यान की वस्तु उत्पाहत नही है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के अनुसार जैन पुराणो मे और बौद्धो के 'कुम्भकार जातक' मे यह वृताात मिलता है। जैन परम्परा मे करकण्डु को कलिग देश का राजा कहा गया है। इसकी अवातर कथाये भी भिन्न स्रोतो से ली गई है। कुछ तत्त्व, जैसे अशुभ शिशु का जल प्रवाह कराना, महाभारत मे मिलते हैं। यदुवशी पृथ्या कन्यावस्था मे सूर्य का आवाहन करने से गर्भवती हो गई और प्रसव के उपरान्त उसने पुत्र को जल मे छोड दिया जो महा प्रतापी कर्ण हुआ। कुछ कथाए प्राचीन साहित्य मे परिचित है जैसे रानी पदमावती के दोहद का वर्णन अपने पूर्व रूप मे 'णायाधम्मकहाओ' मे दिखाई देता है। महाराजा श्रेणिक की देवी धारिणी को वैसा ही दोहद होता है। रानी, राजा को साथ ले कर मन्द मन्द जल वृष्टि के बीच नगर का भ्रमण करती है। नरवाहनदत्त की कथा 'कथा सरित्सागर' से ली गई है। शुक की कथा, जो अरिदमन के कथानक मे आई है, 'कथासरित्सागर' मे सुमना राजा की कथा से तुलनीय है। 'कादम्बरी' मे जिस प्रकार पण्डित तोता राजा को उपदेश देता है, यहा भी वह पैर उठा कर राजा का अभिनन्दन करता है। ये सभी कथासूत्र लोक जीवन से ग्रहण किए गए है जिन्हे कवि आकर्षक बना देता है। करकण्डु का कथानक अवदान की श्रेणी मे आएगा।

लोकतत्त्व की दृष्टि से दूसरी सधि मे मातंग विद्याधर द्वारा करकण्डु की शिक्षा के लिए कही गई कथा पठनीय है जिसमे मन्त्रशक्ति का प्रभाव बताया गया है। मदनावली के हरण से दुखी हो जाने वाले करकण्डु को तेरापुर मे एक विद्याधर जो कथा सुनाता है, उसमे अलौकिक शक्ति के द्वारा न केवल मदन मञ्जूषा के हरण का उल्लेख है बल्कि ऋषिकन्या के श्राप से प्रेमी विद्याधर का शुक बन जाना भी वर्णित है। शाप द्वारा रूप परिवर्तन लोक कथाओ की प्रसिद्ध रूढि है जो यहा प्रयुक्त हुई है। छठी सधि मे मदनामर एक ऋषि कन्या का स्पर्श कर लेता है जिसके श्राप से वह शुक हो जाता है। प्रार्थना करने पर ऋषि कन्या श्राप की अवधि घटा कर कहती है—नरवाहन दत्त का रति विभ्रमा से परिणय हो जाने पर वह पुन मनुष्य हो जाएगा।

शुभ शकुन की एक कथा सातवी संधि मे है जहा कोई क्षत्रिय कुमार ब्राह्मण से कह सुन कर उसके शकुन का फल स्वय ले लेता है। वह लडते हुए साप और मेढक को अपने शरीर का मास देता है और वे दोनो मनुष्य रूप धारण कर उसके साथ हो लेते है। दसवी सधि मे ऐसी ही एक अलौकिक कथा मुनिराज शील गुप्त पदमावती को सुनाते हैं जिसमे उज्जैन नरेश की पुत्री किसी ब्राह्मण पुत्र का जन्म लेती है जो राक्षसी को वश मे कर लेने के उपरान्त कभी शेरनी का दूध लाता है तो कभी बोलता हुआ पानी। मुनिवर ने जहा पूर्व भवो का वर्णन करके करकण्डु के प्रश्नो का समाधान किया

अपनाया। छन्दो की दृष्टि से सूफियो द्वारा प्रयुक्त दोहा चौपाई छन्द अपभ्रंश की ही देन है। नाथ पथियो का प्रभाव भी दोनो काव्य परम्पराओ पर एक जैसा है। अत अपभ्रंश के इन प्रेमाख्यानो का अधिकाधिक अध्ययन सूफी प्रेमाख्यानो की विचार धारा तथा शैली विधान को समझने मे विशेष सहायक होगा।

दूसरी ओर हिन्दी साहित्य मे आदि काल से लेकर रीतिकाल के अन्त तक जैन कवियो द्वारा अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए जिनका थोडा सकेत आरम्भ मे किया गया है। 'नेमिनाथ फागु', 'ढोला मारु रा दूहा', 'मलय सुन्दरी कथा', हसराज वच्छराज चउपई, 'विद्याविलास चउपई' 'थूलिभद्द कोसा प्रेम विलास' 'मिरगावती रास' 'प्रेम विलास, प्रेमलता' आदि कई ऐसे प्रेमाख्यान है जो हिन्दुओ द्वारा रचित कहे जाते है। इन हिन्दुओ मे अधिक तर जैन कवि थे। सूफी काव्यो से ये जैन काव्य जिन विशेषताओ मे दूर पडते है, वे विशेषताऐ हमे अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानो मे उपलब्ध होती है।

इस प्रकार अपभ्रंश के जैन प्रेमाख्यानो के साथ हिन्दी की तीन प्रेमाख्यान परम्पराओ का सम्बन्ध जुडता है—सूफी काव्य परम्परा, जैन काव्य परम्परा और अन्य कवियो द्वारा रचित प्रेमाख्यान काव्य परम्परा। आश्चर्य की बात है कि ऐसे महत्त्व पूर्ण विषय की ओर अभी लोगो का बहुत कम ध्यान गया है और अपभ्रंश के ये आख्यान काव्य राजस्थान के विविध ग्रन्थ भण्डारो मे अज्ञात या अल्पज्ञात ही पडे हुए है। इनके समुचित सम्पादन एव प्रकाशन के उपरान्त ही सस्कृत से लेकर आधुनिक भाषाओ तक के भारतीय प्रेमाख्यानो को ठीक ठीक समझा जा सकेगा।

सुख–दुख

नही चाहता है कोई भी हत हो जाना
हर प्राणी को प्रिय है जीवन।
सभी चाहते जीवन मे सुख
दुख कोई भी नही चाहता॥

—अर्हत्

प्राकृत का जब अपभ्रंश होना प्रारम्भ हुआ, और फिर उसमे भी विशेष परिवर्तन होने लगा, तब उसका एक रूप गुजराती के साचे मे ढलने लगा और एक हिन्दी के साचे मे। यही कारण है जो हम ई० १६ वी शताब्दी से जितने ही पहले की हिन्दी और गुजराती देखते हैं, दोनो मे उतना ही सादृश्य दिखलाई पडता है। यहा तक कि १३ वी और १४ वी शताब्दी की हिन्दी और गुजराती मे एकता का भ्रम होने लगता है।[3] इसी भाषा साम्य के कारण वि० १७ वी शताब्दी के कवि मालदेव के 'भोजप्रबन्ध' और 'पुरन्दर कुमार चउपई', जो वास्तव मे हिन्दी ग्रन्थ है, गुजराती ग्रन्थ माने जाते रहे।[४]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि १६ वी-१७ वी शती तक भारत के पश्चिमी भू-भाग मे बसने वाले जैन कवि अपभ्रंश मिश्रित प्राय एक सी भाषा का प्रयोग करते रहे। हा, प्रदेश विशेष की भाषा का इन पर प्रभाव अवश्य था। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी का विकास शौरसैनी के नागर अपभ्रंश से हुआ।[५] यही धारणा है कि १३ वी-१७ वी शती तक इन तीनो भाषाओ मे साधारण प्रान्तीय भेद को छोडकर विशेष अन्तर नही दिखता। श्री मो० द० देसाई ने इस भाषा को प्राचीन हिन्दी और प्राचीन गुजराती कहा है ..." विक्रम की सातवी मे ग्यारहवी शती तक अपभ्रंश की प्रधानता रही, फिर वह जूनी हिन्दी और जूनी गुजराती मे परिणत हो गई।[६] गुजराती के प्रसिद्ध वैयाकरणी श्री कमलाशकर प्राणशकर त्रिवेदी ने गुजराती को हिन्दी का पुराना प्रान्तिक रूप मानते हुए कहा है—" स्वरूप मे गुजराती हिन्दी की अपेक्षा प्राचीन है। वह उस भाषा का प्रान्तिक रूप है। चालुक्य राजपूत इसे काठियावाड के प्रायद्वीप मे ले गये और वहा दूसरी हिन्दी बोलियो से अलग पड जाने से यह धीरे-धीरे स्वतत्र भाषा बनी। इस प्रकार हिन्दी मे जो पुराने रूप लुप्त हो गये है वे भी इसमे कायम है।[७]

श्री मोतीलाल मेनारिया ने शार्गधर, असाहत, श्रीधर, शालिभद्रसूरि, विजय सेनसूरि विनयचन्द्रसूरि आदि गुजराती कवियो की भी गणना राजस्थानी कवियो मे की है।[८] इन्ही कवियो और उनकी कृतियो की गणना हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने हिन्दी मे की है और उनकी भाषा को प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश कहा है। मिश्र बन्धुओ ने अपने ग्रंथ 'मिश्रबन्धु विनोद' भाग १ मे धर्मसूरि, विजयसेनसूरी विजयचन्द्रसूरि, जिनपद्मसूरि और सोमसुन्दरसूरि आदि जैन-गूर्जर कवियो का उल्लेख किया है।

---

३ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, सप्तम् हि० सा०स० कार्य विवरण भाग-२, पृ० ३

४ वही पृ० ४४-४५.

५. हिन्दी भाषा का इतिहास, धीरेन्द्र वर्मा.

६ जैन-गूर्जर कविओ, भाग-१, पृ० १०

७. गुजराती भाषानु बृहद् व्याकरण, प्रथम सस्करण, पृ २१

८. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया.

शताब्दी से पूर्व ही देखना प्रारम्भ कर दिया था। मुनि रामसिंह का 'दोहा पाहुड' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य कृति है जिसकी तुलना मे भाषा साहित्य की बहुत कम कृतिया आ सकेगी। महाकवि तुलसीदास को तो १७ वी शताब्दी मे भी हिन्दी भाषा मे 'राम चरित मानस' लिखने मे झिझक हो रही थी किन्तु इन जैन सतो ने उनके ८०० वर्ष पहले ही साहस के साथ प्राचीन हिन्दी रचनाए लिखना प्रारम्भ कर दिया था।[10] गूर्जर भट्टारक कवियो की भी हिन्दी रचनाए १५ वी शती से प्राप्त होती है। १५ वी शती के ऐसे गूर्जर भट्टारको मे भट्टारक सकल कीर्ति और ब्रह्मजिनदास उल्लेखनीय हैं। ये सस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। फिर भी इन्होने लोकभापा के माध्यम से राजस्थान और गुजरात मे जैन साहित्य और सस्कृत के निर्माण मे अपूर्व योग दिया। ये अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे।[11] इनके शिष्य ब्रह्मजिनदास भी पाटण निवासी हूंबड जाति के श्रावक थे।[12] इन्होने ६० से भी अधिक रचनाए लिखकर हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि की। इन रचनाओ मे रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्तरास, परमहसरास, हरिवशपुराण, आदिनाथपुराण आदि विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा शैली की दृष्टि से इनके 'परमहसरास' से एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

पाषाण भाट्टि जिम होई,
गोरस भाट्टि जिमि घृत होई।
तिल सारे तैल बसे जिमिभग,
तिम शरीर आत्मा अभग॥
काष्ठ भाटिट् आगिनि जिमि होई,
कुसुम परिमल भाट्टि नेटट।
नीर जलद सीत जिमि नीर,
तेम आत्मा वसै जगत सरीर॥

१६ वी शती के भट्टारक कवियो मे आचार्य सोमकीर्ति, भट्टारक, ज्ञानभूषण तथा भट्टारक विजयकीर्ति विशेप उल्लेखनीय है। आचार्य सोमकीर्ति का सम्बन्ध काष्ठासघ की नन्दीतट शाखा से था। इनका विहार विशेपत राजस्थान और गुजरात मे रहा। इनकी रचनाओ मे 'यशोधर रास' विशेष महत्व की रचना है, जिस पर गुजराती प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। भट्टारक ज्ञानभूपण मूल गुजरात के निवासी थे और सागवाडा की भट्टारक गादी पर आसीन हुए थे।[13] इनकी हिन्दी कृतिया आदिश्वरफाग, 'जलागणरास' 'पोसद्दरास' षटकर्मरस तथा नागद्रारास है। आदिश्वररास इनकी एक चरित्र प्रधान सुन्दर रचना है। भट्टारक विजयकीर्ति इन्ही के शिष्य और उत्तराधिकारी थे जो अपनी सास्कृतिक सेवाओ द्वारा गुजरात और राजस्थान की जनता की गहरी आस्था प्राप्त कर सके थे।

सत्रहवी और अठारहवी शती के भट्टारको मे शुभचन्द्र, ब्रह्मजयसागर, रतनकीर्ति, कुमुदचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, वीरचन्द, सकलभूपण, रत्नचन्द्र आदि अच्छे कवि हो गये है। गुजरात के इन भट्टारको और उनके शिष्यो ने हिन्दी कविता की महत्ती

---

१०. राजस्थान के जैन सत-व्यक्तित्व एव कृतित्व, डा. कस्तूरचद कासलीवाल, प्रस्तावना

११. वही, पृ० १

१२. वही, पृ २३

१३. राजस्थान के जैन सत-व्यक्तित्व एव कृतित्व, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ ५०.

इस प्रकार जैन-गूर्जर कवियो ने १५ वी शती से आज तक प्राचीन हिन्दी या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी, डिंगल, व्रज, अवधी, खडी बोली, उर्दू आदि भाषाओ मे अनेक गौरवग्रन्थो की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी, इन अहिन्दीभाषी जैन कवियो पर बलात् थोपी या लादी नही गई थी, उन्होने उसे स्वय ही श्रद्धा और प्रेम से अपनाया था और अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था।

जैसा कि इन कवियो की रचनाओ पर आरोप लगाया जाता रहा है कि इनकी रचनाये धार्मिक सकीर्णता से ग्रस्त है अत साहित्यिक मूल्य कम है। वस्तुत. धर्म और आध्यात्मिकता तो इनकी मूल प्रेरणा रही है, इनमे मात्र नीरसता और शुष्कता का पिष्टपेशन नही, काव्यरस का चरम परिपाक भी है। श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानो ने इस कृतियो के माध्यम से अनेक विषयो पर अनेक रूपो मे प्रकाश डाला है। ये सब विषय मात्र धार्मिक ही नही, लोकोपकारक भी है। इन कवियो ने उपदेश को हृदयगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण किया है। इन्होने काव्यरस और अध्यात्मरस का कबीर, सूर, तुलसी की तरह ही समन्वय किया है।

हिन्दी को अपनी वाणी का माध्यम बनाकर इन जैन-गूर्जर संत कवियो ने भक्ति, वैराग्य एव ज्ञान का उपदेश देकर काव्य, इतिहास और धर्म साधना की जो त्रिवेणी बहाई है—उनमे आज भी हम उनकी शतशत भावोर्मियो का स्पदन अनुभव कर सकते है। इनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इन्होने कई छन्द विविधराग–रागिनियो मे प्रयुक्त किये। ये अलकारो मे मर्यादाशील बने रहे। अलकारो के कारण कही स्वाभाविकता समाप्त नही हुई। इनके काव्य मे काव्यरूपो की विविधता और मौलिकता के भी दर्शन होते है। विभिन्न राग-रागिनियो मे निबद्ध इन कवियो की कविता काव्य सगीत एव भक्ति का मधुर संयोग बनकर आती है।

उपसहारत गुजरात के इन जैन सतो की वाणी भी भारत व्यापी सत परम्परा की एक अविच्छेद कडी प्रतीत होती है। साथ ही इन कवियो की देन मात्र भाषा के क्षेत्र मे ही महत्त्वपूर्ण नही, बल्कि विचारो मे समन्वयवादी, धर्म मे उदार, सस्कृति के क्षेत्र मे व्यापक तथा साहित्य के क्षेत्र मे विविध काव्यरूपो, उदात्त भावनाओ एव कल्पनाओ से परिपूर्ण है।

इन्दौर, मगलोर आदि नगर विशेषो का चित्रात्मक वर्णन प्राप्त होता है।[५]

इस काव्य-विद्या को विशेष छन्द के ढग पर गाये जाने के कारण ही गजल नाम दिया गया है। चार-चार वर्णों पर यति लिये हुए इसमे आठ वर्णों की एक पक्ति होती है। अधिक वर्ण हुए तो ताल की चार मात्राओ मे उन्हे समाहित कर दिया जाता है। प्रत्येक पक्ति के बीच मे कि, क, के शब्दो को रखकर दूसरी पक्ति को उसी लय और ताल मे पकड लेना इसका विशेष ढग है।

विशेष काव्य-विद्या की दृष्टि से ही नही, इस यात्रा-प्रधान साहित्य की सास्कृतिक महत्ता भी है। तत्कालीन नगर-व्यवस्था, रचना, उसकी प्राकृतिक छवि, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, व्यापारिक-समृद्धि, उद्योग-धन्धे, विदेशो से व्यापारिक सम्पर्क आदि का सकेत हमे इनमे मिलता है। सास्कृतिक दृष्टि से समृद्ध इन काव्यो मे तद्‌युगीन शासक और शासन-व्यवस्था इत्यादि का इतिवृत्त प्रस्तुत कर इन गजलो को ऐतिहासिक दृष्टि से भी समृद्ध और सम्पन्न बनाने का प्रयास किया गया है। काव्य, इतिहास और सस्कृति-तीनो ही दृष्टियो से यह गजल साहित्य अनूठा है। अतिशयोक्ति नही होगी यदि इन्हे इनमे वर्णित नगरो का तत्कालीन 'गाइड' कहा जाय।

अभिव्यक्ति पक्ष भी इन गजलो का समृद्ध है। गजलो मे उस समय साधारण भाषा का ही प्रयोग किया गया है जिससे इनमे अनूठी स्वाभाविकता और सरलता-सरसता का सचार हो गया है। काव्यो मे प्रचलित जन-भाषा के प्रयोग यो ही बहुत कम मिलते है। इन गजलो मे १८ वी, १९ वी, २० वी विक्रम शती की जन-जिह्वा भी मिलेगी जिसका अपना भाषा वैज्ञानिक मूल्य है। इन गजजो मे गजल, रेखता के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, पद्धरी, हाटकी, हणूफाल, कवित्त, छप्पय, लावणी, मोतीदाम आदि छदो के प्रयोग से पर्याप्त छंद-वैविध्य भी विद्यमान है। भाषा प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत है जिसमे वयण-सगाई, अनुप्रास, रूपक, उपमा, स्वभावोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलकारो को भी यत्र-तत्र प्रयुक्त किया गया है। इनसे वर्णन और भी आकर्षक बन गये है। इनमे मगलाचरण भरत वाक्य, कलश कवित्त रखने आदि की काव्य-रूढिया भी मिलेगी।

यह गजल साहित्य मात्रा मे भी अल्प नही है। २०-२५ छन्दो की लघु रचनाओ लेकर २००-२५० छन्दो तक की रचनाये बहुतायत से उपलब्ध होती है जो भिन्न-भिन्न कवियो की वर्णन क्षमता की द्योतक है। इसका अल्पाश पद्म श्री मुनि जिनविजय, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री मुनि कान्तिसागर आदि द्वारा प्रकाश मे भी लाया गया है।

आगे कतिपय प्रमुख गजलो का परिचयात्मक आलेख प्रस्तुत किया जाता है—

५. जैनेतर कवियो का आबू (चेलो) दुगोली गाव (अर्जुन), उदयपुर (भोज) आदि पर लिखा गया गजल साहित्य भी उपलब्ध होता है। ब्रज भाषा मे कवि नन्ददास की रचना 'वियोग वोली गजल' भी मिली है।

२. कापड़रा गजल

जोधपुर-बिलाडा मार्ग पर स्थित कापरडा जैन-समाज का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसी श्रृद्धा-स्थल को वर्ण्य बनाकर तपागच्छीय यति गुलाव विजय ने ३१ पद्यो की यह लघु-रचना संवत् १८७२ की चैत्र कृष्णा तृतीया को रची।[७] उस समय कापरडा मे राठौड खुशालसिह का राज्य था और नगर की धन-धान्य सम्पन्नता देखते ही बनती थी--

माम नृपति महाराज आज अधिक यश गाजै।
कापरडे कमधज खुशालसिह नित राजै ॥३१॥

ज्ञानी ध्यानी बहुगुणी, पाखंड रहे न कोय।
इण खडे जनपुर अधिक, रग रली घर होय ॥४॥

गिरनार गजलः

यह खतरगच्छीय यति कल्याण की रचना है—

खरतर जती है सुप्रमाण, कवि यु कहत है
कल्याण ॥५४॥

कवि ने सर्व प्रथम मगलाचरण प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन नरेश का परिचय भी दिया है—

वर दे माता वागेसरी, गजल कहु गुण खाण।
जंबर जग है जीर्ण गढ, वाचा ताम वखाण ॥१॥
महवत खान महीपति, रघु विराजै राज।
गय थट्ट हय थट्ट गाजता, सब ही सारै साज ॥२॥

तत्पश्चात् कवि ने वहा के देवालयो आदि का अनुपम चित्र खीचा है—

दिन दिन होत है दैकार,
गिरवर गाजते गिरनार।
दामोदर कुण्ड है सुखदाय,
करता स्नान पातक जाय ॥१॥

देवल ऊच है धज दण्ड,
नीचे खूब खेती कुन्ड।
भवेसर नाथ सनू देव,
सारत लोक जाकी सेव ॥२॥

कवि ने वहा के अनुपम नारी समाज का सकेत देते हुए स० १८३८ माह वदि-२ को अपनी रचना समाप्त की—

असी नारियां अलेख,
उपमा कहीं ऐसी देख।
संवत अढार अडतीसैक,
महा वदि बीज कै दिवसैक ॥५१॥

गिरनार जूनागढ वर्णन

यह तपागच्छीय कवि मनरूप विजय की कृत्ति है। कृत्ति से इसका रचनाकाल तो ज्ञात नही होता, परन्तु कवि की अन्य कृत्तियो को दृष्टि मे रखते हुए यह रचना स १८६० के आसपास की होनी चाहिये। कवि ने सौराष्ट्र स्थित इस तीर्थ स्थल को देखने का निमन्त्रण देते हुए अपना यत्र अपना यह वर्णन समाप्त किया है—

जूनोगढ जग येष्ट, श्रेष्ट वानी तिहा सो है।
दल सव्वल दईवान, मन्त्र जन देखत मोहै ॥
श्रावक जिहा सुखकार, पार जिनका कुन पावै।
धरम करत धनवन्न, गुणह बढ वढे जु गावै ॥

---

७ सवत अठारह जाणु क, बरस बहुत्तर आणुक। चैत्र मास है चगा, वद पख तीज दिन रगा ॥२९॥ तपागच्छ यति है गुलाव, किया इस गजल का जाव। जिसने कहियै कैसीक, आखिया देखी ऐसी क ॥३०॥

वनी अठार छासठ वर्ष,
हिकमत करी काती हर्ष ।
निपट ही पूर्णिमा तिथ नीक,
ठावी गजल कीनी ठीक ।।४६।।

छन्दो मे दोहा, गजल कवित्त इत्यादि प्रयुक्त हुए है और कुल छद सख्या ४९ है। वर्णन का एक कवित्त द्रष्टव्य हे—

योधनयर जग जाण, इन्द्रपुर ही सम ओपत ।
वाजत वज्ज छत्तीस, नित्य उच्छव कर नरपति ।
राज ऋद्ध वड रीत, प्रीत नर नार रु पेखो ।
अही सूर चद अडिग, दुनी वाड नर थे देखो ।
वाह जी वाह ओपम वडिम,
मनुष्य घणा सुख माण री ।
कवि दिट्ठ जिसडी कही,
जग शोभा जोधाण री ।।४७।।

(११) जोधपुर वर्णन गजल .

त्रुटित प्रति होने के कारण इसके रचयिता अज्ञात है और इसका रचना काल भी।[९] वैसे महाराज मानसिह के समय मे इसकी रचना हुई थी—

राज करै राठौड वर, श्री मानसिह महाराज ।
अटरा आण वरतै अखड, इसडो अवर न आज ।।४।।

महाराज मानसिह का समय स० १८३९ से सं० १९०० है।[१०] कवि ने मगलाचरण प्रस्तुत कर वर्णन किया है-

सारद गणपति सिरनवु, निश्चै इक चित्त होय ।
गढ जोधाणो वरणवु, मोटी बुद्धि द्यो मोय ।।२।।

सव ही गढा शिरोमणि, अति ही ऊंचो जाण ।
अनड पहाडा ऊपरै, जालम गढ जोधाण ।।२।।

(१२) झीगोर गजल

इसके कवि जटमल है। आप नाहर गोत्रीय जैन श्रावक थे। इस गजल मे कवि का वर्ण्य झीगोर नगर की एक नारी रही है—

झीगोर कोटा खूव देखी नारी एक सुनार की ।
मन लाइ साहिव आप सिरजी पत सिरजणहार की ।
मुख चद मुंह निसाण चाढे नैन घासी सार की ।
अलि मस्ति आछी नाजि नखरा कली जान अनार की।

(१३) डीसा गजल

यह खतरगच्छीय जैन यति देव हर्ष की[११] १२१ पद्यो की रचना है जिसमे डीसा का वडा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है—

बीन उपदेश कथीर जु, पहिर खुशी नही होय ।
हीरा मणि माणक सही, लीला कवि जन लोय ।।२।।
धर नीली धाण धार मे, गुणीयल नर शुभ गाम ।
नग फण रस कस नीपजै, धवल नवल सुख धाम ।।३।।

(१४) नागौर वर्णन गजल .

यह गजल कवि मनरूप ने महाराज मानसिह के समय मे स० १८६२ मे रची जिसका कवि ने इस तरह उल्लेख किया—

महोपति मानसिह महाराज, सदहीं भूप का सिरताज ।
दग दल प्रवल अरियण खेस, डरही भरै दम ही देस ।।२।।

९. राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज . द्वितीय भाग ' सपा श्री अगरचन्द नाहटा : पृ० १०५ ।

१०. परम्परा ' भाग १५-१६ . पृ० ३४१-३४६.

११. पुण्य सुजस पोथी प्रगट, जिहा सिद्ध ध्रुव मात धणी ।
कवि देवहर्ष सुख थी कहै, दोयै दूजग लीला घणी ।।१२१।।

जाणी जेती बात, तिती मे प्रगट कहाणी ।
झूठी कथ नही कथी, कही है साच कहाणी ।।
पिण रहिस हूं इक बात री,
तन सुख चाहै देह धर ।
नारण धरी अरू क्या पहर,
रहे नही सो सुघड नर ।।१।।

(१८) पोरबन्दर (सोरठ देश) वर्णन

यह 'गिरनार जूनागढ वर्णन'-कार मनरूप कवि की रचना है । इस वर्णन के २६ पद्यो मे कवि ने पोरबन्दर का वर्णन इस प्रकार रखा है—

तिण देश पुरर्हविंदर प्रसिद्ध,
वर्णवू ताहि गुन सुन विवुद्ध ।
कीरति ताहि की सुनहु कान,
अलकापुरी जू ओपम जु आन ।।१।।

(१९) बड़ोदरा गज़ल

इसके रचयिता कविराज वहादुर तपागच्छीय रत्न विजय के शिष्य दीप विजय हैं । इसकी रचना तिथि स० १८५२ मार्ग शीर्ष शुक्ला १ शनिवार है जो रचना के अन्तिम कलश सवैया मे इस प्रकार है—

पूरण किद्ध गजल अवल्ल
अढार सै बावन चित्त उल्लासे ।
थावर वार मृगशिर तिथि
प्रतिपद पक्ष उजा से ।।
उदयो तले थाट उदय सूरि पादह लक्ष्मी
सूरि जिम भान आकाशे ।
प्रमेय रत्न समान वरनन सेवक
दीप विजय इम भासे ।।

(२०) बीकानेर गज़ल :

यति उदयचन्द्र विरचित इस गजल की रचना महाराज सुजाण के समय स० १७६५ के चैत्र मास मे हुई । कृति का अन्तिम झूलणा छद इस प्रकार है—

सवत सतर पैसठ रे मास,
चैत्र मे गजल पूरी कीनी ।
माता शारदा के सुपसाइ सु रे,
मुझे खूब करण की मति दीनी ।।
बीकानेर सहिर अजव है च्यारू,
चक मे ताकी प्रसिद्धि दीनी ।
उदैचन्द आनन्द सु यु कहै रे,
चतुर माणस के चितमाहि लीनी ।।
चावो च्यारे चक मे नवखण्ड मेरे,
प्रसिद्ध बधो बीकानेर बाइ ।
छत्रपति सुजाण सा जुग जुग जीवो,
ताके राज्य मे बाजते नौवत थाइ ।।
मनसु खूब वणाई कै रे सू सुणाइ
के लोक सुवास पाई ।
कवि चन्द आणद सु यु कहै रे
ध्रू धू धृ धू ध्रू खूब गजल गाई ।।

(२१) बीकानेर गजल

इसके कवि लालचन्द है । गज़ल मे १९१ पद्य है । कवि ने नगर मे होने वाले व्यापारादि का वर्णन इन शब्दो मे किया है—

मोती किलगी मालाक, वागे जरकसी वालाक ।
लाखूं हु डिया ल्यावे क,
जनसा माल ले जावे क ।।६२।।

गजल की रचना समय स० १८३८ ज्येष्ठ सुदि७ रविवार है—

समत अढार अडतीस मे, बीकानेर मझार ।
जेठ सुकल सप्तम दिने, साचो सूरजवार ।।१९०।।
लालचन्द की लील सू, कही खेत धर हेत ।
पढै गुणे जे प्रेम धर, जे पामै लछ जैत ।।१९१।।

है। वर्णन का एक पद्धरी छद उदाहरणार्थ रखा जाता है—

मगलोर सहर मोटे मंडाण,
ज्योत जगत माहि कैलास जाण।

पहलो जु कोट अत ही प्रचंड,
नही इसौ अवरन वही गु खण्ड ॥

कवि ने वर्णन के अन्तिम छप्पय मे अपने गुरु एव गच्छ इत्यादि की सूचना इस प्रकार दी है—

तरुण तेज गच्छ तपै, विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर।
ज्ञानवत गम्भीर, नमै सहू को नारी नर ॥

योग अष्ठ विध जाण वाण अमृत सत वदियत।
सग सकल मिल सदा, निज उच्छव करते नित ॥

देश परदेश माहे दीपत,
जीपत अष्ट कर्मह अरी।

कीरत सत गच्छ पति तणी,
कव जोढ़ण मैरह करी ॥१४॥

(२६) मरोट गजल

इसके रचियता यति दुर्गादास है। इस गजल को उन्होने दीपचन्द के आग्रह पर स० १७६५ पौष कृष्णा ५ को बनाया—

सम्मत सतरै पैसठै, पोह वदी पाचम्म।
श्री गुर सरसती सानिधै गजल
करी गुण रम्य ॥१॥

आगह दीपचन्द उल्हास,
कहता जती यूं दुरगादास।

सुण है दीजियो स्याबास,
गजल मूद कीनी नाम ॥

२७ मेड़ता वर्णन गजल

यह मेडता वर्णन कवि मनरूप ने किया है। आप तपागच्छीय भक्तिविजय के शिष्य थे—

सब ही गच्छ मे सिरताज,
राजत अटल तप गच्छ राज।
भक्ति ही विजय गुण भागीक,
जाकु खबर घर सारीक ॥४७॥

इस गजल मे ४८ पद्य हैं और इसकी रचना स० १८६५ कार्तिक शुक्ला १५ को हुई।

सम्वत् अठारह पैंसट साच,
वलि सुद मास कार्तिक वाच।
परसही सुकल पुनम पैरव,
दाखी गजल कवि जन देख ॥४६॥

वर्णन बडा ही सरस बन पडा है—

सबही मे सहर जु, सिरह पुरह मेदनी पिछानी।
इनका गुन अनपार, जाहि म रहम मे जानी ॥

भाव भक्ति जिन भेद, जठै श्रावक सुखकारी।
दयावन दातार निपुण, धम्र मे नर नारी ॥

जिन धर्म मरम जाणण जिके,
हित कर मानव हेर तो।
सुरपुरी माहि इन्द्रपुर सरस,
पिण मरुधर माहि मेडतो ॥१॥

(२८) मेदनीपुर महिमा छन्द

मेदनीपुर मेडता का ही अन्य नाम है। इस रचना के रचयिता तपागच्छीय विजयजिनेन्द्र सूरि के शिष्य भक्ति विजय है। यह महिमा छन्द उन्होने स० १८६६ कार्तिक शुक्ला १५ को रचा—

सवत् अठार छासट्ट वर्ष,
हद मास कार्तिक आन हर्ष।
पूनम जु प्रथम कुजवार पेख,
दह तप गच्छ दिपत विशेष ॥३७॥
विजैजिनेन्द्र सूरि भरपुरि राज,
कर तेज धर्म के करै काज।
कवि कहत भक्त कर जिन्द जोड,
मेडतो सदा सुरपुरा मोड ॥३८॥

गुणवत पाहु के गहगीर,
पूरत हरत तन की पीर।
भूषण वाव है भल्लीक,
वड घन घटा है वल्लीक ॥१॥

(३२) सूरत गजल :

इसके रचयिता तपागच्छीय यति दीप विजय है। गजल मे ८३ छन्द है। इसकी रचना स० १८७७ मार्ग शीर्ष-२ को हुई—

सतोतर सतवां अठार,
मिगसर मास द्वितीयासार।
वरण्या दीप श्री कविराज,
सुरत सेहर को साम्राज ॥८२॥

'सब सेहारां सिरताज, सूरत सेहर नगीनो' का चर्णन कवि ने यह लिख कर किया है—

सूरत शहर है सुथानाक, बिंदर दीपता दानाक।
अलका भूमि पै आईक, कोट कोट सैं पड खाईक ॥१॥

पूरे लोक से पूरक, अमर वास कुं धुरेक।
शोभा देत है कमठाण, अट्टा पहुंचती असमान ॥२॥

(३३) सोजत वर्णन गजल

इसके कवि तपागच्छीय पं० भक्ति विजय के शिष्य मनरूप है। यह गजल उन्होने मरूधर नरेश महाराजा मानसिह के समय स० १८६३ कात्तिक शुक्ला १५ को बनायी —

भनु जिहा मानसिंह भूपत्ति,
राग छत्तीस सुण है रत्त।
चाका तेज का वाखान,
रटते सदा राव ही रान ॥२॥
सवत अठार तेसठह याच,
वलि सुद मास कात्तिक वाच।
पूनम तिथ के दिन पेख,
दरस ही वजल कीनी देख ॥६१॥
(छप्पय)

गजल मे ६३ पद्य है। इसका अन्तिम कलश कवित्त इस तरह है—

गजल कही गुणवत भला, कवि तिण मन भावे।
रीझै राव ही राण सुणै, नर अवर सरावै ॥
भवन वल अवहु वेद भेद, वाचे सु वखाणै।
चारण भाट ही चतुर जिके, गुण बोहोला जाणै ॥
सोभाली नयर करनी सुकव, जे जे ठौड हुंती जीती।
कवि मनरूप अरजह करै, गुन सब रीझौ गहा पती ॥६३॥

इन गजलो का वर्ण्य-विषय कोई प्रान्त नगर आदि ही नही रहा है, नगर की नारियो की छवि भी आध्यात्मिक रूपक के बहाने इनमे उतारी गई है। ऐसी एक दो उपलब्ध गजलो का परिचय दिया जाता है —

(३४) नारी गजल

इसके रचयिता महिमा समुद्र है।[१८] इस कथन से सिद्ध होता है कि इसकी रचना मुल्तान मे शाहजहा के समय मे हुई—

पतिसाही सहर मुलतान,
दिसे जरका का थांन।
कायम राजा साहजहान,
उग्या जाणे सम्मो भाण ॥३४॥

१८. महिमा समुद्र मनि इल्लोल,
कीधा कछु कवि कल्लोल।
सुणकर सुख पावइ छयल,
ही ही हसइ मूरिख वयल ॥४०॥

२१

जीवन्धर चम्पू : एक परिशीलन

डा० भागचन्द्र जैन

१ भूमिका

जैनाचार्यो का सस्कृत साहित्य विषयक अनुराग नितान्त अभिनन्दनीय है। उनकी अमूल्य कृतिया साहित्य की प्रत्येक विधा मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुये है। हर कवि अथवा लेखक का सम्प्रदाय विशेष से स्वभावत सम्बद्ध रहा करता है। अत. समालोचक की दृष्टि पक्षपात की दूषित व्याधि से ग्रसित नही होनी चाहिये। जैन साहित्य के साथ दुर्भाग्य यही है कि पाश्चात्य विद्वानो और उनका अन्धानुकरण करने वाले प्रो० बलदेव उपाध्याय जैसे समीक्षक विद्वान् भी उसे मात्र साम्प्रदायिक साहित्य कहकर एक किनारे कर देते है। ऐसे विद्वान् यह भूल जाते है कि कालिदास, भारवि आदि महाकवि भी साम्प्रदायिक ही रहे है। फिर यह साम्प्रदायिकता की मुहर जैन महाकवियो के सिर पर ही क्यो थोपी गई? वास्तविक तथ्य यह है कि जैन साहित्य का प्रचार प्रसार अपेक्षाकृत बहुत कम हो सका और जो भी हुआ, उसका अद्यावधि सही मूल्याकन नही किया जा सका।

२ जीवन्धर चम्पू और उसका लेखक

संस्कृत साहित्य मे चम्पू साहित्य का विशेष योगदान है। इसमे पाठक को गद्य और पद्य दोनो की समिश्रित सरसता उपलब्ध हो जाती है। महाकवि हरिचन्द्र ने स्वय लिखा है—

गद्यावलि गद्यपरम्परा च
प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्ष प्रकर्ष तनुते मिलित्वा
द्राग्बाल्यतारुण्यवतीव कान्ता॥

अर्थात् गद्य और पद्य दोनो पृथक्-पृथक् रूप से पाठक को आनन्द विभोर कर देते है फिर हमारा काव्य तो दोनो का समिश्रण है। वह नि.संदेह बाल्य और तारुण्य से युक्त कान्ता के समान आह्लाद उत्पन्न करेगा।

चम्पू परम्परा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट है कि सर्व प्रथम त्रिविक्रम भट्ट (ई० ६१५) ने नल चम्पू और मदालसा चम्पू लिखे। इसके बाद

कहकर अभिव्यक्त किया है। कथानक काफी बडा है। फिर भी महाकवि ने उसे एकादश लम्बो मे पूरा कर दिया। यही कारण है कि कथानक के प्रवाह मे विरसता नही आ सकी।

प्रथम लम्ब—हेमाङ्गद देश मे राजपुरी नगरी थी। उसका राजा सत्यन्धर और महामन्त्री काष्ठाङ्गार था। विषयासक्त राजा द्वारा काष्ठाङ्गार को राज्य समर्पित किये जाने के बावजूद युद्ध मे कूदने को वह विवश हुआ और वहा मारा गया। गर्भिणी विजया के गर्भ की दैवयोग से रक्षा हुई। गन्धोत्कट वैश्य द्वारा जीवन्धर का स्वपुत्रवत परिपालन हुआ।

द्वितीय लम्ब-जीवन्धर का विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। काष्ठाङ्गार की क्रूरता ज्ञात होने पर उसके प्रति जीवन्धर अत्यन्त कुपित हो गया परन्तु गुरू ने दक्षिणा के रूप मे उससे शात रहने की भिक्षा ली। कालकूट वनचर द्वारा गोपालो का गोधन हरा गया। काष्ठाङ्गार की सेना भी वनचर सेना से पराजित हुई। जीवन्धर ने उस वनचर सेना को हराकर गोधन वापिस लिया। इस वीरतापूर्ण कृत्य के परिणामस्वरूप नन्दाढ्य की पुत्री गोविन्दा के साथ स्वयं विवाह न कर अपने अभिन्न मित्र पद्मास्य का विवाह करा दिया।

तृतीय लम्ब-राजपुरी के श्रीदत्त वेश्य का धनार्जन निमित्त रत्नदीप (सिंहल) जाना। लौटते समय समुद्र मे जहाज का डूबना। काष्ठखण्ड के सहारे किसी प्रकार मृत्यु मुख से बच निकलना। धर-विद्याधर द्वारा उनका विजयार्द्ध पर्वत ले जाया जाना। गुरूडवेग की पुत्री गन्धर्वदत्ता का राजपुरी मे स्वयवर किया जाना। वीणावादन मे जीवन्धर द्वारा गन्धर्वदत्ता की पराजय। जीवन्धर-गन्धर्वदत्ता का विवाह होना। काष्ठाङ्गार आदि राजाओ से जीवन्धर का युद्ध और उस युद्ध मे जीवन्धर की विजय होना।

चुर्तथ लम्ब-जीवन्धर द्वारा कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया जाना। फलस्वरूप उसका सुदर्शन यक्ष होना और जीवन्धर की यथा समय सहायता करना। गुणमाला और सुरमजरी के चूर्णो की परीक्षा मे गुणमाला का विजयी घोषित किया जाना। मद्दोन्मत्त हाथी से उसका बचाया जाना। परिणामत जीवन्धर के साथ उसका पाणिग्रहण हो जाना।

पञ्चम लम्ब-काष्ठागार की सेना के साथ जीवन्धर का युद्ध। गन्धोत्कट की सलाह से काष्ठागार के प्रति आत्मसमर्पण फलत जीवन्धर को मृत्युदण्ड दिया जाना। सुदर्शन यक्ष द्वारा बचाया जाना। दावानल से हाथियो का स्मरित यक्ष द्वारा उभारा जाना। तीर्थयात्रा के प्रसग मे जीवन्धर द्वारा पल्लवदेश की चन्द्राण नगरी मे धनपति की पुत्री पद्मा का विषयोचन। अन्त मे दोनो का विवाह बन्धन।

षष्ठ लम्ब-तीर्थ यात्रा के प्रसग मे ही किसी तपोवन सी मिथ्यान परिचयो को सदुपदेश। उसी वन मे निर्मित जिन मन्दिर के कपाट उद्घाटित होना। फलत क्षेमनगरी के सुभद्र सेठ की पुत्री क्षेणकी के साथ जीवन्धर का विवाहा जाना।

सप्तम लम्ब-क्षेमपुरी से चलकर एक उपवन मे ठहरना जहा पर विद्याधरी के मोहित होने पर अनेक उपदेश देना। हेमामपुरी नगरी के उद्यान मे दृढ मित्र के राजकुमारो को धनुर्विद्या का प्रदर्शन तथा बाद मे उनका गुरु रूप मे धनुर्विद्या दान। कृतज्ञता के रूप मे कनकसला से विवाह रचना।

अष्टम लम्ब—नन्दालाल से यहा भेट होना। गोपो के लिए किये गए युद्ध के समय पद्मास्य आदि मित्रो से भेट तथा साथ ही अर्ज मे विजया माता के दर्शन होना। यहा से राजपुरी वापिस होना और वहा सागरदत्त सेठ की पुत्री विमला के साथ विवाह करना।

मग्न रहने के कारण सारा राज्यभार भी उसी को समर्पित कर देते है। फलत सत्यन्धर को अपने प्राणो से हाथ धोना पडता हे। इधर जीवन्धर और उनकी माता विजया बच जाती है। पुण्योदय से जीवन्धर का परिपालन गन्धोत्कट वैश्य करता है और विजया को दण्डक वन के आश्रम मे शरण मिल जाती है। आगे के जीवन मे एक ओर जीवन्धर और उनका परिवार सफलता पाता है जबकि दूसरी ओर सत्यन्धर और उनका परिजन सदैव विफलता तथा अनादर का शिकार होता है। सुकृत और दुष्कृत कार्यों का यही परिणाम हे।

कथानक राजपुरी नगरी से प्रारम्भ होता है। पचम लम्ब मे तीर्थयात्रा क उद्देश्य से जीवन्धर देश भ्रमण करते है और "अष्टम लम्ब मे पुन वे राजपुरी वापिस आ जाते है। इसके वाद के सभी कार्य राजपुरी मे ही सम्पन्न होते है।

सम्पूर्ण कथानक को महाकवि हरिचन्द्र ने एक कुशल शिल्पकार जैसा निवद्ध किया है। रस, गुण और अलकार की त्रिपथगा सहृदय पाठक के हृदय को आकर्पित कर लेती है। प्राकृतिक दृश्यो की मनोहारी सुपमा, षड ऋतुओ की यथा समय प्रस्तुति, सयोग और वियोग श्रगार का भावुक अभिलेखन, युद्ध स्थलो मे रोमाचकारी स्थल, आदि ऐसे प्रसग है जो पाठको के मन को आकर्पित कर लेते है।

कथानक को अनुकूल वनाने के लिए भी कवि ने भरपूर प्रयत्न किया है। जहा कही हास्य और सौन्दर्य के चित्रण, कष्ठागार की अवमानना दिखाने के लिए गोविन्द से स्वयम्वर कराना, काष्ठागार की उसमे उपस्थिति प्रदर्शन कर जीवन्धर द्वारा चन्द्रकयन्त्र का भेदन के माध्यम से उसका उपहास कराना, चन्द्रकयन्त्र भेदने के उपरोक्त अनेक लोगो की शकाओ का काव्यात्मक ढग से विविध निराकरण कर जीवन्धर के पक्ष मे विविध का सकेत करना आदि ऐसे स्थल है जिनमे कथानक का औचित्य सिद्ध होता हे और पाठक का चित्त आगे बढती हुई कथा की पर्ण जानकारी के लिए दौडता रहता है।

६ पूर्व कवियों का प्रभाव

जीवन्धर चम्पू का महाकवि पूर्व कवियो से निश्चित ही प्रभावित जान पडता है। अपूर्व माला मन्येऽहं पूर्वाचार्य परम्पराम् (१ ८) लिखकर उन्होने स्वय इस बात को स्वीकारा है। प्राकृतिक चित्रण, रणस्थल वर्णन, स्वयम्वर की शोभा, नगर प्रवेश करने पर जीवन्धर का नगरवधुओ पर हुआ प्रभाव, आदि ऐसे स्थल है जहा पर कालिदास, भवभूति माघ जैसे कवियो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। वादीभसिह सूरि द्वारा विरचित गद्य चिन्तामणि एव क्षत्रचडामणि के तो अनेक गद्य–पद्य भाव और भापा दोनो मे समानता लिए हुए है। इस समानता के वावजूद कवि की उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक इतने हृदयहारी है कि पाठक के मन मे कभी खीझ पैदा नही होती।

रस और भाव की अभिव्यक्ति

रसानुभूति अथवा भावानुभूति काव्य ही का वर्णन है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभावए व सञ्चारी भावो से यह चर्वण मिलता रहता है। रस संख्या के विपय मे आचार्यों मे मत वैभिन्नय है। कुछ आचार्य शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, और अद्भुत इन आठ रसो को मानते है। इसलिए उनके अनुसार कुल रस दस हो जाते हैं।

महाकवि हरिचन्द्र ने रस सख्या के विषय मे अपना मत व्यक्त तो नही किया है पर इतना अवश्य कहा है कि उनका "जीवन्धर–चम्पू विलसित रसा सालकारा" (११ ६०) है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकवि ने उक्त कृति

विजय प्रदर्शित की है। उनके रूप, गुण और चरित्र की भूरी-भूरी प्रशसा की है। जीवन्धर का चरित्र धीरोदात्त कोटि का हे। कवि ने उन्हे कृत्यविदामगणी।[४] (पृ० १११)। कुरूकुलवर, पारीणपुण्यगुणाकर (१ ११५) कुवलायाह्लाद सहायक, सन्तोषाम्बोधिवर्धक (पृ० ११६), निखिलगुणपयोधि (पृ० ११८), वृपावन्ध आदि विशेषताये का प्रयोग किया है। संगीत शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, मन्त्र शास्त्र आदि सभी शास्त्रो मे भी पारगत बताया। महत्व और सुलभताये दोनो गुण कवि ने जीवन्धर के जीवन क्षेत्र मे स्पष्ट किये है।[५] युद्ध कौशल के भी दृश्य एक नही अनेक मिलते है। जब जीवन्धर का अपनी माता से साक्षात्कार हुआ और माता ने राज्य प्राप्ति के विषय मे प्रश्न चिन्ह खडा किया तो जीवन्धर स्वय अपनी वीरता का आख्यान करते है और कहते हैं कि मेरे वाण सेना रूपी वनो से दावानल है और शत्रु राजाओ की स्त्रियो की मन्द हास्य रूपी सुगधित दूधरी धारा के पान करने मे सर्व है।[६] इसी प्रकार मेरी कृपाण भी शत्रु लक्ष्मी को लाने के लिए श्रेष्ठ इतीश का काम करती है। इसी प्रसंग मे जीवन्धर कहते है कि रणाङ्गण मे जब मैं अपने धनुष को शस्दायमात करता हू तब बलाधिपति रणछोड भाग खडा होता है, धरापति तिरस्कृत हो जाता है। गुजरात का राजा जर्जर हो जाता है, विद्याधर भयभीत हो जाता है और कोङ्कण देश का स्वामी घायल हो जाता है।

८. सामाजिक संस्थान

जैन धर्म मे मूलत. जाति को स्थान नही परंतु जिनसेन के सामाजिक वर्गीकरण ने जैन धर्म मे जाति व्यवस्था कर दी जिसका समर्थन सोमदेव जैसे धुरन्धर आचार्य ने यशस्तिलक चम्पू मे और अधिक स्पष्ट शब्दो मे करने का प्रयत्न किया। प्राय सभी उत्तरकालीन आचार्यो ने इन आचार्यों का अनुकरण किया। हरिचन्द्र की कृत्तियो को देखने से लगता हे कि इस वर्गीकरण को उन्होने भी स्वीकारा, भले ही उस पर पृथक रूप से कुछ नही लिखा हो। उन्होने समाजके चार वर्ग किये—ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शुद्र। ब्राह्मण सम्प्रदाय के विषय में जीवन्धर चम्पू मे अधिक सदर्भ नही मिलते। उन्होने उसके ज्ञान हीन क्रियाकाण्ड तथा स्पृश्यास्पृश्य पर अवश्य आघात किया है। ये क्रियाकाण्ड प्राय ग्राम क्षेत्र के बाहर हुआ करते थे। उसमे स्पृश्य-अस्पृश्य का ध्यान अधिक रखा जाता था। किसी कुत्ते आदि के छू जाने पर तो ये क्रियाकाण्डी उसका स्नान किये विना नही छोडते थे। ऐसी ही घटना का उल्लेख हरिचन्द्र ने किया है। कोई सारमेय (कुत्ता) यज्ञ करते हुए ब्राह्मणो का साकल्प छू गया। उसे उन्होने निर्दयी होकर इतना ताडित किया कि वह काल कवलित हो गया।

तत क्षप्ततन्तुभारभमाणे द्विजैर्हवि स्पर्शन जनितकोपनै—र्हन्यमानमन्तरूत्कूलत दु खाम्बुधि घोपमिव प्राणमहीपालस्य प्रमाण-सूचक भिवाक्रन्द-

---

४ महत्त्वमात्र कनकाचलेऽपि लोष्टेऽपि सोलभ्यमिह प्रतीतम्। एतद्द्वय कुमचिदप्रतीत कुरुप्रवीरे न्यवसत्प्रकाशम् ।।७.५।।

५ ८.५६

६ ८.५७

७ ८.५८

जीवन्धर चम्पू के कवि के अनुसार वर-वधु की अवस्था तथा रूप समान होना चाहिए—वधु-वरमिद तुल्यवयो रूप परिस्कृतम्, (३ ४६)। विवाह मे कही-कही दूति पति प्राप्त कराने मे अधिक सहायक होती थी—कुलोचिता वभूवेयं कुमार प्राप्ति दूति का (३. ३५)।

विवाह घटना के अनेक कारण होते हैं। कुछ ऐसे कारण जीवन्धर के चरित मे भी देखे जा सकते है। उदाहरणार्थ—कभी कला विशेष मे कन्या पराजित होती और वह विजेता का स्वयवरण करती। वीणावादन से पराजित होकर गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धर का वरण किया। कभी भयानक आपत्ति से बचाने पर स्नेह सम्बन्ध हो जाता है। मदोन्मत हस्ती से बचाने पर गुणमाला के साथ और विष विमोचन करने पर पद्मा के साथ जीवन्धर का विवाह सम्बन्ध हुआ। जीवन्धर के प्रभाव से जिन मन्दिर के कपाट खुलने पर क्षेमकी के साथ, अस्त्र-शिक्षण की कृतज्ञतावश कनकमाला के साथ, कन्दुक के अघात से विमला के प्रति प्रेम और विवाह, वृद्ध का वेश धारण करने पर सुरमजरी का प्रभावित होना और पणिग्रहण करना आदि अनेक आकस्मिक कारण रहते जिनसे वर वधु प्रेम-सूत्र मे बध जाते।

इसके अतिरिक्त स्वयम्वर प्रथा प्रचलित थी ही। इनमे कन्या सभी के समक्ष अपने अनुकूल वर का चुनाव करती अथवा जिस कला मे कन्या स्वय दक्ष हो उसी मे पराजित करने वाले से विवाह करती अथवा किसी यन्त्रादि भेदक के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर ने वीणावादन से गन्धर्वदत्ता को पराजित कर विवाह किया और चन्द्रक-यन्त्र भेदकर गोविन्दा का स्वयवरण किया।

किसी योद्धा विशेष को कन्या देने मे कन्या का पिता गौरव अधिक समझता था। भीलो को पराजित करने पर नन्दगोप ने जीवन्धर के साथ अपनी कन्या गोविन्दा का परिणय किया। साथ ही सप्त स्वर्णयुत्तलिकाये भी भेट की (पृ० ५०)।

स्वयम्वर करने की अनुमति राजा से लेनी पडती और इस वृत्तान्त की घोषणा समस्त नगरो मे करनी पडती। स्वयम्वर मण्डप को अधिकाधिक सुसज्जित किया जाता। उसमे मरकत, पद्मरा आदि मणि लगाये जाते। कुकुम रस का सिंचन होता। सुरभित पुष्प विकीर्ण किये जाते। विभिन्न रगो के मुक्ता मण्डित वेलवूट बनाये जाते (पृ ६३)। प्रत्येक राजकुमार के लिए पृथक-पृथक मच बनाया जाता। यदि किसी कला विशेष मे निपुणता प्रदर्शन पूर्वक स्वयम्वर होना हो तो उसके लिए भी एक मच होता था। कन्या को शिविका मे वैठाकर स्वयम्वर मण्डप मे लाया जाता, जहा कला प्रदर्शन पूर्वक स्वयवरण होता। कन्या के लिए दूती इस कार्य मे सर्वाधिक सहयोगिनी वनती थी। राजाओ के वश, पराक्रम, राज्यादि, विषयक परिचय वही दिया करती थी। स्वयम्वर मे समागत प्राय. प्रत्येक राजा अथवा राजकुमार के साथ उसकी अपनी सेवा रहती थी। प्राय समूचे साहित्य मे स्वयम्वर के वाद सघर्ष होता हुआ दिखाई देता है। इसीलिए शायद पूरी सैनिक सज्जा के साथ राजा स्वयम्वर मे भाग लिया करते होगे।

युद्ध मे विजयी होने के वाद कन्या का पिता शुभ मुहूर्त मे वर-वधु का विवाह करना निश्चित करता। तदर्थ एक सुन्दर और विशाल पट मण्डप (शाला) बनाया जाता। इसी पटमण्डप के बीच मागलिक द्रव्यो से सगत वेदिका बनायी जाती जहा पर विवाह सम्बन्धी समूचा मागलिक कार्य सम्पन्न किया जाता। इसके पूर्व वर-वधु का मागलिक अभिषेक किया जाता। तद्नुन्तर कन्या को प्रसाधन गृह मे ले जाते जहा पर उसकी सखिया उसे पूर्व दिशा की ओर मुहकर वैठाती और अलकृत करती

किस प्रकार अपने पति को वंचित कर सम्बन्ध स्थापित करती। जीवन्धर के मुख से कवि ने नारियो की इस प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। वे कहते है कि मृगनयनी स्त्रियो का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर होता है, वचन का प्रचार पुष्प से भी अधिक मृदुल होता है, कृत्य अपने केश से भी अधिक वक्र (कुटिल) होते है। इसलिए विद्वान उनका विश्वास नही करते—

> वज्रात्कठोरतर मेणदृशा हि चित्त
> पुष्पादतीव मृदुलो वचन प्रचार।
> कृत्यं निजालक कुलादपि वक्ररूपं,
> तस्माद्बुधा सुनयना न हि विश्व सन्ति
> ॥७.३७॥

हरिचन्द्र और भी कहते है कि स्त्री का मुख कफ का भण्डार है परन्तु मूर्ख कवि उसे चन्द्रमा के समान वताते है। दोनो नेत्र मल से आपूर हैं, परन्तु मूर्ख कवि उन्हे विकसित नील कमल के समान सुशोभित कहते है. पयोधर मास के सघन पिण्ड है परन्तु मूर्ख कवि उन्हे हाथी का गण्ड स्थल मानते है; नितम्ब मण्डल रूधिर व अस्थियो का पुंज है परन्तु मूर्ख कवि उसे बालू का वडा भारी टीला वताते है। यह सब वस्तुत. राग का उद्रेक ही है। स्त्रियो मे यथार्थतः कोई सौन्दर्य नही परन्तु कवियो की प्रतिभा ने उनमे विविध सौन्दर्य देखा है—

> वक्य श्लेस्म निकेतन मलमय नेमद्वय तत्कुचो
> मांसाकार घनो नितम्बफलक रक्तास्थिपुञ्जाततम्।
> शीताशु विकचोत्पल करियते कुम्भो माह सैकत
> भातीत्येव मुशन्ति मुग्ध कव्यस्तद्रागविस्फूर्जितम्
> ॥७.३८.

कवि ने एक ओर जहा विद्याधरी के चरित्र के माध्यम से ऐसीं स्त्रियो के स्वभाव का दिग्दर्शन किया है जो अपने पति को वचित कर अन्य पुरुष पर मुग्ध हो जाती है वही उसने ऐसी वानरी का भी चित्रण किया है जो अपने पति का सम्पर्क अन्य वानरी के साथ देखकर रुष्ट हो जाती है और तरूण वानर बडी दीनता के साथ उस वानरी को शान्त करने का प्रयत्न करता है, परन्तु उसमे सफल नही होता। मृतक की तरह जब वह अपने आपको दीनतापूर्वक जमीन मे लिटा देता है तो वानरी वानर को मृतक समझकर भय से काप उठती है और पास जाकर उसकी यह दशा दूर कर देती है। पतिव्रता स्त्रियो के स्वभाव की यह उद्भावना है। (११ १९-२०)।

विधवा स्त्री की स्थिति का भी भी कवि ने प्रसगवशात् चित्रण किया है। उसने बताया कि विधवा महिला केशो मे नवमालिका और शरीर मे हल्दी नही लगाती। वस्तुत पति विरहित स्त्री का भोगापभोग सामग्री मे लीन रहना निन्दास्पद है

> प्रजावति विजानती सकलपद्धति स्वकथ,
> विभर्षि नवमालिका कचकुले हरिद्रा तनौ।
> न युक्तमिदमास्थित विगतभर्तृवामयुवा,
> वृथा खलु सुखासिका सकल लोक गर्हास्पदम्
> ॥८.१५.

११ शिक्षा और शिक्षालय—

शिक्षालय नगर के बाहर रमणीय स्थल मे बनाया जाता था। बच्चे की शिक्षा-दीक्षा पाचवे वर्ष मे प्रारम्भ होती थी। इसके लिए बच्चे को किसी आचार्यप्रवर के पास भेज दिया जाता था। सबसे प्रथम वर्णमाला को सिद्ध मातृ का (पृ० ३८) कहा गया है। एक गुरू के पास अनेक छात्र पढते थे। गुरु शिष्य का सम्बन्ध भी वडा ही मधुर रहता। उनका व्यवहार परस्पर मे पिता-पुत्रवत् था। शिष्य अत्यन्त विनम्र और शिष्ट रहता था।

पक्षियों से कृषि की रक्षा करना है (पृ० ५)। हँसिये से पूरी फसल काटकर खलियानो मे रखी जाती थी। (पृ० ६) खलियानो मे रखे धान्य के ढेर इतने अधिक थे कि कवि को उन पर अनेक कल्पनायें करनी पडी (पृ० ५)। इन ऊंचे ढेरो को परेना (ऋतुतोभ) की सहायता से हाथियो और बैलो पर लाद कर घर लाते थे (१.३०)। बाद मे यही धान्य गाडियो से बाजार मे ले जाकर बेचा जाता था।

किसान साधारणत अशिक्षित रहते थे। निर्धनता से उनकी कमर टूट रही थी। महाकवि ने एक कृषक का बडा सुन्दर चित्रण किया है। क्षेमकी से परिणय होने के बाद जीवन्धर स्वामी एक दिन घर से निकल गये और रातो रात वन तय करते रहे। बाद मे एकायक एक पथिक से भेट हो गई। उसके हाथ मे परेना था, शरीर पर कम्बल था, कमर मे हसिया और और कधे पर हल था। उसके सिर पर मैला कुचेला साफा था—

करधत ऋपु तोभ कम्बलछन्नदेह
कटितटगतदाभ स्कन्ध सम्बन्ध सीर ।
वनभुवि पथि कश्चिन्नागमत्तस्त्र पार्श्वं,
नियति नियति रूपा प्राणिना हि प्रवृत्ति ॥७ ३

१४ उपवन

उपवन प्राय नगर के बाहर होते थे। जीवन्धर चम्पू मे कुछ ऐसे भी स्थल है जहा नगर के बीच भी उपवनो का होना बतलाया गया है। सभी उपवन प्राय समान होते थे। उपवन के अग्रभाग मे तिलक वृक्षो की पक्ति, बाद मे अशोक, मैनर, अक्ष (बहेडे), अम्र आदि की वृक्ष पक्तिया थी। ये वृक्ष सुसज्जित ढग से उपवन के चारो ओर लगे रहते थे और उपवन की मध्यवर्ती भूमि विविध पुष्पो से सजायी जाती। इन पुष्पो मे लालकमस्त और लकुच के पुष्प प्रमुख थे। ये पुष्प प्राय क्यारियो मे लगाये जाते थे और साथ ही कुछ लताये भी उन पर आवेष्टित कर दी जाती थी (२.१३)। उपवन के एक ओर सरोवर या वाटिका रहती थी (पृ० १३०)। बीच मे कुछ मैदान होता था जहा बच्चे खेलते कूदते थे (२.६)। उपवन के चारो ओर वाडी लगायी जाती थी जिसे उपवन वृत्ति कहते थे। (पृ० १०४)।

१५. आमोद-प्रमोद के साधन

बच्चो के आमोद प्रमोद के साधनो मे खिलोने थे। इन खिलौनो मे राज हस और मयूर मुख्य थे (पृ १२)। गेद का प्रयोग प्रचुरता और रूचिकर था (४.३४)। कुवारिया और युवतिया भी अपने घर के प्रागण मे बडे चाव से कन्दुक क्रीडा करती थी।

शुक शावक का पालन भी एक आमोद-प्रमोद का साधन था। उसे दूध और केला खिलाया जाता (पृ० २५)। शुक शावक का उपयोग विरही युवतिया अपने प्रेमी के पास प्रेम पत्र भेजकर भी किया करती थी। ऐसे शुक को "क्रीडा शुक" की सज्ञा दी गई है (पृ० ८७.४.३३-३५)। चित्रकला का उपयोग भी प्रेम पत्र मे चित्र बना कर किया जाता था। क्रीडा शुक का वर्णन प्राचीन साहित्यकारो का एक मनोरंजन विषय था।

१६. जैन सिद्धान्त वर्णन

जीवन्धर चम्पू मे दर्शन की अपेक्षा काव्य अधिक मुखरित हुआ है। अनेक स्थल थे जहां पर कवि जैन सिद्धान्तो का वर्णन कर सकता था परन्तु उसने ऐसा नही किया। सम्भवत इसलिए कि कथा मे प्रवाह बना रहे। उपदेश की रूक्षता से कथा की गति प्रतिहत आ जाती है। फिर भी कवि ने इस ओर एक दम उपेक्षा नही की। अन्यत्र सक्षेप मे उन्होने जैन सिद्धान्तो को समझाने का प्रयत्न किया है।

२२

महापंडित टोडरमल

□डा० हुकमचन्द भारिल्ल

डा० गौतम के शब्दो मे "जैन हिन्दी गद्यकारो मे टोडरमलजी का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होने टीकाओ और स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे दोनों प्रकार से गद्य-निर्माण का विराट उद्योग किया है। टोडरमलजी की रचनाओ के सूक्ष्मानुशीलन से पता चलता है कि वे अध्यात्म और जैन धर्म के ही वेत्ता न थे, अपितु व्याकरण, दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त के ज्ञाता थे। भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था।[१]

ईसवी की अठारहवी शदी के अन्तिम दिनो मे राजस्थान का गुलाबी नगर जयपुर जैनियो की काशी बन रहा था। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी की अगाध विद्वता और प्रतिभा से प्रभावित होकर सपूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तो मे सचालित तत्त्वगोष्ठियो और आध्यात्मिक मण्डलियो मे चर्चित गूढतम शंकाये समाधानार्थ जयपुर भेजी जाती थी और जयपुर से पडितजी द्वारा समाधान पाकर तत्त्व–जिज्ञासु समाज अपने को कृतार्थ मानता था। साधर्मी भाई ब्र० रायमल ने अपनी "जीवन-पत्रिका" मे तत्कालीन जयपुर की धार्मिक स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"तहा निरन्तर हजारा पुरुष स्त्री देवलोक की सी नाई चैत्याले आय महापुण्य उपारजैं, दीर्घकाल का सच्या पाप ताका क्षय करैं। सो पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र वाचने वारे पाईए, दस बीस सस्कृत वाचने वारे पाईए, सौ पचास जने चरचा करने वारे पाईए और नित्यान का सभा के शास्त्र वाचने का व्याख्यान विषै पाचसै सात सै पुरुष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन, सब मिली हजार बारा सै पुरुष स्त्री शास्त्र का श्रवण करैं वीस तीस बाया शास्त्राभ्यास करैं, देश देश का प्रश्न इहा आवैं तिनका समाधान होय उहा पहुचे, इत्यादि अद्भूत महिमा चतुर्थ-कालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्ति पाईए है।"[२]

यद्यपि सरस्वती मा के वरद पुत्र का जीवन आध्यात्मिक साधनाओ से ओतप्रोत है, तथापि साहित्यिक व सामाजिक क्षेत्र मे भी उनका प्रदेय कम नही है। आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी उन दार्शनिक साहित्यकारो एव क्रान्तिकारियो मे से है, जिन्होने आध्यात्मिक क्षेत्र मे आई हुई विकृतियो का सार्थक व समर्थ खण्डन ही नही किया, वरन्

१. हिन्दी गद्य का विकास डा० प्रेमप्रकाश गौतम, अनुसधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, पृ० १८८

२. पडित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तत्व, परिशिष्ट, १ प्रकाशक पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–४ बापूनगर, जयपुर।

"दक्षिण देश सू पाच सात और ग्रन्थ ताडपत्रा विषै कर्णाटी लिपि मे लिख्या इहा पधारे है, ताकू मलजी बाचे है। वाका यथार्थ व्याख्यान करै है वा कर्णाटी लिपि मे लिखते है।

परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु कुल २७ वर्ष कही जाती रही, परन्तु उनकी साहित्यक साधना, ज्ञान व प्राप्त उल्लेखो को देखते हुए मेरा यह निश्चित मत है कि वे ४७ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। इस सवन्ध मे साधर्मी भाई ब्र० रायमल द्वारा लिखित 'चर्चा सग्रह ग्रन्थ की अलीगंज (एटा उ० प्र०) मे प्राप्त हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ १७३ का निम्नलिखित उल्लेख विशेप द्रष्टव्य है—

"बहुरि बारा हजार त्रिलोकसारजी की टीका का बारा हजार मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ उनके शास्त्रो के अनुस्वारि अर आत्मानुशासनजी की टीका हजार तीन या तीना ग्रन्था की टीका भी टोडरमलजी सैतालीस बरस की आयु पूर्ण करि परलोक विषै गमन की।"

उनकी मृत्यु तिथि विक्रम सवत् १८२३-२४ के लगभग निश्चित है, अत. उनका जन्म विक्रम सवत् १७७६-७७ मे होना चाहिए।

पडित बखतराम शाह के अनुसार कुछ मताध लोगो द्वारा लगाये गए शिवपिण्डी के उखाडने के आरोप के सदर्भ मे राजा द्वारा सभी श्रावको को कैद कर लिया गया था और तेरापथियो के गुरू महान धर्मात्मा, महापुरुष पडित टोडरमलजी को मृत्यु दण्ड दिया गया था। दुष्टो के भडकोने मे आकर राजा ने उन्हे मात्र प्राणदण्ड हो नही दिया बल्कि गदगी मे गडवा दिया था।[४] यह भी कहा जाता है कि उन्हे हाथी के पैर के नीचे कुचलवा कर मारा गया था।[५]

पडित टोडरमलजी अध्यात्मिक साधक थे। उन्होने जैन दर्शन और सिद्धान्तो का गहन अध्ययन ही नही किया अपितु उसे तत्कालीन जनभापा मे लिखा भी है। उसमे उनका मुख्य उद्देश्य अपने दार्शनिक चिन्तन को जन-साधारण तक पहुचाना था। पडितजी के प्राचीन जैन ग्रथो की विस्तृत, गहन परन्तु सुबोध भाषा-टीकाएं लिखी। इन भापा-टीकाओ मे कई विषयो पर बहुत ही मौलिक विचार मिलते जो उनके स्वतत्र चिन्तन के परिणाम थे। बाद मे इन्ही विचारो के आधार पर उन्होने कतिपय मौलिक ग्रंथो की रचना भी की। उनमे से सात तो टीकाग्रथ हैं और पाच मौलिक रचनाए। उनकी रचनाओ को दो भागो मे बाटा जा सकता है।

(१) मौलिक रचनाए (२) व्याख्यात्मक रचनाए।

मौलिक रचनाए गद्य और पद्य दोनो रूपो मे है। गद्य रचनाए चार शैलियो मे मिलती है.—

(क) वर्णनात्मक शैली (२) पत्रात्मक शैली। (ग) यन्त्र रचनात्मक (चार्ट) शैली (घ) विवेचनात्मक शैली।

वर्णनात्मक शैली मे समोसरण आदि का सरल भापा मे सीधा वर्णन है। पडितजी के पास जिज्ञासु लोग दूर-दूर से अपनी शकाऐ भेजते थे, उसके समाधान मे वह जो कुछ लिखते थे, वह

---

४. बुद्धि विलास बखतराम साह, छन्द १३०३, १३०४।

५. (क) वीरवाणी . टोडरमलाक पृ० २८५, २८६। (ख) हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड पृ० ५००।

निकल चुके है[6] एव खडी बोली मे इसके अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हो चुके हैं।[7] यह उर्दू में भी छप चुका है।[8] मराठी और गुजराती मे इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके है।[9] अभी तक सब कुल मिलाकर इसकी ५१२०० प्रतियां छप चुकी है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के दिगम्बर जैन मन्दिरो के शास्त्र भण्डारो मे इस ग्रन्थराज की हजारो हस्तलिखित प्रतिया पाई जाती हैं। समूचे समाज मे यह स्वाध्याय और प्रवचन का लोकप्रिय ग्रन्थ है। आज भी पंडित टोडरमलजी दिगम्बर जैन समाज मे सर्वाधिक पढे जाने वाले विद्वान हैं। मोक्षमार्ग प्रकाशक की मूलप्रति भी उपलब्ध हे।[10] एव उसके फोटोप्रिंट करा लिए गए हैं, जो जयपुर[11]– वम्बई[12]– दिल्ली[13]– और सोनगढ[14] मे सुरक्षित है। इस पर स्वतत्र प्रवचनात्मक व्याख्याएं भी मिलती हैं–।[15]

---

६ (क) बाबू ज्ञानचन्दजी जैन, लाहौर (वि०स० १९५४)
  (ख) जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई (सन् १९११ ई०)
  (ग) बाबू पन्नालाल जी चौधरी, वाराणसी (वी०नि०स० २४५१)
  (घ) अन्नतकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई (वी०नि०स० २४६३)
  (ङ) सस्ती ग्रन्थमाला, दिल्ली
  (च) ,, ,, — —
  (छ) ,, ,, — —
  (ज) ,, ,, —

७ (क) अ०भा० दिगम्बर जैन सघ, मथुरा (वी०नि०सं० २००५)
  (ख) श्री दिगम्बर स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (वि०सं० २०२३)
  (ग) ,, ,, ,, (वि०स० २०२६)
  (घ) ,, ,, ,, (वि०स० २०३०)

८. दाताराम चेरिटेबिल ट्रस्ट, दरीबाकला, दिल्ली (वि०सं० २०२७)

९. (क) श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर, ट्रस्ट, सोनगढ़
  (ख) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारजा

१०. श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवान भदीचन्दजी, घी वालो का रास्ता, जयपुर।

११. वही, जयपुर

१२. श्री दिगम्बर जैन सीमंधर जिनालय, जवेरी बाजार, बम्बई।

१३. श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, धर्मपुरा देहली।

१४. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ

१५. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा किये गये प्रवचन, मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें नाम से दो भागो मे श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से हिन्दी व गुजराती भाषा मे कई बार प्रकाशित हो चुके है।

इसके व्यक्तित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए लेखक के शोध प्रबन्ध पडित टोडरमल व्यक्तित्व और और कतृत्व[१७] का अध्ययन करना चाहिये । इनकी भाषा का नमूना इस प्रकार है .—

"तातै बहुत कहा कहिए" जैसे रागादि मिटावने का श्रद्धान होय सो ही सम्यग्दर्शन है। बहुरि जैसे रागादि मिटवाने का जानना होय सो ही सम्यग्ज्ञान है। बहुरि जैसे रागादि मिटे सो ही सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।[१८]

अपरिग्रह

धन पाकर तुम गर्व करो मत
नहीं मिले, तो शोक न भारी
अधिक मिले, तो संचय मत कर
परिग्रह वृत्ति नही सुखकारी ।।

अर्हत्

१७ प्रकाशक. पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए–४, बापूनगर, जयपुर-४ ।

१८. मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ-३१३ ।

प्रस्तुत प्रति मे अपभ्र श-शैली के ४८ चित्र हैं। चित्रकार ने ग्रन्थ के पृष्ठो मे प्राप्त प्रसंगानुसार ही भगवान शान्तिनाथ के जीवन चरित का चित्रांकन किया है। रइधू-साहित्य के तीन ग्रन्थ सचित्र मिलते हैं—पासणाहचरिउ जसहरचरिउ एव प्रस्तुत संतिणाह चरिउ। सामान्यतया तीनों ग्रन्थों की चित्रकला एक ही शैली की हे किन्तु संतिणाह-चरिउ मे त्रैलोक्यरचना, समवशरण रचना, वन-विहार के प्राकृतिक दृश्य वाले चित्र अत्यन्त भव्य है। नि सन्देह ही वे जैन चित्रकला की विशेष सम्पत्ति माने जा सकते हैं।

प्रति की विशेषताए

संतिणाहचरिउ की यह प्रति किस समय एवं कहा लिखी गई इसकी जानकारी प्रति की अपूर्णता के कारण अज्ञात है किन्तु उसकी लिपि को देखने से प्रतीत होता है कि वह रइधूकालीन रही होगी। इसकी लिपि मे दो विशेषताए विशेष रूप से परिलक्षित होती हैं। सर्वप्रथम यह कि इसमे शब्द की पुनरावृत्ति शब्द के माध्यम से नही अपितु अक के माध्यम से व्यक्त की गई है। जैसे विहसंत सत (७।१।१५) मे विहसत के बाद संत शब्द का उल्लेख न कर उसके स्थान पर तदर्थक दो का अक अंकित किया गया है। ऐसे ही सैकडो उदाहरण इसमे उपलब्ध हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि इसमें य के नीचे नियमत सर्वत्र एक बिन्दु (नुक्ता) अंकित है। इसका कारण समझ मे नही आता कि ऐसा क्यो किया गया है? बहुत सम्भव है कि थ एव य मे भेद करने के लिए ऐसा किया गया हो। रइधू के अन्य उपलब्ध ग्रन्थो मे ये दोनो लिपि-विशेषताए नही मिलती। प्रति की अन्य विशेषताओ मे रक=क्ख, ग्ग-ग्र, ख-ष (क्वचित कदाचित) मे प्रमुख हे किन्तु ये विशेषताए कवि की अन्य प्राचीन प्रतियों मे भी उपलब्ध हे।

ग्रन्थ प्रेरक

रइधू ने संतिणाह चरिउ की यह रचना नन्दि सघ के भट्टारक जिनचन्द्र की प्रेरणा एव आदेश से की थी। रइधू ने स्वय लिखा है—मैं अपने गुरु भट्टारक जिनचन्द्र के चरणो मे रह कर उन्ही के आदेश से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हू। यथा—

णामे सिरि जिणचन्दु भडारउ।
णदउ सो चिरू दुण्णय हारउ।।
तस्स पाय पोमइ पणलोयह।
मणु रंजतउ .... ।।
रइधूणामे बुहु जा णिवसइ।
एक्क दिवसि ता तहु गुरू मासइ।।

घत्ता

मो कइकुल मण्डण दुण्णय खण्डण सुहजस भायण विगयमलु।
हउ भणमि सुपेसणु सुक्ख पयासणु तुव जोगाउ त सुणिय सयलु।। (१।२।१२-१६)

भट्टारक जिनचन्द्र का परिचय देते हुए कवि ने उन्हे नन्दि साघ के परमतपस्वी पद्मनन्दिगणि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का पट्टधर कहा है तथा धुरन्धर विद्वान कठोर तपस्वी, राजराजेश्वरो द्वारा वन्दित एव सघ स्वामी के रूप मे उनका स्मरण किया है। यथा—

णदिसाध कमलयरस सूरो।
पोमणदिगणिसिवपयसूरो।।
भव्वलोय कइरववणइन्दो।
तस्स पट्टि मुणिवरू सुहयदो।।

आश्रयदाता की वंश-परम्परा

कवि रइधू ने सघाधिप जुगराज की वंश-परम्परा का विस्तृत परिचय दिया है। वे कहते है कि जुगराज के पितामह लक्ष्मण ने मूलसघ के परम तपस्वी देवेन्द्र कीर्ति के उपदेश से वि० स० १४३७ मे एक प्रतिष्ठा कराई की। वे परवार जाति के श्रृंगार थे। उनके पुत्र का नाम अर्जुन था जिसकी पत्नी खेमा की कुक्षि से चार पुत्र उत्पन्न हुए—जुगराज, दिवापति, रामू एव मनसुख। जुगराज की पत्नी का नाम गुणश्री था। पति-पत्नि दोनो ही धर्म की साक्षात प्रतिमूर्ति थे।[४]

समकालीन राजा

कवि ने आश्रयदाता जुगराज को "पचागमत्र से राज का मनोरजन करने वाला[५] कहा है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि वह अवश्य ही कोई राज्यमन्त्री रहा होगा। किन्तु किसी राजा का मन्त्री रहा होगा यह स्पष्ट नही है। हो सकता है कि कवि ने अन्त्य प्रशस्ति मे इसका उल्लेख किया हो किन्तु वह अ श तो अनुपलब्ध है।

सोहम्म विमाणह अणुहरतु। भव्वयण चित्त तसु अवहरतु ॥
किंवण्णमि सति जिणसेरस्सा। ण समवसरणु किउ भवहरस्स ॥
वरणयरि गिरिदहु सिहरिमण्णि सुपइट्ठिय जिणपडिमउ अगण्णि
चार्उद्दिसि चउविह सघ गोट्ठि। मेलिवि वि पउरमण जणिय तुट्ठी
दाणे संतोसिय वदि विद। पचगमत रजिय जरिंद ॥
जसु विच्छरियउ जिजयम्मिजासु। तुहु मोवुह किणउ मुणाहि तासु ॥
सो रज्ज कज्ज दीसइ समच्छ। विच्छारइ तुम्हह विहिउ सच्छु ॥

४ पोमण वउदयमाणु। सिरिमूल सघ २ ह पहाणु ॥ वइयणक्कइत्त आयासणु।
छदालकार विट्ठ सियणु। णिण्णासिउ जि अ गहु अणगु ॥
दूरिज्झिउ जि दोविहु जि सगु। सिस्साह पयासिउ णिस सुयंगु ॥
आयरिउ अच्छि उवसमहुथत्ति। णामेण पयद्ध देविंद वित्ति ॥
तस्सो व एस सजणिय बोह। पाखाड वंश सदिहिय सोह ॥
सधाहिउ लखमणु जाउ आसि। संचिय जे भावे पुण्ण रासि ॥
सइती सइ सवच्छरि पइट्ठ। काराविवि रजिय सयणइट्ठ ॥

घत्ता-तहु णदणु रोर णिकंदणु सधाहिउ अरगुणु सुजसु।
तासु जिपुणु भामिणि कुलगिहि समामिणि खेमा णामे कय हरिसा
तहु णदणु दुहियण पयायबंधु। जिणवाणिय धम्मभर दिण्ण खधु ॥
सिढिली कउ जिणिय यावबन्धु। आयण्णिउ णिरू सुत्तह पबंधु ॥
सुपयासिउ जि णियजसु जयम्मि। अणुरत्तु णिच्च जो साहिय कम्मि ॥
णिय कुलकमलायर चन्दरोइ। संधहिउ जोगा पयडु लोइ ॥
तहुलहु बध उ जिणदेव मत्तु। दिवपतिणा मे पोसिय सपत्तु ॥
तहु अच्छि सहोयरु लहुउ रामु। रामुव्व थयडु ण रूव कामु ॥
मण सुक्खयारि पुणु अच्छि अण्णु। मणसुखु णामे बहु लोय मण्णु
जुगराज हु भामिणि पणयलील। गुरुदेव भक्ति पयडण पवीण ॥
सीलाहरण हिं साहिय णियग। जिह हरिहु लच्छि ईसरहुगग ॥
गुणसिरि णामेण गुणाण खाणि। सिमु पाउल गइ कलयन्ठि वाणि ॥ १।५।१-१०

५. संतिणाह०-१।५।१६

सातवी संधि—शातिनाथ का राज्य भोग वर्णन

आठवी सधि—शातिनाथ के तप एवं ज्ञान कल्याणक वर्णन

कुछ मार्मिक वर्णन प्रसग

महाकवि रइधू ने प्रस्तुत काव्य मे कई मार्मिक स्थलो का संयोजन बडी ही कुशलता के साथ मर्मस्पर्शी शैली मे किया है। कवि ने एक स्थल पर राजा श्रीविजय के वन विहार के प्रसग मे बताया है कि श्री विजय जब अपनी युवती-पत्नी तारा के साथ सुरम्य-वन मे केलिया कर रहा था तब अशनिवेग नामक एक विद्याधर तारा के मोहक-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो गया और अपने विद्याबल से श्रीविजय को एक मायावी हिरण के पीछे भेजकर तथा अपने रूप को श्री विजय के समान बनाकर वह तारा का अपहरण कर उसे ले भागा। श्री विजय एव तारा को जब वास्तविकता का पता चला तब वे विरहावस्था मे घोर विलाप करने लगे। श्री विजय के विलाप का का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि वह तारा-तारा चिल्लाकर वार वार मूछित हो जाता है और उसके बिना अपना जीवन निस्सार समझने लगता है। जब वह चन्दन की चिता रचाकर एव लकडियो के परस्पर घर्षण से चिता प्रज्वलित कर उसमे जल मरने की तैयारी करता है, तभी सयोग से दो विद्याधर वहा पहुचते है और तारा का पता बताकर उसकी रक्षा करते है।[8]

प्राचीन साहित्य मे नायक द्वारा नायिका के विरह के कारण चिता मे जल मरने की तैयारी के कईप्रसग प्राप्त होते है। अगडदत्त चरिय मे भी इसी प्रकार का एक प्रसग है कि नायिका मदनमजरी को वन-विहार के समय जब सर्प काट लेता है और उसकी मृत्यु हो जाती है तब नायक अगडदत्त शोक विह्वल होकर उसी के साथ चिता मे जल मरने की जैसी ही तैयारी करता है वैसे ही वहा दो विद्याधर आते है और नायिका को मन्त्रबल से जीवित कर नायक की रक्षा करते है। वसुदेव हिन्डी मे भी इसी प्रकार का एक कथानक आता हे। वस्तुत नायिका की सर्पदंश द्वारा मृत्यु एव विरहीनायक की चिता मे जल मरने की तैयारी का प्रसग लोक कथा का एक महत्वपूर्ण तत्त्व रहा है जिसका समावेश कथावस्तु को एक नया मोड देकर चमत्कृत करने के लिये किया गया है। गुणभद्र ने भी उत्तर-पुराण मे इस प्रसग को अकित किया है। रइधू ने भी उसे आत्मसात कर लिया है।

रइधू का एक अन्य मनोरजक प्रसंग वह है जिसमे उसने शातिकुमार को अप्रतिम सौन्दर्य से विह्वल नगर की युवतियो का मनोहारी स्वाभाविक चित्रण मदनावतार छन्द के माध्यम से किया है। युवक शान्तिकुमार अपने सखाओ के साथ नगर-परिभ्रमण-हेतु निकलते है। क्रीडा-विनोद एव वार्तालाप करते हुए वे राजमार्ग मे जा रहे है। जब युवतिया उन्हे देखती है, तब उनकी विचित्र स्थिति हो जाती है। उन युवतिओ मे से कोई तो अपना कुडल ग्रीवा मे धारण करने लगती है तो कोई अपनी करधनी चोटी मे गूंथने लगती है। कोई अपना नेत्राञ्जन भालपट्ट पर लगाने लगती है तो कोई घी को ही पानी समझ कर उससे अपने पैर धोने लगती है। कोई दीर्घ नि श्वास छोडने लगती है और कोई अपनी दूती से चिपट कर उससे शाति कुमार को अपने घर ले जाने का आग्रह करने लगती है तो अन्य कोई युवती अपने वच्चे के स्थान मे गाय के वछडे को ही गोद मे उठाने लगती है। युवक शान्तिकुमार के दर्शन हेतु युवतियो ने घर के सारे काम काज छोड कर दरवाजे को ही अपना एक मात्र बैठने का स्थान बना-लिया था। कवि कहता है—

८. सति० ३।५

अध्ययन करता है तब उसकी पत्नी पुन उस पर तीखा व्यग्यं करती है और कहती है कि तेरी आखे क्यो धंसती जा रही है पोपियो के अक्षर बार बार क्या देख रहा है ? तू निश्चय ही अपने मामा (ससुराल) के यहा दरिद्रावस्था मे रहता हुआ और इसी प्रकार रट रट कर मर जायगा। कवि के शब्दो मे देखिये—

घसंतु काइं रे अच्छर्वहु। पोथक्खर किं पुणु पुणु पेच्छइ ॥
तुहुं पुणु एम रडंतु मरेसहि।
विणु दविणि मामहु घरि णिवसहि ॥
२।६।१-२

इसी प्रसंग मे कवि द्रव्य के महत्व का वर्णन करता है। वह कहता है कि द्रव्य के होने से मूर्ख भी महापण्डित कहलाने लगता है। द्रव्यवान होने के कारण ही नंगा व्यक्ति भी मणि मण्डित समझा जाता है। द्रव्यवान कुरूप होने पर भी कामदेव के समान समझा जाता है। धनवान व्यक्ति कायर होने पर भी शूरवीर समझा जाता है। द्रव्य के कारण निर्गुणी भी गुणज्ञ माना जाता है तथा द्रव्य के अभाव मे व्यक्ति का कुल जाति, सौन्दर्य, कला विज्ञान एवं विद्याएं आदि सभी व्यर्थ है। द्रव्याभाव के कारण उन्हे अज्ञात वास भी करना पडता है। यथा—

दविणि सहु का भुक्खु वि महपंडिउ।
दविणिहु पाग्गु वि मणिमण्डिउ ॥
दविणि सहु गयरूड वि सरणिहु।
दविणि सहु गयकुलु पुणु कुन्नगिहु ॥
दविणि सहु का उरिसु वि सूरिउ।
दविणि सहु विगुणु वि गुण पूरिउ ॥
तिंविणु रूउ कला विण्णाणइ।
वीरत्तणु कुल जाइ पट्टाणइ ॥

एदे सयलहु वलइ घत्ल हि।
विज्जागिरि विवरंतरि ठिल्लहिं ॥
जिह जल विणु घणु रित्तउ गज्जइ।
तिह विणु दविणि वयणुण छज्जइ ॥
२।६।३-८

इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग मे कवि सच्चे बन्धु की परिभाषा करता हुआ कहता है कि सच्चा बन्धु अर्थात मित्र वही है जो अपने बन्धु को कुमार्ग से हटा कर सुपथगामी बनाता है। जो सदा उसे दुर्गति से बचाता है तथा धर्मकार्यों की ओर प्रवृत कराता है।यथा—

सौ वंधउ जो पायडइ धम्मु।
सो बंधउ जो दंसइ सकम्मु ॥
सो वधउ जो सामेइ मोहु।
सो वंधउ जो संजणइ वोहु ॥
सो वधउ जो वसणावहारि।
सो वंधउ जो दुग्गइ णिवारि ॥
सो बधउ जो जिणमग्गि णेइ।
सो बंधउ जो सजमु मणेइ ॥
४।११।१-४

भाषा

प्रस्तुत 'सतिणाह चरिउ' की भाषा अपभ्रंश है। इसमे कवि ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का प्रयोग किया है किन्तु काल एव परिस्थिति विशेष से उसमे कई ऐमे शब्द भी प्रयुक्त है जिनका व्यवहार आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओ विशेषतया रइधू के पार्श्ववर्ती प्रदेशो-ब्रज, बुन्देली एव बघेली मे होती हे ऐसे शब्दो मे कुछ निम्न प्रकार है — रित्तउ-रीता-खाली (२।६।८), जेठी-वडी ३।१६। १३), पठावहु-पठाना-भेजना (४।३।६) चक्की (४।४।१२), वीडा (७।५।१०) चमक्क (७।४।१२) फल-फूल (७।६।८) चप्पइ-चापना (८।१।१२)

अशनिधोष का मन्त्री भी अशनिधोष के कथन का समर्थन करता है कि राजन् ... "आपने ठीक ही कहा है, ऐसे दुष्ट दूत को अविवेक फल चखाने मे किमी भी प्रकार का राजनैतिक दोष नही लगता, क्योकि दूत वही है जो शंका उत्पन्न होने पर दोनो पक्षो का संयोजन करता है।" इस प्रकार मन्त्री ने श्रीविजय के दूत को अर्धचन्द्र देकर दरबार से निकलवा दिया यथा—

एयहु राय दोसु णउ लग्गइ।
दूवहु गुणु जोइ संकिउवग्गइ ॥
णिय सामियहु पक्खु थिरुथप्पइ।
अणहु असरिसवयण समप्पई ॥
अणु देव पइ विरूवउ जु ंजिउ।
जंपरतिय राएं मणुरजिउ ॥
इय मणे विजिय पहु उपसामिउ।
दूवहु अद्धइंदु देवादिउ ॥
३।१०।१०–४

दरवार से दूत अथवा किसी अन्य व्यक्ति को निकालते समय गर्दन पर हाथ रखकर तथा धक्का देकर निकाल देने के लिए रइधू ने अर्धचन्द्र शब्द का सुन्दर प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि रइधू को यह शब्द महाकवि राजशेखर से उपलब्ध हुआ है। राजशेखर कृत कपूरमंजरी सट्टक मे विदूषक एवं विचक्षणा के वाक्कलह के प्रसंग मे विदूपक ने इसी शब्द का प्रयोग किया है। भोजपुरी मे इस प्रक्रिया अथवा भाव को व्यक्त करने के लिए गरदनिया शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द भी बडा सार्थक एवं भावपूर्ण है।

शान्तिकुमार का दिग्विजय हेतु प्रयाण

युवक शान्किुमार जब दिग्विजय हेतु सैन्य सज्जा के साथ प्रयाण करते है उस समय का कवि ने वडा ओजस्वी वर्णन किया है यथा :—

ता णरयम्मि पवट्टिउ कलयलु।
सज्जहु सज्जहु अइरे महवुल ॥
वज्जिय तूरलक्ख अरि कंपिय।
कि किं किं अप्पू पर जपिय ॥
पल्लाणियइं तुरंगम कोडिउ।
अठारस तेवियलिय खोडिउ।
चउरासी लक्खइं गय सज्जियातेत्तिया
इं रह रणहिं अभज्जिय ॥
चउरासी कोडिउ पाइक्क।
जमदूवरण महिल्लक्कइ ॥
भड षण्णज्झिय मणि रह सुल्लिय।
मरण भरण कहवणो डोल्लिय ॥
इम मज्जि वि बलु जावहिणिमय।
तो कपियइ असेसइं दिग्गय ॥
सासरुद्ध फणिवइ फणचूरिउ।
सेणपयमारे भुसु पूरिउ ॥
हणियणि साण चक्कि जा चल्लइ।
ता तियसेसहुं आसणु डोल्लइ ॥
७।४।३–१२

छन्द-योजना

प्रस्तुत रचना मे कवि ने विविध छन्द योजना की है। इन छन्दो को दो भागो मे बाटा जा सकता है। अपभ्र श-छन्द एव सस्कृत-छन्द। कवि ने सस्कृत छन्दो का प्रयोग ग्रन्थ की कुछ सन्धियो के अन्त मे आश्रयदाता जुगराज को आशीर्वाद देने हेतु किया है इस प्रसग मे कवि ने मन्दाक्रान्ता, मलिनी एव शिखरिणी छन्दो के प्रयोग किये हैं।

अपभ्रंश-छन्दो मे अल्लिल्लह, पादाकुलक, समानिका, मदनावतार, तुणक, भुजप्रण्यात एवं घत्ता छन्दो के प्रयोग मिलते हैं।

दोहा छन्द और उसका महत्त्व

□ प्रेमचन्द रांवका, एम० ए०, शि० शास्त्री

दोहा जिसे राजस्थानी मे दूहा कहते हैं, सस्कृत 'के दोधक' शब्द से उत्पन्न माना जाता है। यह अपभ्र श काल का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द है। यद्यपि यह छन्द गुजराती, ब्रज, राजस्थानी और हिन्दी आदि भाषाओ मे बहुतायत से मिलता है, तथापि अपभ्रंश की ज्येष्ठा पुत्री होने के कारण राजस्थानी मे इस दोहे छन्द का रुधिर शुद्ध रूप मे पाया जाता है। राजस्थानी मे इस दोहे को दूहो, दूहा और दोहरा आदि नामो से पुकारा जाता है।

दोहे शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे विद्वानो मे एकमत नही है। कतिपय विद्वान इसे सस्कृत के दोधक या दोग्धक' से उत्पन्न मानते है। जबकि कुछ अन्य विद्वान् 'स्वयभू-छन्द' को इस का आधार बताते है। उनके अनुसार अपभ्र श काव्य-शास्त्र मे इस छन्द को 'दुवहग्र' कहा गया है जो द्विपदक' से द्विवथक-द्विवपथा-दुवहग्र होता हुआ कालान्तर मे दोहा हो गया।

अपभ्र श काल मे इस छन्द ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त करली थी। जिस प्रकार प्राकृत-साहित्य मे गाहा या गाथा छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था। ठीक उसी प्रकार अपभ्र श काल मे दोहा प्रिय छन्द बन बैठा और कालान्तर मे भी इस छन्द ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार जैसे श्लोक सस्कृत का और गाथा प्राकृत की प्रतीक हो गयी, उसी प्रकार दोहा अपभ्र श का'। डा० जेकोबी और आल्स डोर्फ का मत है कि दोहा अपभ्र श गीति-काव्य का अति प्रचलित छन्द है और प्राकृत गाथा का अपभ्र श प्रतिरूप है-इससे इसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सकती है।

दोहे की प्राचीनता के सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे मतभेद है। पुरातत्वविद् मुनि श्री जिन विजयजी दोहे की प्राचीनता तीसरी या चौथी शताब्दी तक मानते हैं परन्तु राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वान प्रो० शम्भुसिह मनोहर का कहना है कि मुनिजी की मान्यता की पुष्टि मे कोई प्रमाण नही मिलता।[2] फिर भी इसमें कोई सन्देह नही कि 'दूहा या दोहा' अपभ्रंश साहित्य का लाडला छन्द है। इस आधार पर यह छन्द प्राचीनता की दृष्टि से ९-१० वी शताब्दी तक पहुंचता है। अपभ्रंश को 'दूहा-विद्या' कहा गया है। योगेन्द्र के परमात्म प्रकाश मे दोहो को ७वी शताब्दी का बताया गया है जबकि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२. ढोला मारू रा दूहा प्रो० शम्भूसिंह मनोहर

३ । वडो दूहो या अन्तर्भमेल दूहो,

४ । तूवेरी या मध्य मेल दूहो ।

दूहा राजस्थानी साहित्य एव जनता का अत्यन्त प्रिय छन्द है । अब भी सैंकडो दूहे राजस्थानी की जिह्वा पर मिलते हैं । मुक्तक काव्य धारा होते हुए भी ये दूहे प्रवन्ध कथा का सा आनन्द प्रदान करते हैं । मुक्तक दूहे नीति, उपदेश, भक्ति शृंगार व कहावतो के रूप मे प्रयुक्त हुए है । राजस्थानी के कहानीकार भावपूर्ण स्थलो पर दूहो का प्रयोग करते है ।

राजस्थानी को दूहा छन्द अपभ्रंश से वपोती रूप मे मिला है । उत्तर अपभ्रंश काल मे दूहा साधारण जनता एव विद्वत् समाज दोनो द्वारा समादृत था । राजस्थानी मे भी उसकी लोकप्रियता और उसका समादर ज्यो के त्यो कायम रहे । अपभ्रंश काल के बहुत से दूहे, जो लोगो मे सर्वप्रिय थे, निर्विघ्न रूप से आगे भी चलते रहे । समय के साथ उनकी भाषा का स्वरूप भी बदलता गया । ऐसे कुछ दोहे आज भी लोगो की जवान पर मिलेगे । बहुत से विस्मृति के सागर मे विलीन हो गये और कुछ थोडे से उत्साही व्यक्तियो द्वारा समय-समय पर लिपिवद्ध कर लिये जाने से सुरक्षित भी रह गये है । हेमचन्द्र की व्याकरण का निम्न दोहा और वर्तमान मे उसका परिवर्तित रूप यहा उल्लेखनीय है—

> वायसु उड्डावन्तिअए, पिउ दिट्ठउ सहसत्ति ।
> अद्धा वलया महिहि गय, अद्धा फुट्ट तडत्ति ॥८।४।३५२॥

पर आज यह दूहा निम्न रूप मे प्रचलित है :

> काग उडावण धण गयी, आयो पीव भडक्क ।
> आधी चूडी काग गल, आधी गयी तडक्क ॥

ऐसे ही अन्य और दोहे—जो हेमचन्द्र के है, प्रस्तुत किये जा सकते है । "प्रवन्ध चितामणि मे अपभ्रंश का निम्न दोहा .

> जइ यहु रावणु जाइउ दह मुहु इक्कु सरीरु ।
> जणणि वियम्भि चिन्तवइ, कवणु पियावउ खीरु ॥

इसका राजस्थानी मे निम्न रूप हो गया—

> राजा रावण जन मियो, दस मुख एक सरीर ।
> जननी नै सासो भयो, किण सम मुख घालू
> खीर ॥

व्यापकता की दृष्टि से दोहा छन्द अपनी सानी नही रखता । ऐसा कोई विषय नही, जिसमे इसकी गति न हो , सच तो यह है कि लोक-भाषा के काव्य रसिको ने ब्रह्मानन्द सहोदर को सर्व प्रथम दोहे मे ही सकलित किया । विविधता की दृष्टि से जैन साधुओ एव जैन विद्वानो ने दोहे को बहुत अपनाया । जैन कवियो की रास-रचना मे भी दोहे को पर्याप्त बल प्रदान किया । प्राकृत की गाथा और अपभ्रंश दोहो पर जैन विद्वानो का अपना अधिकार हो गया था । दोहा साहित्य के उद्भव एव विकास मे इन विद्वानो का योगदान अभिनन्दनीय एव स्मरणीय रहेगा । विषय की दृष्टि से भी दोहा छन्द साहित्य विजयी रहा । प्रतीको को अपनाने मे जितना समर्थ दोहा छन्द रहा है, उतना ही वह रूपक अलंकार के सौन्दर्य प्रदर्शन मे भी बली रहा है । १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि दौलतराम का विवेक-विलास पूरा का पूरा दोहा छन्द बद्ध है । हिन्दी दोहा-साहित्य मे यह एक अनुपम कृति है ।

जो स्थान संस्कृत मे अनुष्टुप श्लोक तथा प्राकृत मे गाथा का है, वही स्थान अपभ्रंश, उत्तर-कालीन अपभ्रंश (लोकभाषा), राजस्थानी, गुजराती तथा हिन्दी मे 'दूहो' का है । [illegible]

२५

अभयचंद्र नाम के गुरु

□ सत्यनारायण तिवारी

एक ही नाम के अनेक व्यक्ति सदा से होते आये है। इतिहास मे ऐसे व्यक्तियो का समीकरण या पहिचान एक कठिन काम होता है। इसके लिए कभी-कभी अत्यधिक सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन की जरूरत पडती है। फिर भी यह काम इतना जरूरी है कि इसके बिना इतिहास अधूरा रहेगा। इस लघु निबध मे मैने ऐसा ही एक तुच्छ प्रयास किया है।[1] मैं अभयचन्द्र नाम के या उससे मिलते जुलते नाम वाले कुछ गुरुओ के तीस सदर्भ प्रस्तुत कर रहा हू । विश्वास है शोध जगत् के सदस्यो को यह कार्य उपयोगी सिद्ध होगा।

संदर्भ-

(१) प्रथम अभयचन्द्राचार्य प्रक्रिया-सग्रह के कर्त्ता है।[2] इनका समय ७३२ ई. (पूर्वावधि) है। प्रक्रिया संग्रह पाणिनि की सिद्धात कौमुदी के ढग की प्रक्रिया-टीका है।[3]

(२) दूसरे अभयचन्द्र वे है जिनको नेमिचन्द्र जी ने द्विसधान काव्य की टीका मे अपना गुरु बतलाया है।[4] इन अभयचन्द्र का समय ईसा की ६ वी शताब्दी (पूर्वावधि) है।

(३) तोललु (मैसूर) लेख मे होयिसल राजा विनयादित्य द्वारा सन् १०६२ मे उत्तरायण सक्रमण के अवसर पर मूल संघ के पण्डित अभयचन्द्र को कुछ भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १०६२ ई. है। अभयचन्द्र की पूर्व परम्परा मे गौतम स्वामी, भद्रबाहु स्वामी, पुष्पदत भट्टारक तथा मेघचन्द्र का उल्लेख किया गया है।[5]

---

१ इसके लिए मुझे प्रेरणा डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन के इसी तरह के निबधो से और निर्देश पं गोपीलाल 'अमर' से प्राप्त हुआ है। इन दोनो विद्वानो का हृदय से आभारी हू।

२. देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास' लेखक प नाथूराम 'प्रेमी', प्रकाशक-हेमचन्द्र मोदी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव, बम्बई, पृ० १५५

३, प्रकाशित हो चुकी है।

४. देखिए 'प्रशस्ति सग्रह (आरा)', सपादक-के भुजबली शास्त्री, प्रकाशक-निर्मलकुमार जैन, मन्त्री जैन सिद्धान्त भवन आरा, पृ० १०१

५. देखिए 'जैन शिलालेख सग्रह (भाग ४), सॉ. डा. विद्याधर जोहरापुरकर, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृ० ६६,

(१०) सिद्धर वस्ती के उत्तर की ओर एक स्तंभ पर सन् १३९८ का एक ६६ पद्यों का अभिलेख है जिसमे एक लबी आचार्य परम्परा दी गई है। इस परम्परा मे वादिसिंह के शिष्य और श्रुतमुनि के गुरु के रूप मे अभयचन्द्रदेव का अनेक विशेषणो सहित २ श्लोको (३३-३४)[१२] मे उल्लेख हुआ है। इमसे स्पष्ट है कि इनका समय सन् १३९८ ई. है।

(११) शाकटायन व्याकरण के 'उपज्ञाते' सूत्र के टीकाकार श्री अभयचन्द्रसूरि हैं।[१३] ये वे ही अभयचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती मालूम होते हैं जो केशववर्णी के गुरु तथा गोम्मटसार की 'मंद-प्रबोधिका' टीका के कर्त्ता थे और 'लघीयस्त्रय' के टीकाकार भी ये ही जान पडते है। इन तीनो टीकाओ की मगलाचरण की शैली प्राय. एक है—प्रत्येक मे अपने गुरु के सिवाय मूलग्रथकर्त्ता तथा जिनेश्वर को भी नमस्कार किया गया है। इससे ये तीनो टीकाकार एक ही जान पडते हैं और मुनिचन्द्र के शिष्य मालूम होते है। ये अभयचन्द्र सूरि ईसा की १३वी–१४वी शताब्दी के विद्वान मालूम होते है।

(१२) कत्तले बस्ती के गर्भगृह के दक्षिण की ओर दो सुन्दर पूर्वमुख चतुस्तभ मण्डप बने हुए है। उनमे एक महानवमी मण्डप भी है जिसमे सन् १४१३ ई का १९ श्लोको मे अभिलेख है।[१४] इसमे माघनन्दी व्रती के शिष्य और बालचन्द्र के गुरु अभयचन्द्र (अभयशशी) का उल्लेख है। उपर्युक्त अभिलेख से इनका समय सन् १४१३ ई. (उत्तरावधि) प्रतीत होता है।

(१३) भारगी मे कल्लेश्वर वस्ती के पाषाण पर सन् १४१५ ई मे अभयचन्द्र सिद्धात देवर का उल्लेख हुआ है।[१५] इनकी उत्तरावधि सन् १४१५ ई. है।

(१४) ये वे अभयचन्द्र सूरि है जो सस्कृत भाषा के 'पचदडछत्रप्रबंध' के रचयिता है।[१६] इसकी रचना सन् १४३३ ई मे माघ सुदी १४ को की गई। अत इनका समय १४३३ है।

---

१२ तु गे तदीये घृत वादिसिंहे गुरुप्रवाहोन्नत वन्श गोत्रे।
अधोदितो मूर्ध्निजपादसेवा प्रमोदिलोको ऽ भयचन्द्रदेवः ॥३३॥
जयति जिततमोरिस्त्यक्त दोषानुषगः
पदमखिलकालाना पात्र मम्भोरूहायाः।
अनुगतजयपक्ष श्रत्तमिवानुकूल्य—
स्सतमभयचन्द्रस्सहस्र भास्त्नदीप ॥३४॥
देखिए 'जैनशि स. (भाग १)', स प. हीरालाल जैन, प्रकाशिका श्री मणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, पृ० १०५

१३ देखिए 'जैन साहित्य और इतिहास', लेखक पं नाथूराम प्रेमी; प्रकाशक—हेमचन्द्र मोदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाव बम्बई, पृ० २८०, २८१

१४ देखिए जैन शि. स. (भाग १)', पृ० ३२

१५ देखिए 'जैन शि, स. (भाग ३), पृ० ४५१

१६ देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ सूची (भाग ३)'; पृ० १२९१.

की तथा अलकारशास्त्र एव नाटको का गहरा अध्ययन किया। अच्छे वक्ता तो ये प्रारम्भ से ही थे किन्तु विद्वत्ता होने से सोने–सुगन्ध का सा सुन्दर समन्वय हो गया।[२५]

२३. अभयचन्द्रगणि ने प्राकृत भाषा की ऋणसम्बन्ध कथा की रचना की। इसकी प्रतिलिपि सन १६३५ मे की गई।[२६] अत इनका समय सन १६३५ ई० [उत्तरावधि) होना चाहिए।

२४. अभयचन्द्र सूरि वे है जिन्होने कथा विषय की हिन्दी भाषा की विक्रम चौबोलीचौपाई की रचना की।[२७] इसकी रचना सन १६६७ ई० मे आषाढ वदी १० को की गई। अत इनका समय सन १६६७ ई० ज्ञात होता है।

२५. अभयचन्द्र हिन्दी भाषा की पार्श्वनाथ पूजा के रचियता है।[२८] इनका समय सन १७८० ई० [पूर्वावधि] है।

२६. अभयचन्द्र सस्कृत की क्षीरोदानी पूजा के रचियता है।[२९] इनका समय सन १७६१ ई० [उत्तरावधि] है।

२७ श्री दि० जैन मन्दिर बडा तेरहपथियो (जयपुर) के शास्त्र भण्डार के वे० न० ३२७ मे जो प्रति नं ६ है। उसके टीकाकार अभयचन्द्रसूरि है।[३०]

२८. हिन्दी भाषा मे पूजाष्टक के रचियता श्री अभयचन्द्र है।[३१]

२९. कम्मनहल्लि [मैसूर] लेख मे मूलसघ देशीगण के अभयचन्द्र आचार्य का उल्लेख है।[३२]

३०. तोललु (मैसूर] लेख मे उल्लिखित आचार्य अभयचन्द्र की शिष्या पद्मावती यक्का के द्वारा एक अधूरे जिनमन्दिर को पूर्ण करने का उल्लेख हुआ है।[३३]

उपसहार

मैं चाहता था कि इन सभी विद्वानो का यथा-सम्भव समीकरण भी करता किन्तु पर्याप्त साधनो के अभाव मे मुझे यह कार्य फिलहाल स्थगित करना पड रहा है। कोई विद्वान महोदय सम्पन्न करेगे तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी।

२५. इनके विस्तृत परिचय के लिए देखिए डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा लिखित 'राजस्थान के जैन सन्त मे 'मुनि अभयचन्द्र' नामक निबन्ध, पृ० १४८–१५२.
२६. देखिए 'राजस्थान के जैन शा भ की ग्रन्थ सूची [भाग ४]'; पृ० २१८.
२७. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भं की ग्र. सू [भाग ४]', पृ० २४०.
२८. देखिए 'राजस्थान के जैन शा. भ. की ग्रन्थ सूची [भाग २]', पृ० ६८.
२९. देखिए 'राजस्थान के जैन शास्त्र भं की ग्रन्थ सूची [भाग २]', पृ० ७९३.
३०. देखिए 'राजस्थान के जैस शा. भ की ग्रन्थ सूची [भाग २]', पृ० ४७
३१. देखिए 'राज. के जैन शा भं. की ग्रन्थ सूची (भाग ४]', पृ० ५१२
३२, देखिए जैन शि. सग्रह [भाग ४]', पृ० ३५९
३३. देखिए 'जैन शि सग्रह [भाग ४]', पृ० ३६२

प्रथम जैन यति–मुनियो द्वारा ऐच्छिक और परम्परा रूप से ग्रंथ–प्रणयन ।

द्वितीय, जैन-मुनियो द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति की प्रेरणा से या आज्ञा से ग्रंथ-प्रणयन ।

तृतीय स्वतन्त्र जैन विद्वानो और वैद्यो द्वारा ग्रंथ-प्रणयन ।

मै हस्तलिखित वैद्यक-ग्रंथो के अपने सर्वेक्षण मे इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुगीन अधिकाश वैद्यकसाहित्य राजस्थान और गुजरात मे निर्मित हुआ, उसमे भी सर्वाधिक योगदान जैनाचार्यो का रहा है। यह जैन–वैद्यक–साहित्य प्राय देशीय भाषा–राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी या गुजराती मे उपलब्ध है, परन्तु सस्कृत के ग्रंथ भी अनेक है। इनमे उल्लेखित औषधिया और योग स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रात्यक्षिक ज्ञान पर आधारित है। इनमे मद्य, मास और मधु का प्रयोग नहीवत् है। इनमे वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो से निर्मित योग ही बताये गये हैं। वस्तुत जैन-सिद्धातानुसार इन आचार्यों ने वैद्यक-क्षेत्र मे भी अहिंसा-तत्व का दृढता से पालन किया है।

एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जैन वैद्यक साहित्य मे प्राचीन चरक, सुश्रुत आदि से योगसग्रह, शार्ङ्गधर, भावप्रकाश, माधवनिदान आदि ग्रंथो का पद्य या गद्य मे भाषानुवाद, स्वतत्र रोग निदान व चिकित्सा के ग्रंथ और प्राचीन ग्रंथो पर टीका-व्याख्या-ग्रथ उपलब्ध होते है, परन्तु इनके अतिरिक्त 'आम्नाय ग्रथ' भी प्रचुर मात्रा मे मिलते है, जिनमे वैद्यो, गुरुओ और अन्य व्यक्तियो से प्राप्त तथा स्वय द्वारा अनुभव किये गये योग-प्रयोगो का आकलन किया गया है। ऐसे ग्रथ 'गुटको' के रूप मे जैन ग्रथागारो मे भरे पडे है। वास्तव मे ऐसे ग्रथो का प्रकाशन न केवल अनुभव-सिद्ध चिकित्सा प्रणाली को प्रस्तुत करने मे उपयोगी होगा, अपितु इससे राजस्थान के लोकायुर्वेद (लोक-जीवन मे व्याप्त घरेलू प्रयोगो व उनके उपयोग) के सबध मे सर्व–सुलभ जानकारी प्राप्त हो सकती है। ये प्रयोग ऐसे है, जिनके लिए औषधिया राजस्थान के हर ग्राम व नगर मे सुगमता से उपलब्ध हो जाती हैं। इस सदर्भ मे आयुर्वेद की यह सर्वमान्य सिद्धात व उक्ति चरितार्थ होती है–

"यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जं तस्योषधिंहितम्।" अर्थात् जो प्राणी जिस प्रदेश मे उत्पन्न हुआ है, उसके लिए उस प्रदेश-विशेष मे उत्पन्न औषधिया वनस्पतिया हितकर होती है। अस्तु।

सास्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानो व यति मुनियो ने चिकित्साकार्य और वैद्यक ग्रथ-प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियो ने धर्मार्थ चिकित्सालय, औषधालय, पुण्यशालाएं व आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्रदान किया है। निश्चित ही, यह देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

अनेक जैन-आचार्य प्रसिद्ध चिकित्सक हुए है और अनेक जैन-आचार्यो द्वारा विरचित वैद्यकग्रथ भी उपलब्ध है। इनमे से कुछ काल-कवलित और कीट-ग्रास भी हो चुके है। जिन जैन आयुर्वेदज्ञो का परिचय और उनकी कृत्तिया प्राप्त है, उनका ऐतिहासिक मूल्याकन निम्न पक्तियो मे प्रस्तुत करेगे।

आशाधर (१२४०ई)—

जैन साहित्य मे यह अपने समय के दिगम्बर सम्प्रदाय के बहुश्रुत, प्रतिभासपन्न और महान् ग्रंथ-कर्त्ता के रूप मे प्रकट हुए है। धर्म और साहित्य के अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, काव्य, अलकार,

आशाधर के ग्रंथो मे लिखी हुई प्रशस्तियो के उनके सब ग्रंथ वि. स १२६० से १३०० के बीच के लिखे हुए है। इनके २० से अधिक ग्रंथ मिलते है।

वैद्यकग्रन्थ—वाग्भट के प्रसिद्ध ग्रंथ 'अष्टाग-हृदय' पर आशाधर ने 'उद्योतिनी' या 'अष्टाग-हृदयोद्योतिनी' नामक टीका लिखी थी।[२] यह ग्र थ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख हरिशास्त्री पराडकर[३] और पी. के गौड[४] ने किया है। यह टीका वहुत विद्वत्ता पूर्ण थी। पीटर्सन ने इसकी किसी हस्तलिखित प्रति का उल्लेख नही किया है,[५] परन्तु यदि इसकी कही कोई प्रति मिल जाय तो अष्टागहृदय के व्याख्यासाहित्य मे उससे महत्वपूर्ण वृद्धि होगी।

हंसराज मुनि (ई० १७ वी शताब्दी)—

यह खरतरगच्छ के वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे। इनका काल सत्रहवी शती ज्ञात होता है।

इन्होने नेमिचन्द्र कृत प्राकृत 'द्रव्यसग्रह' पर 'बालावबोध' लिखा था।

"द्रव्यसग्रह शास्त्रस्थ वालवोधो यथामतिः।
हसराजेन मुनिना परोपकृतये कृतः ॥१॥"

इनकी अन्य रचना 'ज्ञानद्विपंचशिका—ज्ञान—बावनी' भी मिलती है। इसकी प्राप्त एक ह० लि० प्रति का लिपिकाल स० १७०९ है।

भिषक्चक्रचित्तोत्सव—

इसे 'हसराजनिदानम्' भी कहते है। यह चिकित्सा विषयक ग्रन्थ हे। ग्रन्थारम्भ मे "श्री पार्श्वनाथायनम' लिखकर सरस्वती प्रभृति और धन्वन्तरि की वन्दना है। लेखक ने लिखा है—

"भिषक्चक्रचित्तोत्सव जाड्यनाशं करिष्याम्यह वालबोधाय शास्त्रम्।
नमस्कृत्य धन्वन्तरिं वैद्यराज जगद्रोगविध्वसवं स्वेन नाम्ना ॥५॥

तथा—

"देश वल वय काल गुर्विणी गदमौषधम्।
वृद्धवैद्यमत ज्ञात्वा चिकित्सासारमेतत्तत. ॥१०॥'

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है—

भिषक्चक्रचित्तोत्सव वैद्यशास्त्रे कृतं हसराजेन पद्यैर्मनोज्ञैः।
सुहृदै (हृद्यै) रदोषेरुरो ध्यान्तनाश हरेरघ्रिसज्ञो-विना नन्दमूर्तं ॥१॥

यह ग्रन्थ हसराजकृत भाषाटीका सहित वेंक-टेश्वर प्रेस, वम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

जिन समुद्रसूरि (१७-१८ वी शती)-

यह श्वेताम्वरी वेगड गच्छ शाखा के आचार्य थे। इनका जन्म श्रीमाल जातीय शाह हरराज की पत्नी लखमादेवी के गर्भ से हुआ था। इनका

---

२ आयुर्वेदविदामिष्ट व्यक्तु वाग्भटसहिताम्।
अष्टागहृदयोद्योत निवन्धमसृजच्च य. ॥" (आशाधर की ग्रंथप्रशस्ति मे)

३. हरिशास्त्री पराडकर, अष्टागहृदय (निर्णयसागर प्रेस, वम्बई), उपोद्घात, पृ. २९

४ पी के. गोडे, अष्टागहृदय, इंट्रोडक्शन, पृ. ६

५. आफ्रेक्ट, केटेलॉगस केटेलोगोरम, भाग १, पृ. ३६.

जिनदासवैद्य (स० १७१५)

यह जयपुर के निवासी थे। जयपुर के पाटोदीजी के मन्दिर मे (गठरी न ६ न १ पत्र ५६ श्लोक ८४३) पर 'जिनदासवैद्य' का 'होलीरेणुकाचरित्र' नामक ग्रन्थ विद्यमान है। इसकी प्रशास्ति मे जिनदास वैद्य की विस्तृत कुल परम्परा दी हुई है। उसमे जिनदास के पूर्वज प० हरपति, पद्म, ग्रोह और विझ की प्रशसा की गई है और वताया गया है कि उनको फिरोजशाह, गयासुद्दीन और नादिरशाह आदि द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ था। विझ के पुत्र धर्मदास भी अच्छे वैद्य थे।

मो० द० देसाई ने जिनदास का काल स० १७१९ के लगभग माना है। (द्र० जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी (धर्मवर्द्धन) (स० १७१७ से १७५०)

इनका वास्तविक नाम धर्मसिह या धर्मवर्द्धन था। यह खरतर गच्छीय वाचक विजयहर्षजी के शिष्य थे। इन्हे राज्य सम्मान भी प्राप्त था। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार मिलती है—

खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि की शाखा मे—साधुकीर्ति—साधुसुन्दर— विमलकीर्ति—विजयहर्ष धर्मसी।

इनका भ्रमणक्षेत्र मारवाड और उत्तरी गुजरात रहा। यह मूलतः मारवाड के रहने वाले थे।

इनकी सस्कृत और राजस्थानी मे रचनाए मिलती है। इनका ग्रन्थ रचनाकाल स० १७१७ से १७५७ तक माना जाता है। (देखिये मो० द० देसाई, जैन साहित्यनो इतिहास, पृ० ६६४)।

धर्मसी का सस्कृत मे "श्रीभक्तयामरस्तोत-समस्यारूप श्रीवीरजिनस्तवन" ग्रन्थ ४४ वसत-तिलकाओ मे मिलता है। यह ग्रन्थ स० १७३६ मे रचा गया था। राजस्थानी भाषा मे ये ग्रन्थ मिलते है—

अमरसेन वैरसेन चौपई, शनिश्चर विक्रम चौपई (राधनपुर मे),

सुर सुन्दरीनोरास (स० १७३६, श्रा० सु० १५ बेनातटपुर मे), दशार्णभद्र चौ० (१७५७ मेडता मे), २८ लब्धिस्तवन (स० १७२२ लूणकरणसर मे), १४ गुणस्थानस्तवन (स० १७२९ श्रा० वद ११ वाहडमेर मे), अढीद्वीपवीसविहरमानस्तवन (स० १७२९ जैसलमेर मे,) जैसमवरन विचार गर्भितस्त०, आलोपणस्त० (स० १७५४ फलोधी मे)। (इन ग्रन्थो के विवरण हेतु देखिए मो० द० देसाई, जैन-गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ३३९-३४६)।

वैद्यक पर इनकी एक ही रचना मिलती है—"डभक्रिया"। डभक्रिया का अर्थ है, अग्निदाहकर्म की प्रक्रिया। यह २१ पद्यो मे छोटी सी रचना है। इसका रचनाकाल सम्वत १७४० विजयादशमी दिया गया है।

"सतरसो चालीसे विजयदशमीदिने,
गच्छखरतरजगजीत सर्व विद्या जिनै।
विजयहर्ष विद्यमान शिष्य तिनके सही,
कवि धर्मसी उपगारे, डभक्रिया कही।२१।

लक्ष्मीवल्लभ (स० १७२०–१७५०)–

इनके जन्मस्थान, जन्मसम्वत, वश, माता-पिता और गृहस्थ जीवन के सम्बन्ध मे विशेष परिचय नही मिलता और इनके ग्रन्थो मे भी कोई प्रशस्ति प्राप्त नही होती। इनका जन्म नाम हेमराज था। इनका जन्म सम्वत १६९० और १७०३ के बीच होना ज्ञात होता है। इन्होने स० १७०७ के लगभग दीक्षा ली थी। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार

नाए मिलती है। सीधी मे भी तीन सावन मिलते है। इनका साहित्य बहुत विशाल और विविध है, जो इनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचायक है। इनकी छोटी-बडी लगभग पचास से भी अधिक कृतिया मिलती है।

रामचन्द्र [वि. स १७२०-१७५०]—

यह खरतगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम पद्मरंगगणि था। पद्मण के गुरू पद्मकीर्ति हुए और पद्मकीर्ति के गुरू जिनसिंह सूरिराज हुए। जिनसिंह सूरि दिल्ली के बादशाह शाहसलेम (सलीमशाहसूर) के काल मे विद्यमान थे और अपने उपदेशो से बादशाह को उन्होने दयावान बना दिया था। उनको मुगल सम्राट अकबर और सलीम द्वारा भी सम्मान प्राप्त हुआ था। रामचन्द्रयति औरगजेब के शासनकाल मे मौजूद थे। अपनी गुरुशिष्य परम्परा को लेखक ने निम्न पक्तियो मे स्पष्ट किया है—

''गुणवर श्री , जिनसिंहजी खरतरगच्छ राजान।
शिष्य भए ताके भले, पदमकीर्ति परधान ॥
ताके शष्य.वणारसी, पद्मरग गुणराज।
रामचन्द्र गुरूदेव को, नीकै प्रणये आज ॥

[कवि विनोद, ग्रन्थारम्भ मे]।

वैद्यक और ज्योतिष पर इनका अच्छा अधिकार था। इनके पूर्व गुरू भी वैद्यक मे निष्णात थे। वैद्यक पर 'रामविनोद' और 'वैद्यविनोद 'नाडी-परीक्षा' 'मानपरिमाण' ग्रन्थ तथा ज्योतषि पर सामुद्रायिक भाषा नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके काव्य सम्बन्धी चार ग्रन्थ भी मिलते है— 'समेदशिखरस्तवन' [स १७५०'] 'बीकानेर आदिनाथस्तवन' [स १७३०], 'दश पच्चक्खाण स्तवच' [स. १७२१], 'मूलदेव चौपाई [स. १७११]। ये सब ग्रन्थ राजस्थानी हिन्दी मे और पद्यमय है। कुछ फुटकर भक्तिपरक पद्य भी मिलते है।

यद्यपि इनके ग्रन्थो मे इनके निवासस्थान का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता, तथापि इनके ग्रन्थो की उपलब्धि विशेषरूप से राजस्थान मे होने से तथा भाषा राजस्थानी होने से इनका राजस्थानी होना स्पष्ट होता है। सम्भवत यह बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे।

१. **रामविनोद**—[वि. स १७२०]–यह चिकित्साविषयक ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल मिगसर सुदी १३, बुधवार स १७२० है। यह कृति सक्कीनगर [सिन्ध प्रात] मे बनायी गई थी।

२ **वैद्य विनोद**—इस ग्रन्थ की रचना-समाप्ति स १७२६ वसन्त ऋतु वैशाख पूर्णिमा को हुई थी। उस समय औरंगजेब का शासनकाल था।

'रस[६] दृग[२] सागर[७] शशि[१] भयौ,
रित वसन्त वैसाख।
पूर्णिमा शुभ तिथि भली,
ग्रन्थ समाप्ति इह भाख ॥
साहिन साहिपति राजतौ, औरगजेब नरिद।
तास राज मे ए रच्यौ, भलोग्रन्थ सुखकन्द ॥

[ग्रन्थात ६१-७०]

यह ग्रन्थ मरोटकोट [बीकानेर राज्य] मे रचा गया था।

'मरोटकोट शुभ थान है, वशै लोक सुखकार।
ए रचना तिहा किन रची, सबही कु हितकर ॥"

(७२)

'वैद्यविनोद' की रचना से पूर्व रामचन्द्र ने 'रामविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ बनाया था।

आयुर्वेदज्ञ मान मुनि थे। इनके नाम के साथ कवि और 'मुनि' विशेषणो का व्यवहार हुआ है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने प्रसिद्ध शृंगारग्रंथ 'संयोगद्वात्रिंशका'[1] जिसे अमरचन्द मुनि के अनुरोध पर स १७३१ मे लिखा था, के कर्त्ता को मानमुनि माना है किन्तु जो भाषाविषयक प्रौढत्व 'संयोगद्वात्रिंशका' मे है, वैसा आयुर्वेद विषयक रचनाओ मे देखने को नही मिलता।

वैद्यक पर इनकी दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं—कविविनोद और कवि प्रमाद। इनकी अन्य रचना 'वैद्यकसारसग्रह' भी बतायी जाती है। नागरणी प्रचारिणी सभा के १४ वे खोजविवरण पृष्ठ ६१७ पर इस कृत्ति का उल्लेख है तथा १५ वे खोजविवरण के पृ ४७ पर लिखा है—"इसी विषय का दूसरा ग्रन्थ 'वैद्यकसारसग्रह' और मिला है, जो इन्ही का रचा जान पडता है।

१. कवि विनोद—यह ग्रन्थ रोगो के निदान और औषधि के सम्बन्ध मे लिखा गया है। इसमे दो खड हैं। प्रथम मे कल्पनाए है तथा दूसरे मे चिकित्सा दी गई है—

"गुरू प्रसाद भाषा करू, समझ सकै सब कोई।
औषद रोग निदान कछु, कवि विनोद यह होई ॥५॥"

यह राजस्थानी भाषा मे पद्यमय रचना है। इसकी रचना लाहौर मे ("कीयो ग्रन्थ लाहोर मइ") स० १७४५ मे की गयी थी—

"सवत सतरहसइ समई, पैतालै वैशाख।
शुक्ल पक्ष पचम दिनइ, सोमवार यह भाख ॥६॥
और ग्रन्थ सब मथन करि, भाषा कहौ बखान।
काढा औषधि, चूर्ण, गुटी, करै प्रगट मतिमान ।१०।

२ कवि प्रमोद—यह मुनिमान का दूसरा वैद्यक ग्रन्थ है। यह बहुत बडी कृत्ति है। (कुल पद्य संख्या २९४४)। इसमे नौ उद्देश (अध्याय) है।

इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७४६ है—
"सवत सतर छयालशुभ, कातिक सुदि तिथि दोज।
कविप्रमोद रस नाम यह, सर्व ग्रथनि कौ खोज ।१२॥"

यह स्वय कवि द्वारा इसी नाम से सस्कृत मे प्रणीत ग्रन्थ का पद्यमय भाषानुवाद है—

"सस्कृत बानी कविनि की, मूढ न समझै कोई।
तातै भाषा सुगमकरि, रसना सुललित होइ ॥१३॥"

यह एक सग्रह ग्रन्थ है। वाग्भट, सुश्रुत, चरक, आत्रेय, खरनाद, भेड के ग्रन्थो का सार लेकर

१. इस ग्रंथ के अंत मे लिखा है—
"संवत चद[1] समुद्र[7] सिवाक्ष[3] शशी[1] युन वर्ष विचारई तिसी।
चैत सिता तसु छट्टि गिरापति मान रचियु संयोगबत्तीसी ॥ ३२ ॥
अमरचद मुनि आग्रहै समर हुइ सरसति।
सयम बत्तीसी रची आछी आनि उकति ॥ ४२ ॥
—इति श्रीमान् मानमुनिना विरचिताया चतुर्थोन्माद सवत् १७६३ वर्षे मति द्वितीय आसाढ सुदि २ दिने वारे शनिस्यरे (वि. ध.)।

तातै भाषा करत है, श्वेतावर समरथ ।
सुगम अरथ सरलता, मूरख जन के अरथ ।।६।।

ग्रन्थ के अन्त मे समरथ ने अपने गुरु का नाम मतिरत्न लिखा है—

"श्रीमतिरतन गुरु परसाद, भाषा सरस करी अति साद ।"

इस ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७६४ है—

"सवत सतरेसय चौसठि समै, १७६७ (?)
फागुन मास सब जन कौ रमै ।
पाचमि तिथि अरु आदित्यवर, रच्यौ ग्रन्थ दरै मझारि ।।"

ग्रन्थ का प्रणयन देरा नामक स्थान पर किया गया था ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे उमासहित शंकर की वन्दना की गई है । यह रसविद्या सम्बन्धी ग्रन्थ है ।

"रसविद्या मे निपुण जु होइ, जस कीरति पाये वहु लोइ ।
जहा तहा सुख पावै सही, सो रसविद्या प्रगटावै सही ।।४४।।"

इस ग्रन्थ मे कुल १० अध्याय है जिनके नाम और उनकी पद्य सख्या इस प्रकार है —

१	रसशोधन कथन	प्रथमोऽध्याय	पद्य ३७
२	रसजारणमारणादि कथन	द्वितीयऽध्याय	,, ६८
३.	उपरसशोधनमारणसत्वनिपातमाणिक्य सोधन मारणकथन	तृतीयोऽध्याय	,, १०
४	विषलक्षण, विषसेवन, विषपरिहार कथन	चतुर्थोऽध्याय	,, ३२
५.	स्वर्णादि धातुशोधनमारण कथन	पचमोऽध्याय	,, ८४
६.	रसमारण कथन	षष्ठोऽध्याय	,, २६४
७.	वीर्यरोधनाधिकार	सप्तमोऽध्याय	,, २२
८	? नाम	अध्याय	(अप्राप्य)
९	मिश्रकाध्याय	नवम	पद्य ७९
१०	छायापुरष लक्षणकथन	दशमोऽध्याय	,, ४४

विनयमेरुगणि (१८ वी शती)—

यह खरतरगच्छीय जिनचन्द की परम्परा मे वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृ-पाठक थे । इनका काल वि० १८ वी शती प्रमाणित होता है । इनके शिष्य मुनिमानजी के राजस्थानी भाषा मे लिखे हुए कई वैद्यकग्रन्थ (कविप्रमोद, कविविनोद आदि) मिलते हैं (जिनका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है) । ये बीकानेर क्षेत्र के निवासी थे ।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ "विद्वन्मुखमण्डनसार-सग्रह" मिलता है । यह योगसग्रह है । ग्रन्थ की प्रति अपूर्ण रूप मे प्राप्त हुई है । जिसमे मस्तकरोगाधिकार तक ही रोगो की चिकित्सा दी गई है । रोगो की चिकित्सा इसका प्रतिपाद्य विषय है । यह ग्रन्थ सस्कृत मे है ।

आत्रेय, धन्वन्तरि, सुश्रुत, नासत्य (अश्विनी कुमार), हारीत, माधव, सुषेण, दामोदर, वाग्भट, दस्त्र, (?), स्वयम्भू, चरक आदि के ग्रन्थो का अवलोकन कर यह ग्रन्थ रचा गया था।

इसका निर्माण जयपुर मे किया गया था। उस समय वहा महाराजा जयसिंह का शासन था—

"श्रीजयपुरवरे रम्ये राज्ये जयसिंहभूपते ।
सपूर्णो हि कृतो ग्रन्थ पथ्यलंघननिर्णय ॥"

ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७९२ माघसुदी १ वृहस्पतिवार को लिखा है

द्विनन्दमुनिभूवर्षे माघमासे शुभे दले ।
२ ६ ७ १
शुक्ले प्रतिपदाया च भृगोश्चैव तु वासरे ॥१०॥"

पुन इस ग्रन्थ का साशोधन शकर नामक ब्राह्मण ने स १८८५ मे किया था—

५ ८ १ ८
शरभे भेन्दुभाग्वर्षे भाद्रे मास्यमिते दले ।
शकरस्य तिथौ चन्द्रे पथ्यलघननिर्णय ॥

शकराख्येण विप्रेण शोधितो वुध्यता वुधै ।
यह लघन और पथ्यापथ्य सम्वन्धी ग्रन्थ है। अर्थात् किस किस रोगो मे कितने दिनो तक लघन (अनाहार) किया जाय और किन-किन रोगो मे क्या पथ्य और अपथ्य होता है। ये पथ्य भी देशज है। इसमे विशेषत मारू (मारवाड) और जागल आदि राजस्थान के पश्चिमी भागो की जलवायु को ध्यान मे रखते हुए पथ्य की व्यवस्था की गई है। आयुर्वेदीय चिकित्सा मे पथ्य एव लघन का महत्व औषधि से भी अधिक स्वीकार किया गया है।

इस ग्रन्थ से लेखक का अच्छे सस्कृत ज्ञान का परिचय मिलता है।

२ **बालतन्त्र भाषावचनिका**—यह लेखक की राजस्थानी गद्य मे लिखी हुई रचना है। अहिच्छत्रानगर (वर्तमान नागौर) के निवासी, रामचन्द्र के पौत्र और महिधर के पुत्र कल्याणदास ने सस्कृत मे 'बालतन्त्र' की रचना की थी। इसकी भाषाटीका दीपचन्द्र वाचक ने की थी—

"तिसकी भाषा खरतरगच्छ माहि जनि वाचक पदवीधारक दीपचन्द इसै नामैं।"

इस टीका का नाम लेखक ने 'बालतत्र' भाषा-वाचनिका' लिखा है। इसमे बाल चिकित्सा का वर्णन कुल १५ पटलो मे हुआ है।

पीताम्बर स० (१७५६)—

यह विजयगच्छीय आचार्य विनय सागर सूरि का शिष्य थे। विनयसागर सूरि अच्छे उपदेशक और रससिद्ध कवि थे। महाराणा राजसिह के समय विद्यमान थे। इनका विशेष परिचय नही मिलता। इनके अनेक प्रयोग मिलते है और इनके लिए "वैद्यविद्याविशारद" के विरूद्ध प्रयुक्त हुए है। इससे इनका अच्छा चिकित्सक होना ज्ञात होता है। महाराणा राजसिह का काल मेवाड के सास्कृतिक इतिहास मे स्वर्णकाल माना जाता है और इसमे साहित्य, सगीत, शिल्प, और चित्रकला का विशिष्ट विकास हुआ। स १७२५ मे जब औरगजेब ने मेवाड पर आक्रमण किया तो मेवाड को दुर्दिन देखने पडे।

पीताम्बर का एक गुटका मिलता है, जिसका नाम 'आयुर्वेदसारसग्रह' है। परीक्षित प्रयोगो को लौकिक भाषा मे प्रस्तुत करना इस सकलन का प्रयोजन है। यह ग्रन्थ रोगानुसार चिकित्साप्रयोगो का सकलन है। इसमे शताब्दियो से अनेक कुशल अनुभवी आचार्यो द्वारा अनुभूत प्रयोगो का सग्रह किया गया

लिखी है। स १८९९ के लगभग इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी पादुका स १९०२ मे स्थापित की गई बीकानेर मे विद्यमान है। इनका प्रसिद्ध नाम 'नारायणजी बाबा' था। सदासुख, हरसुख आदि इनके शिष्य थे।

इनका कामशास्त्र विषयक—"कामोद्दीपनग्रन्थ' मिलता है। यह राजस्थानी मे पद्यबद्ध है। इसका रचनाकाल स १८५६ वैशाख शुक्ल ३, जयपुर है। उस समय जयपुर मे माधवसिंह का राज्य-काल था।

ग्रन्थ के अन्त मे लिखा है।

"प्रतिपो श्री परताप हरि, माधवेस नृपनन्द।
घर जवू फुनि मेरू गिर, धूतारी रविचन्द ॥१७२
रस सेर अरु गज इदु फुनि, माधव मास उदार।
शुकल तीज तिथ दिन, जयपुर नगर मझार ॥१७३
बड खरतर जिनलाभ के, शिष्य रत्न गणि राज।
ज्ञानसार मुनि मदमति, आग्रह प्रेरण काज
॥१७४॥
ग्रन्थ करी वह रस भरीं, वरनन मदन अखड।
जसु माधुरि तातै जगति, खंड खड भई खड
॥९७५॥
सुधरनि जन मत रस दियै, रस भोगनि सहकार
मदन उदीपन ग्रन्थ यह, रच्यौ रुच्यौ श्रीकार
॥९७६
जग करतार है, यह कवि वचन विलास।
पैया मति को खड है, है हम ताके दास ॥१७७

इससे प्रगट है कि माधवसिंह के पुत्र प्रतापसिंह राजा थे और उन पर इनका अच्छा प्रभाव था।

इनके राजस्थानी मे अनेक काव्य ग्रन्थ, स्तवन आदि मिलते है। इनके लिए देखिए मो० द० देसाई कृत 'जैन गुर्जर कविओ, भाग ३, खड १, पृ० २६०–२७४]।

चैनसुखयति—(स. १८२०)

यह खरतरगच्छीय जिनदत्तसूरि शाखा के लाभनिधान के शिष्य थे। इनका निवासस्थान फतहपुर (सीकर) था। इनके शिष्य चिमनीरामजी ने फतहपुर मे स. १८६८ मे इनकी छतरी (समाधि) बनाई थी। फतहपुर (शेखावाटी) मे इनकी परम्परा के यति आज भी विद्यमान है। ये अच्छे वैद्य थे।

इनके वैद्यक पर दो ग्रंथ राजस्थानी मे निम्न है—'सतश्लोकी भाषा टीका' और 'वैद्य जीवन टना'।

सतश्लोकी भाषा टीका यह बोपदेवकृत 'शत-श्लोकी' की गद्य (राजस्थानी) मे भाषा टीका है। यह रचना महेश की आज्ञा से चैनसुख यति ने रतनचद्र के लिए किया था। इसका रचनाकाल स. १८२० भाद्रपद कृष्णा १२ शनिवार है, जैसाकि अतिम पद्यो से ज्ञात होता है—

"सवत अठारे वीस के,
मास भाद्रपद जाण।
कृष्णपक्ष तिथ द्वादशी,
वार शनिश्चर मान ॥ १ ॥
टीका करी सुधारि कै,
चैनसुख कविराय।
आज्ञा पाय महेस की,
रतनचद के भाय ॥ २ ॥
(सतश्लोकी भाषा टीका)।

उल्लेख लेखक ने किया है। वाग्भट, माधव निदान भावप्रकाश, योगचिंतामणि आदि ग्र थो की सहायता ली गई है। ग्र थ के अन्त मे लिखा है—

"रोगी रोग निदान करि,
पीछे औषध देय।
वाकी निकई जातिकै
ताकी विधि करैय ॥
जाति चिकित्सा रोग की
वात पित कफ आदि।
उलटि लपटि करि जानियै,
सर्व रोग की लाधी ॥
लक्ष्मीप्रकाशज ग्र थ है
पूर्व ग्र थ की साख।
माधवग्र थ निदान कृत
भावप्रकाश की साख ॥
योगचिंतामणि उपाय करि,
चरक वागमट जान।
शारगधर इत्यादि सब
एही उपाय वखान ॥
साको अठारा मे कह्यौ
उपरि दोय बधाय (शके १८०२)
ता दिन मे वौ ग्र थ है
इहविधि कही जिताय ॥"

उपसंहार

राजस्थान मे आयुर्वेदीय हस्तलिखित ग्र थो के सर्वेक्षण से मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ कि मध्ययुग मे आयुर्वेद विषयक ग्र थो की रचना सबसे अधिक, अन्य प्रातो की अपेक्षा, राजस्थान मे हुई। उसमे भी राजस्थान के जैन यति-मुनियो का योगदान सर्वाधिक है। सैकडो-सहस्त्रो हस्तलिखित वैद्यक ग्र थ जैन ज्ञान भडारो मे भरे पडे है। अधिकाश तो अज्ञात, अप्रकाशित और सर्वथा नवीन है। उनका विस्तृत खोज विवरण तैयार करने का प्रयास किया जा रहा है। इन ग्र थो का प्रकाशन भी आवश्यक है। प्रस्तुत शोध निबध मे कतिपय जैन ग्र थकारो और उनकी वैद्यककृत्तियो का परिचय दिया गया है।

कथासार

पंचपरमेष्ठी, सरस्वती तथा जिनेन्द्रो की वन्दना कर राजा श्रेणिक और गणधार गौतम के माध्यम से 'श्रुत पंचमी व्रत' के माहात्म्य-कथन के द्वारा कवि ने भविष्यदत्त का उपाख्यान वर्णित किया है।

धनपति नामक नगर सेठ की पत्नी कमलश्री से भविष्यदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्वभव के दोपवश उसका प्रेम कमलश्री से हठ गया और उसने एक दूसरी स्त्री सरूपा से विवाह कर लिया। इसी नयी पत्नी से सेठ को बन्धुदत्त नामक पुत्र हुआ। तरुण होने पर बन्धुदत्त व्यवसाय के लिए द्वीपान्तर जानेको जब उद्यत हुआ तब माता के मना करने पर भी भाई पर विश्वास कर भष्यिदत्त उसके साथ लग गया। नौकाएँ तिलक द्वीप मे जा लगी। तट-प्रदेश की रमणीयता देखने के लिए भविष्यदत्त जब नौका से उतर कर कुछ देर के लिए बाहर गया तब बन्धुदत्त ने नौकाए खोल दी और वेचारा भविष्यदत्त उस द्वीप मे अकेले पड गया। उस द्वीप मे उसे एक जनशून्य नगरी मिली। वहा के विशाल प्रासादो मे सुन्दर-सुन्दर पर्यंक विछे थे किन्तु उन पर सोने वाला कोई नही था। गवाक्ष खुले थे किन्तु किसी का पता नही था। वहा उसे सौन्दर्य की प्रभा विकीर्ण करती हुई एक कन्या मिली जो असनवेग नामक दानवराज की पालिता कन्या थी। दानवराज ने पूर्भभव के स्नेहवश भविष्यदत्त के साथ उस कन्या का विवाह कर दिया। भविष्यदत्त जब घर लौटने लगा तब समुद्रतट पर उसे बन्धुदत्त मिला जिसकी सारी सम्पत्ति समुद्री दस्युओ ने लूट ली थी। बन्धुदत्त उसके पैरो पर गिर पडा और अपने कृत्यो के लिए उससे क्षमा मागी। उदार हृदय भविष्यदत्त ने उसे क्षमा कर दिया। अचानक भविष्यदत्त की पत्नी को स्मरण हुआ कि उसकी नागमुद्रिका घर पर ही छूट गयी है। भविष्यदत्त शीघ्रता से उसे लाने चला। बन्धुदत्त के हृदय का का वैर-भाव पुन जग पडा और वह उसकी पत्नी और सम्पत्ति को लेकर भाग खडा हुआ। उसने उसकी पत्नी के शील को भी खण्डित करना चाहा किन्तु जलदेवी की कृपा से उसके शील की रक्षा हुई। घर आकर बन्धुदत्त ने उसे अपनी पत्नी बताया और उसके साथ अपने विवाह का आयोजन करने लगा। इस बीच भविष्यदत्त की माता द्वारा सपन्न श्रुतपचमी व्रत के माहात्म्य के कारण एक देव प्रगट हुआ जो पूर्वजन्म मे भविष्यदत्त का मित्र था। उसने भविष्यदत्त को उसके घर पहु चा दिया। भविष्यदत्त द्वारा जब सारे रहस्यो का उद्घाटन हुआ तो राजा ने बन्धुदत्त को राज्य से निष्कासित कर दिया और उसके गुणो से प्रसन्न होकर अपनी दो पुत्रियो का विवाह भी उससे कर देने की घोषणा की। राज्य से निष्कासित हो बन्धुदत्त ने पोदनपुर के राजा को यह कहकर आक्रमण के लिए उकसाया कि तिलकद्वीप की कन्या राजाओ के उपयुक्त है, वणिक-पुत्र के योग्य नही। युद्ध मे भविष्यदत्त द्वारा पोदनपुर का राजा बन्दी बना लिया गया। उसके अपने राजा ने उसके प्रति कृतज्ञता व्यजित की और उसे आधा राज्य दे दिया।

कथा के दूसरे खण्ड मे भविष्यदत्त के पूर्वभव का वृतान्त प्रस्तुत किया गया है। अपने पूर्वजन्म की बाते जानकर भविष्यदत्त के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह दुष्कर पचमहाव्रतो का अनुष्ठान कर अन्त मे केवल ज्ञान प्राप्त करता है।

कथास्रोत एव कथानक-संघटन—

कवि वनवारी लाल के "भविसदत्त चरित" का मूलाधार धनपाल का "भविसदत्त कहा" नामक

रहती है। यही कारण है कि प्राय मभी आचार्यो ने महाकाव्य मे वस्तु वर्णन के महत्व का निर्घोष किया हे। 'भविसदत्त चरित' एक महाकाव्य का परिवेश धारण किए हुए है। अत यह स्वाभाविक है कि इसमे नगर, वन, पर्वत, सरिता तथा प्रकृति के अन्य दृश्यो का समावेश हो। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही कवि ने भगवान महावीर के समवशरण क्षेत्र का भव्य चित्रण किया हे। समुद्र-संतरण के प्रसंग मे समुद्र का जो स्वभावोक्ति पूर्ण चित्रण है उसमे समुद्र की विस्तीर्णता, लहरो की उच्छृखलता तथा समुद्र मे निवास करने वाले प्राणियो की भयावहता मूर्तिमान हो उठी है। इसी प्रकार तिलक द्वीप के भयावह वन-प्रदेश मे एकाकी घूमते हुए भविष्यदत्त की मानसिक विक्षिप्तावस्था का बडा कारुणिक वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रसग मे उसने वन की भयकरता का भी बडा रोमाचकारी रूप उपस्थित किया है—

देखा वन अति गहर गम्भीर।
तिसका कोई न पावै तीर।।
भरमैं चित्त भयावण होय।
तह मानुस दीसै नहि कोय।।
गज हस्ती के जूह फिरंत।
माते मद जु कपोल वहंत।।
घंम्या सूर्य जब रजनी भई।
दृष्टि न पसरै चिंता थई।।
अजनगिरि अन्धियार।
ऐसा देखा वनहि मझार।।
हाथो हाथ न दीसै कोय।
वन मे कुमर भयारणक होय।।
चितवै कुमर डरै मन माही।
मरणा आया इस वन माही।।
चतुर्थ सधि, छन्द सख्या २३४—२३५

तिलक द्वीप के जनशून्य नगर का वर्णन पढने पर ऐसा लगता है मानो पाठक लोक-कथाओ की उस नगरी मे पहुंच गया हो जहा दानव के भय से कोई नही रहता—

सुपना रयण जो देखे कोय।
ऐसा परगट देखा सोय।।
ठौर ठौर सो भरे भण्डार।
कहाँ गये सो विलसणहार।।४।२६१

रस-भाव-चित्रण —

महाकव्य मात्र काव्य रूप नही है अपितु वह जीवन का प्रतिविम्ब है। जीवन जितने ही महत्तम एव विस्तृत रूप मे महाकाव्य का आधार बनता है उसका प्रासाद उतना ही भव्य और दृढ होता है। रस-भाव योजना महाकवि की चेतना के इसी फलक का मूर्त्त रूप है।

शृंगार रस—

कवि बनवारीलाल ने प्रेम के विस्तृत पट पर सवेग एव वियोग के मार्मिक चित्रो का अकन किया है। कमलश्री और धनपाल के शारीरिक मिलन का मूर्त्तरूप उपस्थित करते हुए कवि कहता है—

सुन्दरि उठाय उछंगतु लई।
कस्तूरि परिमल अग सु दई।।
मधुर बचन कर सीचीवाल।
सेज आम्टा कुवर बिसाल।।
भोगै भोग रहै जु आवास।
रति मन्दिर सो करै विलास।।
बहुतै दिन की बीछुरी, सुन्दरि सही कुमार।
अति हर्षित मन ऊपजा, बाढी रति जु अपार।।
१२।८७३-७५

करिवि पयाणउ अनत महाभट्ट चलिउ ।।
समु हुज्भ षड् वालि भगु लाज्भ लियउ ।।
फटो जलहर कु भधार तृणि दीय ।।
ले आइ तह अग्नि धूम सजुगतिडय ।।

१३।१०३८

सेना प्रयाण के बाद युद्ध की वास्तविक स्थिति आती है। युद्ध भी दो प्रकार के होते है —

एक सामूहिक और दूसरा व्यक्तिगत। सामूहिक युद्ध-वर्णन मे समास शैली का आश्रय लेना पडता है। इसके लिए भाषा मे प्रवाह-शक्ति भी अपेक्षित होती है क्योकि युद्ध वडी त्वरित गति से घटित होता है। क्षिप्रगति से घटने वाली घटनाओ के लिए जवतक वैसे ही वहते शब्द नही दिये जाते, तब तक युद्ध का चित्र नही खीचा जा सकता। वनवारी लाल के युद्ध-वर्णन मे रासो ग्रन्थो की ताजगी है—

तव सुभटो काढे करवाल,
वरसे वाण मेघ अस राल ।।
भिडहि वार कर असिवर लेय,
चढे तुरंग मदान जु देय ।।
सेना जूझ पलाई सोय,
रण की भूमि भयानक होय ।।
दीनो दल सो खरे पखान,
दीनो करैं सिंह उठ्ठान ।।

१४।११०३-५

व्यक्तिगत युद्ध से दो योद्धाओ, विशेषकर नायक-प्रतिनायक के युद्ध का वर्णन कवि करता है। नायक और प्रतिनायक शक्ति मे जितना ही अधिक तुल्य होते है, रस-संचार मे उतनी ही अधिक तीव्रता आती है। इसी प्रसग मे गर्वोक्तिया भी आती हे, जो वीर-भाव को उत्तेजना देती हैं। भविष्यदत्त और प्रतिद्वन्द्वी राजा के व्यक्तिगत युद्ध का दृश्य वडा लोमहर्षक है—

दोनो मुहु मिल हये जु कुमार,
दीनो दती लडै इकसार ।।
उछल गयद तै भवसि कुमार,
छती अम्बारी वैठा सार ।।
जह वैठा पोदनपुर राय,
भविसदत्त बाधा गल पाय ।।
हाहाकार मचा रणहि मझार,
सुभटन डारि दिए हथियार ।। ८।११२३-२५

शान्तरस

शान्तरस का स्थायी भाव 'निर्वेद' अथवा 'शम' है। "काव्य प्रकाश,, के अनुसार तत्वज्ञान से जो निर्वेद उत्पन्न होता है, वही शान्त का स्थायी भाव है। इष्ट नाश या अनिष्ट की प्राप्ति के कारण 'निर्वेद' होने पर वह सचारी भाव होगा, स्थायी नही।[४] 'भविसदत्त चरित, मे नायक को जो निर्वेद उत्पन्न हुआ है, वह तत्वज्ञान की उत्पत्ति के कारण। अत इसमे शान्तरस की पूर्ण स्थिति है। भविष्यदत्त की अनुभूति है —

भवसमुद्र अतहि नहि होय, ग्यान दृष्टि जो देखै जोय ।।
आवै जाय बहुत दु ख सहै, जनम मरण तनै दुख लहै ।।
किनहि पुत्र किनहि घरवास, किसका स्वामी किसका दास ।।
दिवस चार का मेला होय, छोडे जीव जाय पर लोय ।।

२१।१५३६–१५३८

---

४ निर्वेदस्थायिभावोऽस्तिशान्तोऽपि नवमो रस. ।।४।३५ ।

अपभ्ंश की घ, थ, ध, फ और भ के स्थान पर "ह" आदेश होने की प्रवृत्ति भी उपलब्ध है —
साहण—साधन (६३), गहीर—गम्भीर (६८), विषहर-विषधर (१८८)

'ण' कार की प्रवृत्ति का बाहुल्य इसमे है जो अपभ्ंश के अस्तित्व का सूचक है —

सुण्या, भण्या (२०), जणाई (२४,२७), जम्पाण (३०), सुणहु (४६), विणा (६६) परणाई (६९), पठण (८१), पढण (१२३), होणा(३४५), आपणि (५६)

मध्य और अन्त्य क,त,च,द का लोप उनके स्थान पर स्वर शेष तथा य श्रुति प्राप्त होने के निम्नलिखित उदाहरण उपलब्ध होते है —

रयण—रत्न (३४), सुरयण—सुरल (५१) आयसु—आदेश (१३०), परियण—परिजन (३२०), गयदु—गजेन्द्र (११२४)

कुछ शब्द अपभ्रंश के ज्यो के त्यो पाये जाते है लेकिन इनमे 'उकार' प्रवृत्ति का प्रयोग नही :—

पुब्ब—पूर्व (२८८), समप्पर—समर्पय (५४९), सुक्क—सुख (७०), वसन्दर—वैश्वानर (८८) छमच्छर—सवत्सर (१२२)

ब्रजभाषा के ठेठ शब्द भी इसमे उपलब्ध होते है, यद्यपि इन पर राजस्थानी का भी प्रभाव है। जैसे,—

विगसन्त (२६), फुनि (८४), सगले (२०८),वाखरू (१६०), फिराई (२२६), वेढो (४९) तद्भव शब्दो का बाहुल्य भी इसमे है —

थणहर (७८), लच्छी (१३२), समुद्र (१९६), गाठ (१९१), अच्छै—आसीत (१५७), जोवन (२३०) आदि।

सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग भी इसमे यथेष्ट हुआ है —

कचन (१६६६), ज्ञान (१६६७), इन्द्र (१६१२), कुण्डल (१६०२), सम्पत्ति(१४९१), तिर्यंच(१४५३)

इस प्रकार भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस चरित ग्रन्थ का विशेष महत्व है।

● ● ●

परम्परा का निर्माण करते हैं। ये कवि मूलरूप से भक्त कवि है और भारतीय चेतना मे वैष्णवभक्ति आन्दोलन के साथ उनका सम्पर्क बना हुआ हे परन्तु ऐतिहासिक भूमिका पर उनकी एक स्वतन्त्र सामाजिक और सास्कृतिक स्थिति है। रामानन्द के बाद कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, रैदास, धर्मदास, चरणदास, मलूकदास, सहजोबाई, दयाबाई आदि निर्गुणमार्गी सन्तो की एक शृ खलाबद्ध परम्परा पाते है।

भारतीय सस्कृति की परम्परा की अति प्राचीनता का बडा भारी प्रमाण इसी बात मे है कि उसमे दार्शनिक दृष्टि की परम्परा अति प्राचीन काल से ही दिखलाई पडती है। वास्तव मे उसका प्रारम्भ कब हुआ इसका काल निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। स्व. प. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य द्वारा रचित जैन दर्शन नामक ग्रन्थ की भूमिका मे डा मंगलदेव शास्त्री ने अपना मत व्यक्त किया है कि जैन दर्शन की सारी दार्शनिक दृष्टि, वैदिक दार्शनिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही नही भिन्न भी है, इसमे किसी को सदेह नही हो सकता। उसका विकास प्राग्वैदिक परम्परा से स्वतन्त्र रूप से हुआ है। उसकी सादी दृष्टि से तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दो से इस बात की पुष्टि होती है। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा. राधाकृष्णन ने भी जैन धर्म की प्राचीनता स्वीकार की है। निर्गुण मार्गी ज्ञानाश्रयी कवियो की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओ के ऊपर भारतीय परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। जहा एक ओर निर्गुण मार्ग की मान्यता मे उपनिषदो की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी मान्यता का स्पष्ट निर्देश है तो दूसरी ओर सन्तो की साखियो के अ गो के वर्णन मे कई जगह जैनधर्म की झलक भी बोधगम्य है। सन्त सत्सगी थे तथा उनकी दृष्टि अहिंसा मूलक थी। हो सकता है कि इस कारण से कि उन्होने जैन साधु-सन्तो की सत्संगति का लाभ लिया हो। सन्त सत्यान्वेषी थे, इसलिए वे जीवन भर सत्य की खोज तथा असत्य के खडन मे लगे रहे। सन्तो का ब्राह्यरूप सामाजिक मिथ्याडम्बरो के प्रति जितना कठोर था, अन्दर से उनका भक्त हृदय उतना ही कोमल तथा प्राणिमात्र के प्रति दयावान था। उनमे सारग्राही प्रवृत्ति थी, इसलिए उन्होने सभी मतो के सार को ग्रहण किया उन्होने अपने व्यक्तिगतजीवन मे धर्म को जीवन से पृथक् नही माना। अब हम सन्तो की वाणियो की कुछ उन प्रमुख बातो को लेकर चलेंगे जिन पर कि जैनत्व का प्रभाव पडा है।

चितावणी—

चितावणी शब्द मे पर कल्याण का भाव निहित है इसलिए प्रत्येक सन्त ने कुछ न कुछ चेतावनी अवश्य दी है। उन्होने सासारिक आकर्षण तथा क्षण भगुरता से सतर्क रहने का उपदेश दिया है। कबीर कहते हैं कि थोडे से जीवन के लिए बडे साज-बाज जुटाये जाते हैं किन्तु कठोर काल के द्वारा क्षण भर मे नष्ट कर दिये जाते हैं। काल, राजा-रंक का भेद नहीं करता। सौन्दर्य का गर्व करना भी व्यर्थ है—

> कबीर थोडा जीवणा,
> माडे बहुत मण्डाण।
> सबही ऊभामेल्हि गया,
> राव-रक सुल्तान॥
> कबीर कहा गरवियो,
> देहा देखि सुरग।
> बीछडिया मिलिबौ नही,
> ज्यु काचली भुवग॥
> (कबीर ग्रन्थावली, पृ० २१)

नी की
है।
रने
े

संत धरनीदास कहते है कि मासाहारी व्यक्ति को ज्ञान की बाते करना व्यर्थ है—

मासाहारी जीयरा, सो पुनि कथै गियान।
नागी ह्वै घूघट करै, धरनि देख लजान।।
(धरनीदास, सतवानी सग्रह १, पृष्ठ ११६)

यहाँ पर धरनीदास का यही मत ज्ञात होता साधु पुरुष मासाहारी या हिंसक नही हो सकता कि पहले स्वय का चरित्र निर्माण करके ही का उपदेश देना सार्थक है।

हिंसा की भावना मे समाज के सुख और ो भावना छिपी हुई है। परस्पर बीजारोपण अहिंसा की भावना सुलभ है, दूसरो को र दुखी होना, सुखी देखकर सुखी होना, प्रेम का एक मात्र साधन है। पारस्परिक हार ही शांति उत्पन्न कर सकता है। ने धर्म के नाम पर देवी-देवताओ के दान के रूप मे हिंसा होती है। अनेक ाक्य रचकर उस हिंसा की पुष्टि की ीर उसे धर्म कहा जाता है। ऐसी हिंसा वेकी पुरुषो ने त्याज्य बताया है क्योकि के द्वारा केवल प्राणी का ही घात नही क धर्म के नाम पर समाज के व्यक्तियो ष्ट किया जाता है।

अधिकाश उन जातियो मे जन्मे थे हसा कार्य बुरा नही माना जाता था। ा मे भी हिंसा बढ़ रही थी। इन सन्तो दृष्टियो से विचार किया कि हिंसक ो के साथ प्रभु भक्ति और ज्ञान का ताल- ो बैठ सकता इसीलिए ही उन्होने बडी गत भाषा मे हिंसा त्याग का उपदेश दिया हसक होकर अपनी भावनाओ को सात्विक ा आ... किया। इससे यही निष्कर्ष

दादू का मत है कि जो नर पर प्राणी की घात करता है वह निश्चय ही नरक जाता है। मास का आहार करने वाला, मद्य का पान करने वाला और इन्द्रियजन्य विषयो मे लिप्त रहने वाला व्यक्ति निर्दयी होता है क्योकि वह आत्म स्वाभाव के विपरीत कार्य करता है व्यक्ति स्व के अहकार को मारता नही और दूसरे प्राणियो को मारता है पर इस प्रकार की विपरीत क्रिया से ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?—

दादू कोई काहु जीव की करै आतमघात।
साच कहू ससा नही, सो प्राणी दो जगि जात ।।

मास अहारी मदु पिवै, विपय विकारी सोई।
दादू आत्मराम बिन, दया कहा ते होई ।।

आपस को मारे नही, पर को मारन जाई।
दादू आपै मारे विना, कैसे मिले खुदाई ।।

बाबा मलूकदास कहते है कि किसी को पीडा देने मे क्या लाभ है ? यह मूर्ख प्राणी जानता नही है कि सभी जीवो को एक समान पीडा होती है। जरा सा काटा चुभने मे कितनी पीडा होती है फिर तो कई इतने दुष्ट होते है कि दूसरे प्राणियो का गला काटकर खा जाते है—

पीर सबन की एक सी,
मूरख जानत नाही।
काटा चूभै पीर है,
गला काट कोई खाही ।।

आगे हरी डाली तोडने मे भी मलूकदास ने हिंसा मानी है—

हरी डारि न तोडिए, लागै छूरा वान।
दास मलूका यो कहै अपना सा जिव जान ।।
(सतवाणी १, पृष्ठ १०४)

सत धरनीदास कहते है कि मासाहारी व्यक्ति को ज्ञान की बातें करना व्यर्थ है—

मासाहारी जीयरा, सो पुनि कथै गियान।
नागी ह्वै घूघट करै, धरनि देख लजान ।।
(धरनीदास, सतवानी सग्रह १, पृष्ठ ११६)

यहाँ पर धरनीदास का यही मत ज्ञात होता है साधु पुरुष मासाहारी या हिंसक नही हो सकता क्योकि पहले स्वय का चरित्र निर्माण करके ही ज्ञान का उपदेश देना सार्थक है।

अहिंसा की भावना मे समाज के सुख और शाति की भावना छिपी हुई हैं। परस्पर बीजारोपण के द्वारा अहिंसा की भावना सुलभ है, दूसरो को दुखी देखकर दुखी होना, सुखी देखकर सुखी होना, पारस्परिक प्रेम का एक मात्र साधन है। पारस्परिक अहिंसा व्यवहार ही शाति उत्पन्न कर सकता है। हमारे देश मे धर्म के नाम पर देवी-देवताओ के सामने बलिदान के रूप मे हिंसा होती है। अनेक मनगढंत वाक्य रचकर उस हिंसा की पुष्टि की जाती है और उसे धर्म कहा जाता है। ऐसी हिंसा को ही विवेकी पुरुषो ने त्याज्य बताया है क्योकि इस हिंसा के द्वारा केवल प्राणी का ही घात नही होता बल्कि धर्म के नाम पर समाज के व्यक्तियो को पथभ्रष्ट किया जाता है।

सत अधिकाश उन जातियो मे जन्मे थे जिनमे हिंसा कार्य बुरा नही माना जाता था। मध्य युग मे भी हिंसा बढ रही थी। इन सन्तो ने सभी दृष्टियो से विचार किया कि हिंसक भावनाओ के साथ प्रभु भक्ति और ज्ञान का ताल-मेल नही बैठ सकता इसीलिए ही उन्होंने बडी युक्ति सगत भाषा मे हिंसा त्याग का उपदेश दिया और अहिंसक होकर अपनी भावनाओ को सात्विक बनाने का आग्रह किया। इससे यही निष्कर्ष

२९

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण में महावीर की प्रेरणाएँ

□डा० नरेन्द्र भानावत

राष्ट्रीय चरित्र की नीव व्यक्ति-चरित्र

व्यक्ति राष्ट्र की मूल इकाई है। सुसगठित शक्ति सम्पन्न व्यक्ति-समुदाय मे ही राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीय चरित्र का स्वरूप इस व्यक्ति-समुदाय के आचार-विचार, कार्य-कलाप, रीती-रिवाज और सामूहिक आदर्शो तथा लोक सम्मत परपराओ से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से राष्ट्रीय चरित्र की नीव व्यक्ति चरित्र जितनी है। व्यक्ति-चरित्र जितना पवित्र, ईमानदार और कर्त्तव्यनिष्ठ होगा, राष्ट्रीय चरित्र उतना ही दृढ और प्रशस्त होगा।

आत्म निर्भरता की शिक्षा·

चरित्र निर्माण की, चाहे वह व्यक्ति-चरित्र हो चाहे राष्ट्रीय चरित्र, आवश्यक शर्त है-स्वतन्त्रचेता अस्तित्व की पहचान, अदम्य जीविषा और अपने पुरुषार्थ के वल पर निरन्तर आगे वढते रहने की दृढ-सकल्प शक्ति। आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने व्यक्ति के इसी आत्म स्वतान्त्र्य भाव को जागृत किया। उन्होने कहा है-आत्मन्! तू ही अपने भाग्य का निर्माता और सुख-दुख का कर्त्ता है। सत्प्रवृत आत्मा ही तेरा मित्र है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही तेरा शत्रु है। तू अपने विकारो को जीत कर स्वय परमात्मा वन सकता है। इस प्रकार महावीर ने आत्म-निर्भरता की शिक्षा देकर यह वताया कि ईश्वरत्व की स्थिति प्राप्त करने के साधनो पर किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है। उस अवस्था को हर व्यक्ति, चाहे वह किसी वर्ग, धर्म या मत का हो, मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता के बल पर प्राप्त कर सकता है।

आत्मवाद मूलक कर्म सिद्धांत

भगवान महावीर द्वारा आत्म-निर्भरता की दी गई यह शिक्षा चरित्र की मजबूती का केन्द्र-बिन्दु है। आज वह केन्द्र-बिन्दु कमजोर पड़ता जा रहा है। फलस्वरूप व्यक्ति अनास्थो, निराशा, विश्वास और हीन भावना से ग्रस्त है। इसमे अपनी जिम्मेदारी को इमानदारी के साथ महसूस करने की भावना का लोप होता जा रहा है। जव व्यक्ति की यह स्थिति हो तब राष्ट्र कैसे आगे वढ सकता है? ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर का आत्मवादमूलक कर्म सिद्धात अपने को असहाय, निराश और पराधीन समझने वाले व्यक्ति मे आस्था, आत्मविश्वास, पुरुषार्थ और-स्वावलम्बन की भावना जागृत कर, उसे अपनी पूरी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार कर्त्तव्यकपालन की प्रेरणा देता है।

आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना । क्योकि हमारे पास जो अनावश्यक सग्रह हैं उसकी उपयोगिता कही और है । कही ऐसा समुदाय है जिसे इस सामग्री की जरूरत है, और जो उसके अभाव मे सतप्त है, दुखी है ।

अचौर्यव्रत का विधान

लोभ की प्रवृति व्यक्ति को कृपण और कठोर बना देती है और उसे हिताहिक का ज्ञान नही रहता । वह येन-केन प्रकारेण धन बटोरने मे ही लगा रहता है । जीवनपोषक तत्वो मे, जीवन घातक पदार्थों की मिलावट करने की आज जो प्रवृत्ति बढी है, वह इसी कारण है । भगवान महावीर ने लोभ प्रवृत्ति को रोकने के लिए अचौर्यव्रत का विधान करते हुए बताया कि सद्गृहस्थ चोरी का माल न खरीदे, न चोर को किसी प्रकार की सहायता दे, राज्य के नियम के विरुद्ध व्यवसाय न करें, तोलने और नापने मे गडबडी न करे, असली मे नकली तथा बहुमूल्य वाली वस्तु मे कम मूल्य की वस्तु मिलाकर न वेचे ।

असविभागशील की मुक्ति नही

अपरिग्रह की भावना को बल देने के लिए ही त्याग भावना का विधान किया गया है । सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह मर्यादा से अधिक द्रव्य का दूसरो के लिए विसर्जन करे, उसे जन कल्याणकारी प्रवृतियो मे लगाये । भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा-असविभाग न हु तरस मोक्खो अर्थात् जो असविभागशील है, अपनी प्राप्त सामग्री दूसरो मे बाटता नही, उसकी मुक्ति नही होती ।

भगवान महावीर ने परिग्रह को मर्यादित करने और अनावश्यक सग्रह न करने की जो बात व्यक्ति के लिए कही, वह आज राष्ट्रो पर भी 'लागू होती है । विश्व के विकसित और विकासशील राष्ट्र जब परस्पर आयात–निर्यात के क्षेत्रो मे इस प्रकार की मर्यादायें निश्चित करेंगे तभी विश्व शाति सुरक्षित रह सकेगी और भगवान महावीर का यह कथन चरितार्थ हो सकेगा कि परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है-परोस्परोपग्रहो जीवानाम ।

सापेक्ष चिन्तन और विश्व मैत्री

राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ विकास राष्ट्रीय एकता पर ही अवलम्बित है । भारत जैसे राष्ट्र मे सभी धर्मों, रीति-रिवाजो, भाषाओ और उपासना प्रकारों को समान आदर देने से ही राष्ट्रीय एकता सुरक्षित है । सघर्ष और अशाति का मूल कारण हटधादिता, दुराग्रह और एकान्तिकता है । जब व्यक्ति दूसरो के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करता है तो वह सहृदय और उदार बनता है । भगवान् महावीर ने परस्पर स्नेह और सौहार्द का वातावरण बनाये रखने के लिए कहा कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष है, ऐसा समझ कर यह वस्तु एकान्तत ऐसी ही है, ऐसा मत कहो । यदि वस्तु के सभी पहलुओ का अच्छी तरह से देख लिया जाय तो कहीं न कही सत्याश निकल ही आयेगा । भगवान् महावार का यह सापेक्ष चिन्तन हमे दिशा सकेत करता है कि कोई भी मत या सिद्धात पूर्णत सत्य या असत्य नही है, अर्थात् सिद्धान्तो के प्रति दुराग्रह नही होना चाहिए । विरोधियो द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है, इसलिये उस सत्य का अपने जीवन मे उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखो । मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसा कोई एक मार्ग नही है जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षो की जानकारी प्राप्त कर सके । अत सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने

३०

महावीर की दृष्टि में वाणिज्य-व्यापार की आचारमूलक निष्ठाएं

□ उदय नागौरी, बी० ए० जैन० सि० प्रभाकर

युगदृष्टा महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व वैचारिक क्रान्ति का जो शंखनाद किया था, भारतीय दर्शन मे महत्वपूर्ण है। महावीर ने अहिंसा अपरिग्रह एव अनेकान्त की जो त्रिवेणी प्रवाहित की थी जीवन के परिवर्तित मूल्यो के बावजूद हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। उनकी क्राति थोथी कल्पना पर आधारित न होकर जीवन की प्रयोगशाला मे अनुभूत तथ्यो से पूर्ण थी। वे आचार मे अहिंसा, व्यवहार मे अपरिग्रह एव विचार मे अनेकान्त को प्रकट करना चाहते थे।

महावीर कालीन संस्कृति सरल, धर्ममय एव समन्वय कारी थी। उन्होने आदर्श एव यथार्थ, प्रवृत्ति एव निवृत्ति तथा भौतिक और आध्यात्मिक धाराओ को जीवन मे समन्वय कर विचार प्रकट किये। वे आज भी चिर नवीन प्रतीत होते है। आचार और विचार की इस समता को जीवन मे ग्रहण करले तो सारे दु ख, कठिनाईया और अभाव हमसे दूर हो जाए गे।

जैन सस्कृति मे मानव-जीवन को अत्यन्त दुर्लभ महत्वपूर्ण एव महान माना गया है। चू कि जीव (आत्मा) अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने तक विविध योनियो मे परिभ्रमण करता है और सिद्धत्व प्राप्त कर कर्ममुक्त हो जाता है। आचार्य अमितगति ने —"भवेपु मानुष्य भव प्रधानम्"[1] कह कर इसका महत्व बताया हैं। निश्चित ही इतना महगा मानव जीवन व्यर्थ ही गवा देने जैसा नहीं। इसीलिए महावीर ने समय[2] मात्र भी प्रमाद न करने का सन्देश दिया है।[3] अपने शिष्य गौत्तम को आत्मा-

१ अमितगति कृत श्रावकाचार १।१२

२. ,समय' काल का अत्यल्प अविभाज्य अश है।

३. दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिर कालेण वि सव्व पाणिण।
गाढा य विवाग—कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए।।
उत्तराध्ययन सत्र १०।४

बाधक है तो वह भी हेय ही है परन्तु आज मानव भौतिक एव क्षणिक सुखो के पीछे दीवाना है। आज जमाखोरी, घूस, चोरी, तस्कर व्यापार, काला बाजारी कर-चोरी आदि के घुन समाज की जडे खोखली कर रहे है। अधिक लाभ पाने हेतु वस्तुओ मे और खाद्य पदार्थों मे मिलावट कर कतिपय व्यक्ति शीघ्र ही धनी बनना चाहता है पर ऐसे व्यक्ति वास्तव मे समाज के शत्रु है।

अर्थनीति को स्पष्ट करते हुए महावीर ने बताया कि लाभ की दशा मे गर्व नही करना चाहिए तथा अप्राप्ति पर शोक नही करना चाहिए।[५] इसी प्रकार थोडा लाभ होने पर दु खी नही होना चाहिए।[६]

आज समाज मे धन का समुचित विभाजन नही होने के कारण धनिक वर्ग अधिक धनी और मध्यम वर्ग अधिक निर्धन होता जा रहा है। इसका मूल कारण परिग्रहवाद है। अर्थशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति मे उत्पादन के सभी साधनो का समावेश किया जाता है। अत परिग्रह परिमाण व्रत मे जिन मर्यादाओ का उल्लेख है उनमे वे साधन सम्मिलित किये गए है।

मत्स्य उद्योग, मद्यपान, अण्डो का व्यापार, शस्त्र विक्रय कर की चोरी, रिश्वत लेना आदि विषयो पर महावीर ने जो सदेश दिया है उसके अनुसार उपर्युक्त उद्योग एव क्रियाएं पापमूलक हैं और आत्मा को पतन की ओर ले जाते हैं।[७]

महावीर ने श्रावक धर्म पालन हेतु बारह व्रतो का विधान किया। इनमे पाच अणुव्रत, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तीन गुणव्रत—दिशा परिमाण व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत और चार शिक्षा व्रत–सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवास एव अतिथि सविभाग व्रत हैं। इन व्रतो मे वाणिज्य व्यापार की अनेक आचारमूलक निष्ठाए प्रकट होती हैं। इनसे ध्वनित होता है कि दैनिक जीवन मे व्यापार आदि व्यवसाय करते हुए आचार सहिता का पालन करना चाहिए।

प्रथम व्रत अहिंसा—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के अतिचारो म बंधे, वई, छविच्छए, अइभोर भत्तपाण विच्छेए है।

बंधे

पशु-पक्षी तथा नौकर चाकार आदि आश्रित जनो को कष्टदायी बन्धन मे रखना। यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक या सामाजिक हो सकता है।

अतिभार

पशु या दास दासी पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना। नौकर, मजदूर या अन्य कर्मचारी से इतना अधिक काम लेना कि वे इस भार से पिस जाय।

आज शोपक और शोषित वर्ग का संघर्ष इसी कारण है कि श्रमजीवी वर्ग उचित परिस्थियो अनुकूल वातावरण मे कार्य पर अपना लाभाश भी मागने है।

---

५. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुति न सोइज्जा। आचाराग १।२।५
६. थोव लद्धु न खिसए। दशवैकालिक २।२९
७. द्रष्टव्य—औपपातिक सूत्र एवं विपाक सूत्र

पदार्थ मे मिलाने के परिणाम स्वरूप परिवार के परिवार एव गाव तक काल कवलित हो जाते है या उन्हे असाध्य रोग जकड लेते हैं। ऐसे समाचार प्राय मिलते रहते है।

चोरी डकैती के वैज्ञानिक तरीके, आयकर व (Incom Tax) विक्रय कर (Sales Tax) आदि को बचाने के दावपेच एव आयात-निर्यात के नियमो का अतिक्रमण आज राष्ट्रीय विकास मे बाधक है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य व्रत ·

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है। शारीरिक एव वैयक्तिक विकास के लिए ब्रह्मचर्य की आवश्यकता पर जोर देकर महावीर ने सामाजिक सदाचार का आदर्श प्रस्तुत किया है।

पांचवां परिग्रह परिमाण व्रत :

अपने धन–सम्पत्ति, खेत, मकान, स्वर्ण-रजत आभूषण, नौकर—चाकर, धान्य, बर्तन आदि की मर्यादा निश्चित करना परिग्रह परिमाण व्रत है।[८] सग्रह प्रवृत्ति से पदार्थों के प्रति ममन्त्व तो होता ही है साथ ही अन्य व्यक्ति के लिए अभाव भी पैदा होता है। परिग्रह के मूल मे इच्छाओ का अनियन्त्रण है क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।[९] अनावश्यक पदार्थों का सग्रह न कर हम इच्छाओ को सीमित करे तो वास्तविक सुख के द्वार खुल जाते है।

छटा दिग्व्रत—दिशा परिणाम व्रत :

प्रस्तुत व्रत मे व्यापार या अन्य कार्यों के लिए क्षेत्र की मर्यादा का विधान है। ऊची, नीची एव चारो तिरछी दिशाओ की मर्यादा कर श्रावक तदानुसार अपना जीवन यापन करता है और उनका अतिक्रमण नही कर सकता।

सातवां—उपभोग परिभोग परिमाण व्रत :

इस व्रत मे उपभोग ओर परिभोग के पदार्थों की मर्यादा की जाती है, उपभोग का अर्थ है—भोजन पानी आदि पदार्थ जो एक वार ही काम मे आते है। परिभोग का अर्थ है-वस्त्र-पात्र, शय्या प्रभ्रति पदार्थ जो अनेक वार काम मे लाऐ जाते हैं।[१०] साथ ही श्रावक को ऐसे व्यापार नही करने चाहिए जिनसे अधिक हिंसा हो। इन व्यापारो से उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन होता है अत इन्हे कर्मादान कहा है।

अहिंसा जैनधर्म का प्राण हे और श्रावक जीवो की हिंसा नही कर सकता। भोजन, सब्जी, फल फूल आदि की मर्यादा की हुई हो तो दूसरे को अपना भाग मिलेगा और हिंसा कम होगी ही।

आठवां—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

निष्प्रयोजन लगने वाली हिंसा से बचना ही अनर्थ दण्ड है। व्यर्थ ही होने वाली शारीरिक क्रियाओ और चेष्टाओ पर अनुशासन करने से हम हिंसा से वचते है। चलते हुए किसी फूल को तोडना मसल देना, हिंसा के उपकरण रखना, हिंसात्मक कार्यो के लिए सहायता करना, पैरो मे दूब को कुचलना आदि ऐसी क्रियायें है जिनसे व्यर्थ ही हमे हिंसा का निमित्त वनना पडता है।

---

८. दृष्टव्य—प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ-अ भै. सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था।
९. इच्छाहु आगासभा अणतए (उतराध्यन सूत्र अ)।
१०. भगवती सम. श ७३ २.

३१

मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण : एक अन्तः परीक्षण

□ प्रो० डा० गुलाबचन्द्र चौधरी

[लेखक ने प्रस्तुत लेख मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस प्रकरण मे किसी कुमुदचन्द्र नाम धारी दिगम्बर वादी का निराकरण नही किया गया बल्कि वादि देव सूरि ने अपनी समानान्तर रचना स्याद्वाद रत्नाकर द्वारा दिगम्बर प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुद चन्द्र के प्रचार-प्रसार की कमी करदी और उसकी स्त्री मुक्ति विरोध का करारा जवाव प्रस्तुत किया जिसे इस साम्प्रदायिक रूपक मे दो सम्प्रदाय के आचार्यों की जय पराजय द्वारा दिखाया गया है। पर यह विवाद कोई ऐतिहासिक घटना नही है, इसलिए यह कोई ऐतिहासिक नाटक नही है]।

मुद्रित कुमुदचन्द्र एक लघु प्रकरण[1] (रूपक नाटक) है, जिसमे पाच अ क हैं। इस प्रकरण मे श्री देवसूरि (देवाचार्य) नामक श्वेताम्बराचार्य द्वारा चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज के दरबार मे किसी दिगम्बर जैन वादी कुमुदचन्द्र की स्त्रीमुक्ति विषय पर पराजय का अभिनय किया गया है।

इसके कर्त्ता धर्क्कट वशीय पद्मचन्द के पुत्र यशश्चन्द्र है जिनका समय अज्ञात है। इस प्रकरण की प्रस्तावना से मालूम होता है कि वे एक गृहस्थ थे क्योकि उन्होने सपादलक्ष देश मे किसी शाकम्भरी नरेश द्वारा अभ्युन्नति प्राप्त की थी और उनके पितामह शाकम्भरी नृप के राजसेठ थे। वे अनेक प्रवन्धो के रचयिता भी थे, पर इस कृति के सिवाय उनकी अन्य कृतिया अभीतक नही मिली।

यद्यपि कर्त्ता का समय ज्ञात न होने से इसे हम देव सूरि की समकालिक रचना नही कह सकते फिर भी यह वि०स० १३३४ से पहले की रचना अवश्य है क्योकि उक्त वर्ष मे निर्मित प्रभावकचरित मे वादि देव सूरिचरित मे इस प्रकरण से ६ पद्य (६२, ६४, ६६, १६६, १६८, २०७, २०६, २१४ और २३४) तथाहि, तद्यथा, उक्त च आदि द्वारा उद्धृत किये गये हैं और उसकी परवर्ती रचना प्रबन्ध चिन्तामणि मे भी ८ पद्य उद्धृत किये गये हैं।

इस नाटक की कथावस्तु सक्षेप मे इस प्रकार है। प्रथम अंक मे प्रस्तावना के बाद शुद्ध विष्कम्भक मे देवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच अमर्ष के सूत्रपात होने की सूचना मिलती है। जिसे आगे हम कुमुदचन्द्र पक्षीय वन्दी राजसाधार और देवसूरि के बीच आक्रोश पूर्ण बहस मे देखते है। उसमे कुमुद-

1 यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (स. ८), वी स. २४३२

दरवार मे हर्ष का वातारण छा गया। अन्त मे दैवीतत्व-योगिनी– वजार्गला – को आविष्कृत कर बतलाया गया कि उसने कुमुदचन्द का चेहरा स्याही से रग दिया था और उसे निरुत्तर बना दिया था अन्त मे राजा द्वारा देवसूरि की प्रशसापूर्वक नाटक की समाप्ति की गई।

इस प्रकरण की कथावस्तु को और कुछ जोड वृद्धि कर प्रभावक चरित्र मे देव सूरि चरित्र की प्रमुख घटना के रूप मे प्रस्तुत किया गया है और बतलाया गया है कि यह विवाद वि स ११८१ मे वैशाख पूर्णिमा के दिन हुआ था।[2] प्रबन्ध[3] चिन्तामणि मे इसे १६ दिन तक चलने वाला विवाद वतलाया है। मुद्रित कुमुदचन्द्र और प्रभावक चरित्र के अनुसार इस विवाद की व्यवस्था मे श्वेताम्बर श्रावक कवि श्रीपाल को प्रमुख भाग लेते दिखाया गया है जबकि प्रवन्ध चिन्तामणि मे उसका नाम भी नही। उनकी जगह वहा हम आचार्य हेमचन्द्र को प्रमुख रूप मे भाग लेते देखते है। जबकि मुद्रित कु च और प्रभावक चरित मे उन्हे उक्त प्रसग मे कही भी भाग लेते नही दिखाया गया। वह विवाद जयसिंह के दरबार मे हुआ था। इस विषय मे उक्त तीनो ग्रन्थ सहमत है।

इस घटना को, उक्त प्रकरण मे तथा अर्ध इतिहास समकक्ष ग्रन्थ-प्रभावक चरित्र और प्रवन्ध चिन्तामणि मे वर्णित पाकर, प्राय सभी विद्वानो ने एक ऐतिहासिक घटना माना है ओर इसके प्रतिवादी श्वेताम्बर देवसूरि का साम्य उन वादिदेव सूरि से स्थापित किया है जिनने स्याद्वाद रत्नाकर व्याख्या सहित प्रमाणनय तत्त्वालोकालकार नामक विशाल न्यायग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के आठवे अध्याय मे वादविधि का वादि, प्रतिवादि, सभ्य और सभा पति चार अंगो का सागोपाग वर्णन है। सभवतः उक्त प्रकरण के पाचवे अंक की वाद व्यवस्था मे उसका प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। सभापति के राजा जयसिंह भी वादिदेव सूरिके समकालीन चौलुक्य नृप जयसिंह सिहराज ही है। देवसूरि का जन्म वि. स, ११४३ मे दीक्षा वि.स. ११५२ और सूरिपद ११७४ मे और स्वर्गवास वि स. १२२६ मे हुआ था। उनके समवयस्क जयसिंह का जन्म भी वि स ११४३ मे राजपद वि स ११५० मे और मृत्यु विस. १२६० मे हुई थी। इन दोनो से दो वर्ष छोटे तथा समकालीन प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र थे, जिनका जन्म वि सं ११४५ मे, दीक्षा वि स ११५४ मे और आचार्य पद वि स ११६६ मे और मृत्यु वि. स. १२२९ मे हुई थी। यदि उक्त विवाद को प्रभावक चरित्र के अनुसार वि स ११८१ मे हुआ माने तो उस समय देवसूरि और राजा जयसिंह की उम्र ३८ वर्ष की तथा हेमचन्द्र की ३६ वर्ष की रही होगी। हेमचन्द्र को उस समय तक आचार्यपद पाये १५ वर्ष के लगभग हो चुके थे और देवसूरि को केवल ७ वर्ष। प्रवन्धचिन्तामणि मे हेमचन्द्र और कुमुद चन्द्र को टकराते हुए कहा है कि हेमचन्द्र उस समय किंचिद्वयति क्रान्त शैशवा थे और कुमुचन्द्र ज्यायान् और जरातरलिजमति थे परन्तु ३३ वर्षीय हेमचन्द्र के प्रति उक्त कथन संभव नही। फिर जयसिंह के दरबार मे उक्त घटना के समय हेमचन्द्र के भाग लेने की वात मु, कु च तथा प्रभावक चरित्र मे नही मानी गई। आधुनिक विद्वानो का मत है कि उस समय तक हेमचन्द्र और जयसिंह मे कोई सम्पर्क न था। वह तो जयसिंह की मालवा विजय वि स. ११९२–९३ के वाद ही विशेष रूप से हुआ।

२. प्र. च. (सि जैन ग्र०) पृ० १७८

३. प्र चि (सि जैन ग्र०) पृ० ९८

अवश्य है। दोनो की रचना एक नामधारी दो राजाओ के राजकाल मे अवश्य हुई है। न्याय कुमुदचन्द्र की रचना धारा नरेश जयसिंह देव परमार (वि. स १११२–१६) के राज्यकाल मे हुई थी[५] और उसके पश्चात् चौलुक्य जयसिंह सिद्धराज के राज्यकाल (स ११५२–१२००) मे स्याद्वाद रत्नाकर की रचना हुई थी।

उस काल मे श्वेताम्वर और दिगम्बर सम्प्रदाय मे तनाव या मौलिक मतभेद के आधारभूत दो सिद्धान्त माने जाते थे, एक स्त्री निर्वाण और दूसरा केवलि कवलाहार। न्याय कुमुदचन्द्र के कर्ता प्रभाचन्द्र से पहले इन सिद्धातो का निषेध और विधि दोनो सम्प्रदाय के आगमिक ग्र थो मे ही देखे जाते थे किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपने दोनो ग्र थ— प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र मे पूर्व पक्ष स्थापन और उनका खण्डन करके दार्शनिक क्षेत्र मे भी इस विवाद को स्थान दिया।[६] सम्भवत इससे, सम्प्रदाय मोही अनुयायियो मे प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र हुई। इसके बाद श्वेताम्वर सम्प्रदाय के अभय देवसूरि और वादिदेव सूरि ने प्रभाचन्द्र के मार्ग का अनुसरण कर उन्त दोनो सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे दिगम्बर मान्यता का खण्डन कर श्वेताम्वर पक्ष की स्थापना की। इतना ही नही श्वेताम्वर समाज मे प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र जैसे सवल ग्र थो के अनुसरण पर समानान्तर कृति द्वारा उनके प्रचार प्रसार को गुजरात व उसके पडौस क्षेत्र मे मुद्रित करने का प्रयास हुआ। साहित्य जन मानस का प्रतिबिम्ब होता है और पश्चात काल मे इस घटना का ही रूपक जय पराजय के रूप मे साम्प्रदायिक मानस को सन्तोष देने के लिए मुद्रित कुमुदचन्द्र जैसे प्रकरण रूप मे प्रस्फुटित हुआ जिसमे कुमुदचन्द्र और वादिदेव सूरि को टकरा देने जैसी कल्पना का चित्रण हुआ।

पर भारतीय साहित्य के क्रमिक विकास को तटस्थ भाव से देखने वाले मनीषियो से यह बात छिपी नही रही। साहित्य मे तो परस्पर आदान प्रदान से ही उसकी श्री वृद्धि हुई है। जैन न्याय के क्रमिक विकास क्रम को दिखाते हुए स्वय प महेन्द्र कुमार ने लिखा है 'प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द्र के तीक्ष्ण एव आल्हादक प्रकाश मे जब हम स्याद्वाद रत्नाकर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते है तो वादिदेव सूरि की गुणग्राहिणी सग्रह दृष्टि की प्रशंसा किए विना नही रह सकते। इसकी संग्राहक वीजवुद्धि प्रमेयकमल मार्तण्ड तथा न्याय कुमुदचन्द्र से अर्थ, शब्द और भावो को इतने चेमश्चमत्कारक ढंग से चुन लेती है कि अकेले स्याद्वाद रत्नाकर के पढ लेने से उक्त दोनो ग्रंथो का यावद्विषय विशद रूप से अवगत हो जाता है। वस्तुत स्याद्वाद रत्नाकर उक्त दोनो ग्रन्थो के शब्द अर्थ रत्नो का सुन्दर आकार ही है। यह ग्रन्थ मार्तण्ड (प्रमेयकमल०) की अपेक्षा चन्द्र (न्याय कुमुद०) से ही अधिक उद्वेलित हुआ है। प्रकरणो के क्रम और पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष के जमाने की पद्धति मे कही कही तो न्याय कुमुदचन्द्र का इतना अधिक शब्द सादृश्य है कि दोनो ग्रन्थ की पाठशुद्धि मे एक दूसरे का मूल प्रति की तरह उपयोग किया जा सकता है"[७]

---

५. यह वात न्याय कुमुदचन्द्र की प्रशस्ति से ज्ञात होती है।

६. न्याय कुमुदचन्द्र भाग १ की प्रस्तावना पृष्ठ १२

७. न्याय कुमुदचन्द्र द्वितीय भाग प्रस्तावना, पृष्ठ ४१

३२

प्राकृत साहित्य और लोक संस्कृति

□ डा० प्रेम सुमन जैन

प्राकृत एव अपभ्र श साहित्य से लोक सस्कृति का सम्बन्ध स्पष्ट करने की आवश्यकता नही है। साहित्य का लोकजीवन से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्राकृत की प्रत्येक अवस्था एव विधा ने कार्य किया है। जनसाधारण के निश्चल हृदय से जो भाषा फूटती है उसमे और उसके दैनिक सरल व्यवहारो मे कोई अन्तर होने की सम्भावना नही है।

प्राकृत साहित्य के लोक सस्कृति से ओत-प्रोत होने मे एक कारण यह भी है कि प्राय प्राकृत साहित्य का सम्बन्ध लोकधर्म से रहा है। यह कहना अप्रासंगिक नही होगा कि श्रमणधर्म ग्राम्य-जीवनप्रधान संस्कृति का पोषक रहा है अत उसके आचार्यो ने लोकभाषाओ को अपनाया। साहित्य मे साधारण कोटि के चरित्रो को उभार कर अभिजात वर्ग का नामकत्व समाप्त किया तथा धार्मिक क्षेत्र मे इन्द्र आदि देवताओ को तीर्थङ्करो का भक्त बताकर मनुष्य जन्म को देवत्व से श्रेष्ठता प्रदान की। इतना ही नही, प्राकृत साहित्यके माध्यम से सभी लोककलाओ की सुरक्षा हुई है।

लोकसस्कृति के अन्तर्गत यद्यपि अनेक तत्व समाहित होते है। विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे मतैक्य नही है अत प्राकृत साहित्य ने लोकसस्कृति के जिन प्रमुख तत्वो को उभारकर प्रस्तुत किया है उन्ही पर विवेचन करना उपयुक्त होगा। इस दृष्टि से १ लोकसाहित्य, २ लोकभाषा, ३ लोकजीवन ४. लोकविश्वास, ५. लोककला तथा ६. लोक-चिकित्सा इन प्रमुख छह केन्द्रबिन्दुओ पर प्राकृत साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे विचार किया जा सकता है।

१. लोकसाहित्य

लोक साहित्य लोकवार्त्ता का एक महत्वपूर्ण भाग है इसके अन्तर्गत यद्यपि विद्वानो ने अनेक विषयो को सग्रहीत किया है, किन्तु वे सब लोक की विभिन्न अभिव्यक्तिया ही है। अत व्यक्तित्व से रहित समानरूप मे समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौलिक अभिव्यक्तिया लोकसाहित्य की श्रेणी मे आती हैं।[1] इन अभिव्यक्तियो को निम्न भागो मे बाटा जा सकता है—धर्मगाथा (लोकगीत), लोककथा, लोकोक्तिया, पहेलिया आदि। प्राकृत तथा अपभ्र श साहित्य मे इन सभी तत्वो का समावेश है।

धर्मगाथा—प्राकृत साहित्य का गाथा से निकट का सम्बन्ध है। उसका बहुत सा भाग गाथाबद्ध ही

१ भारतीय लोक साहित्य पृ २२।

प्रहार से पति का स्वागत करना । जेठी कन्या के पति ने लात खाकर उसका पेट दवाते हुए पूछा—'प्रिये ! कही तुम्हे चोट तो नही लगी,' लडकी ने यह वृतान्त जव मा से कहा तो वह वोली—'बेटी, जा तू अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत कर तेरा पति तेरा कुछ नही बिगाड सकता । मंझली लडकी के पति ने उसकी लात खाकर पहले तो उसे भला-बुरा कहा फिर शीघ्र ही शान्त हो गया, लडकी की मा ने कहा कि बेटी, तुम भी अलग से रहेगी । छोटी लडकी के पति ने लात लगाते ही उसे पीटना शुरू कर दिया और कहा कि तुम नीच कुल से आयी हो । वडी मुश्किल से उसे शान्त किया गया, मा ने लड़की को एकान्त मे बुलाकर कहा—'वेटी, तुम देवता के समान पति की पूजा करना और उसका साथ कभी मत छोडना ।[1]

स्वतन्त्र प्राकृत कथा ग्रन्थो मे लौकिक तत्त्व प्रचुर मात्रा मे समाविष्ट है, इनमे अनेक लोक-कथाएं स्वतन्त्र रूप से निर्मित हुई है । वसुदेव हिण्डी विशुद्ध लोककथा ग्रन्थ है । इसकी लोक कथाएं मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती है । इसके शीलमनी, धनश्री, विमल सेना, ग्रामीण गाडीवान, वसुदत्तात्र्यान, रिपुदमन आदि आख्यान सुन्दर लोक-कथानक है । इनमे लोक कथाओ के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान है ।

प्राकृत कथा साहित्य की सम्पन्नता का युग ८-९वी सदी हे, इस समय कथानक, शिल्प और भाषा इन तीनो का पर्याप्त विकाम हुआ है । मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओ का कलात्मक संश्लेष इस युग की पहली चेतना हैं । अत स्वाभाविक रूप से लोक मे प्रचलित अनेक कथाएं एव कथातत्व प्राकृत व अपभ्रंश कथाओ मे समाहित हुए है । हरिभद्र सूरि की समराइच्च कहा और उद्योतनसुरि की कुवलयमाला कहा मे लोककथा के पर्याप्त गुण धर्म विद्यमान है । लोकभाषा मे लोक परम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रो को सघटित कर लोक मानस को आन्दोलित करने वाली लोकानुरजक कथाएं लिखकर इन प्राकृत कथाकारो ने लोककथा के क्षेत्र मे अनुपम योगदान दिया है । विश्लेषण करने पर इन प्राकृत-कथावृत्तियो मे निम्नाकित लोककथा के तत्व उपलब्ध है —[2]

१ लोक मगल की भावना	२. धर्म श्रद्धा
३. कुतूहल	४. मनोरंजन
५. अमानवीय तत्व	६. अप्राकृतिकता
७. अतिप्राकृतिकता	८. अन्धविश्वास
९. अनुश्रुत मूलकता	१० हास्य विनोद
११ साहस का निरूपण	११ जनभाषा का प्रयोग
१३ मिलन-वाधाएं	१४. प्रेम के विभिन्न रूप
१५ उपदेशात्मकता	इत्यादि ।

यहा इन सभी लोककथा के तत्त्वो का उदाहरण देना सम्भव नही है । 'अतिप्राकृतिकता' तत्व से सम्वन्धित समराइच्चकहा के अष्टम भव की एक घटना दृष्टव्य है—

एक दिन कौशलाधिपति को उनका घोडा भगा कर एक जंगल मे ले गया, वहा मनोहरा नाम की यक्षिणी कुमार के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गयी और उसने कुमार से प्रेम याचना की किन्तु कुमार ने मना कर दिया, एक दिन कुमार की पत्नी सुसंगता का रूप वनाकर वह यक्षिणी कुमार के पलग पर सो गयी तथा सुसंगता

२ डा० शास्त्री का शोध प्रवन्ध-(पृ० २४५-२८०) द्रष्टव्य

३ लोक भाषा

समस्त प्राकृत साहित्य की भाषा लोकभाषा है। लोकजीवन की जब बात कहनी है तो उसी भाषा मे कहना उपयुक्त होगा जिसे जन मानस हृदयगम कर सके, प्राकृत कथाकारो ने देशी भाषा को विशेष महत्व दिया है, कुवलयमालाकहा पढने का अधिकारी उसको समझा गया है जो देशी भाषा का अच्छा जानकार हो।[५] यही कारण है कि इस ग्रन्थ मे जैसे पात्रो की रचना है, वैसी ही उनकी भाषा विभिन्न देशो के व्यापारी अपनी-अपनी लोक भाषाओ मे बात करते है। अन्य प्राकृत ग्रन्थो मे भी अनेक ऐसे लोक शब्द मिलते है जो आज भी प्रान्तीय जन भाषाओ मे प्रयुक्त होते हैं।[६]

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक साहित्य के उपयुक्त तत्व–धर्मगाथा, लोककथा, लोकोक्तिया, लोकभाषा आदि प्राप्त होते है। इनके अतिरिक्त लोक सस्कृति के विभिन्न अगो का समावेश भी इसमे हुआ है। सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य विभिन्न युगो के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है।

४ लोकजीवन

प्राकृत कथाओ मे प्राय मध्यमवर्गीय पात्रो के जीवन को लोक वातावरण मे प्रस्तुत किया गया है, अतः ग्रामीण और लोक जीवन के विविध दृश्य इस साहित्य मे देखने को मिलते हैं, उन्हे प्रमुख पाच भागो मे विभक्त कर सकते है— (१) ग्राम्य वातावरण (२) पारिवारिक जीवन (३) रीति-रिवाज (४) त्योहार-पर्व एवं (५) लोकानुरजन इनमे से प्रत्येक के कुछ दृश्य उपस्थित है।—

ग्राम्य वातावरण—गाहासत्तसई गावो के उल्लास और स्वतन्त्र जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। एक गाव की सुबह का वर्णन देखे— प्रात काल होने पर गाय चरने चल देती, खोचे वाले अपने व्यापार के लिए निकल पडते, लुहार अपने काम मे लग जाते, किसान अपने खेतो मे चले जाते, मच्छीमार मछली पकडने निकल पडते, खटीक लाठी लेकर कसाईखाने मे पहुच जाते, माली फूलो की टोकरी ले गाव मे निकल पडता, राहगीर रास्ता चलने लगते और तेली कोल्हुओ मे तेल पेरने लगते।[७]

दूसरा दृश्य गाव मे पडे दुष्काल का है—बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई, उससे औषधिया नही पनपे, वृक्ष नही फले, फसल व्यर्थ हो गयी, पशुओ का चारा नही उगा। केवल पवन चलता रहा, धूल उडती रही, पृथ्वी फटती रही, मेघ गरजते रहे, उल्काए पडती रही, दिशाए गूंजती रही और बारह सूर्यो के तेज जैसा कठोर ताप वाली गर्मी पडती रही।[८]

—वर्षा ऋतु मे गाव मे मूसलाधार पानी बरस रहा है। झोपडी मे टप-टप पानी च रहा है।

---

५. जो जाणइ देसीओ भासाओ लक्खणाइं धाऊ य।
वय-णय-गाहा-छेय कुवलयमालं पि सो पढउ ॥ —कुव. २८१-१३
६. द्रष्टव्य लेखक का निबन्ध–प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएं
७ निशीथचूर्णी-१ ५२२
८. कुवलयमालाकहा.पृ ११७, १२-१५.

कई सामाजिक रीतिया निभानी पडती है। प्राकृत कथाओ मे दोहद, पुत्रजन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरो पर कई परम्पराए निभाने का उल्लेख मिलता है। गर्भकाल मे दोहद का बहुत महत्व था—भिखारिन से लेकर पटरानी तक के दोहद पूरे किये जाते थे, दोहदो के विचित्र प्रकार उपलब्ध होते है।[12] कोई पत्नी अपने पति का मास खाने का दोहद प्रगट कर उसके प्राण सकट मे डाल देती थी तो कोई ऐसी भी पत्नी थी कि उससे पूछे जाने पर अपने दोहद मे खाली पानी पीने की इच्छा ही व्यक्त की, जिससे गरीब पति को परेशान न होना पडे।

पुत्र जन्मोत्सव मनाने के अनेक वर्णन उपलब्ध है।[13] जन्म के बाद परंगमण, चक्रमण, जेमामण, प्रजल्पन, कर्णवेधन, सम्वत्सर प्रतिलेखन, चोलोमण, उपनयन और कलाग्रहण आदि सस्कार भी मनाये जाने के उल्लेख है इन सस्कारो और हिन्दू सस्कारो मे कोई विशेष अन्तर नही है, इससे स्पष्ट है कि प्राकृत साहित्य मात्र जैन धर्म का साहित्य था, जन-सामान्य की सस्कृति को प्रतिबिम्बित करना उसका कार्य था।

पर्व-उत्सव—जैनसूत्रो मे अनेक उत्सवो और पर्वों के उल्लेख मिलते है। पुण्णभासिणी का उत्सव कौमुदी महोत्सव के नाम से मनाया जाता था। उज्जाणिया-महोत्सव एक प्रकार से वनभोज जैसा था। 'इट्ठगा' नामक एक पर्व मे सेवइया बनायी जाती थी। इसकी तुलना रक्षाबन्धन त्योहार से की जा सकती है। खेत मे हल चलाने के दिन भी पूजा की जाती थी और भात खिलाया जाता था। कुछ घरेलू त्यौहार भी मनाये जाते थे, जिनमे श्राद्ध देवबलि आदि प्रमुख थे। 'सखडि' नाम से एक बडा सामूहिक भोज का आयोजन कर उत्सव मनाया जाता था।[14]

लोकानुरजन—लोक जीवन मे मनोरंजन के साधन निराले होते है। बच्चो के अलग और प्रौढो तथा वृद्धो के अलग। नागरिक जीवन के मनोरजन के साधनो के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य मे लोक-जीवन मे व्यवहृत मनोरजन के साधनो का भी उल्लेख मिलता है। पर्व-उत्सव के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के खेल-खिलौनो द्वारा अपना मनो-विनोद करते थे। कुछ लोक खिलौनो के नाम इस प्रकार है—खुल्लय (एक प्रकार की कौडी=कपर्दक), वट्टय (लाख का गोली), अडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेद), पोलुल्ल (गुडिया) और साडोल्लय (कपडे की गुडिया) सरयत (धनुष), गोरहग (बैल का खेल), घटिक (छोटा घडा बजाते आदि के लिए), डिडिस और चेलगोल (कपडे की गेद) आदि खिलौने बच्चो का मनोरजन करते थे।[15] कपडे की गेद का खेल गडा गेद के नाम से आज भी बुदेलखण्ड के गावो मे प्रचलित है। इन खिलौनो के अतिरिक्त मल्लयुद्ध, कुक्कटयुद्ध तथा मयूर-पोत युद्ध आदि मनो-रजन के प्रधान साधन थे। लोकजीवन इन्ही के सहारे जीवत बना रहता था।

४. लोकविश्वास

मानव समाज मे आदि काल से अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास, जो तर्क और बुद्धि से परे होते है,

---

१२. डा. जैन–जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज, पृ. २४०

१३ वही पृ. २४२

१४. विशेष के लिए द्रष्टव्य–वही पृ. ३६४-६६.

१५. वही, पृ. ३५६-६०

रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और व्योहकिरिया मह का विशेष प्रचलन था। इनके अतिरिक्त वानमंतर, वानमन्तरी, गुह्यक और पिशाचो की भी अर्चना की जाती थी।[१९] उदाहरण के लिए एक भूतकथा ही पर्याप्त है—

'उज्जैनी की दुकानो मे अन्य वस्तुओ के साथ भूत भी बिकते थे। एक बार भगुकच्छ का कोई वैश्य उज्जयनि की दुकान से भूत खरीदने आया। दुकानदार ने कहा—भूत मिल सकता है, लेकिन यदि उसे तुम काम न दोगे तो वह तुम्हे मार डालेगा। वैश्य भूत खरीद कर चल दिया। वह उसे जो काम बताता, उसे वह तुरन्त कर डालता। आखिर मे तंग आकर वैश्य ने एक खम्भा गडवा दिया और उसपर उतरते चढते रहने का कार्य बताकर भूत से अपना पीछा छुडाया।[२०]

कथासरित्सागर मे इस प्रकार की कथा आती है तथा वर्तमान मे यह कथा प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे उल्लिखित लोकविश्वास आधुनिक लोकविश्वास तुलना की अपेक्षा रखते है।

५. लोक कला

लोक सस्कृति की वास्तविक अभिव्यक्ति लोक कला के माध्यम से होती है। लोक कलाओ के अन्तर्गत वे सभी कार्य विशेष परिगणित होते है, जिनमे लोक के मूक कलाकारो के सरल हृदय और प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिलती हे। विभिन्न अवसरो पर बनायी गई मिट्टी व काष्ट की मूर्त्तियां, विवाह आदि उत्सवो पर खीचे गयी रेखानुकृत्तिया मुक्त कंठो से गाया गया संगीत तथा विभोरकर देने वाली उछल-कूद लोककला को मूर्त्तिकला, चित्रकला संगीत और नृत्यकला मे विभाजित करती है। समय और प्रकृति के प्रहार से प्राचीन लोककला के हो सकता है अवशेष बहुत थोडे वचे हो, किन्तु प्राकृत साहित्य मे उनके जो उल्लेख मिलते है, वे लोककला की समृद्धि लोकप्रियता के उद्घोषक है। तत्कालीन संगीत तथा नाट्यकला के लोकरूप दृष्टव्य है।

सगीत के वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय ये चार भेद बतलाये गये है। स्थानागसूत्र मे षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरो का उल्लेख है। इन स्वरो के स्वर स्थान, उच्चारण प्रकट, वाद्यो का सम्बन्ध, स्वरो से लाख, तथा गुण दोषो का भी वर्णन किया गया है।[२१] तत, वितत, घन और झुसिर इन चारो प्रकार के वाद्यो का न केवल उल्लेख है, अपितु उनके लगभग ५०-६० भेद-प्रभेदो की भी चर्चा की गयी हैं। कुछ वाद्य तो सस्कृत ग्रन्थो मे उल्लिखित वाद्यो के समान हैं, किन्तु खरमुही, पीरिपिरिया, गौमुखी, तुबवीणा, कलशी, रिंगिसिया लत्तिया, वाली, परिल्ली, वक्तगा आदि वाद्य नये हैं, जिनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष के लोकवाद्यो से हो सकता है।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (५, पृ० ४१३) मे उक्खित्त (उक्षिप्त), पत्तम (पादात्त), मन्दय (मन्दक) और रोविदय अथवा रोइया व साण (रोचितावसान) इन चार प्रकार के गेय सगीत का उल्लेख है। सम्भवत.

---

१९. वही, पृ ४२९-५०
२०. वृहत्काल्यभाष्यवृति, ३.४२१४-२२।
२१. स्थानांगसूत्र, ७, पृ. ३७२.

मंखो की परम्परा तो आज भी पट दिखाने वाले भोमा लोगो से की जा सकती है ।[२५]

६. लोक चिकित्सा

प्राकृत साहित्य मे आयुर्वेद से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, रोगो के प्रकार, रोगोत्पत्ति के कारण व्याधियो के देशी उपचार, घावो के भरने के लिए विविध घृत और तेल का प्रयोग, छोटे-मोटे रोगो के इलाज के लिए घरेलू चिकित्सा आदि के विषय पर डा० जैन ने विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है ।[२६] प्राकृत साहित्य मे इस सबके उल्लेख का एक कारण यह है कि जैन साधु-साध्विया हमेशा पैदल प्रवास करते थे। रास्ते चलते जो छोटे-छोटे रौथ या व्रण उन्हे होते थे, गाववासी देशी दवाइयो के उनका इलाज कर देते थे । अत साहित्य सृजन के समय इन सब देशी उपचारो का उसमे उल्लेख हो गया है । दो रोगो के देशी उपचार दृष्टव्य है--

--एक बार किसी जैन भिक्षु को कृमिकुष्ठ की बीमारी लग गयी, वैद्य ने तेल, कवलरत्न और गोशीर्ष चन्दन बतलाया, तीनो चीजे श्रावको ने एकत्र की, साधु के शरीर मे तेल की मालिश की गयी, जिससे तेल उसके रोमकूपो मे भर गया ।इससे कृमि सक्षुब्ध होकर नीचे गिरने लगे । साधु को कबल उढा दिया और सब कृमि कंबल पर लग गये । बाद मे शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप कर दिया गया, दो-तीन बार इस तरह करने से कोढ बिल्कुल ठीक हो गया ।[२७]

--सर्प के काट लेने पर विभिन्न इलाज किये जाते थे, किसी राजा को महाविषधारी सर्प ने काट लिया, लेकिन रानी का मूत्रपान करने से वह स्वस्थ हो गया ।[२८] सर्पदश पर मिट्टी का लेप कर दिया जाता था या फिर रोगी को मिट्टी खिलाते थे, ताकि खाली पेट विष न चढे, कभी कभी काटे हुए स्थान को दाग दिया जाता और रोगी को रात भर जगाये रखा जाता । कभी-कभी सुवर्ण को घिसकर रोगी को पिला दिया जाता था ।

इस प्रकार प्राकृत साहित्य मे लोक-सस्कृति के सभी पक्षो-लोक साहित्य, भाषा, जीवन, विश्वास, कला, चिकित्सा आदि--से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है पालि और अपभ्र श साहित्य की खोज से इसमे और वृद्धि हो सकती है, लोक संस्कृति की सामग्री की विविधता और प्रचुरता को देखते हुए यह नि सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि 'प्राकृत साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन' शोध एवं अनुसधान का एक स्वतन्त्र विषय है । इस पर निष्ठा और परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य निश्चय ही भारतीय लोक सस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालेगा ।

---

२५ लेखक का निबन्ध--पटचित्रावली की लोक परम्परा द्रष्टव्य ।
२६ डा जैन--वही, पृ. ३०७ से ३१८
२७. आवश्यकचूर्णी पृ १३३
२८. बृहत्कल्पसूत्र, ५.३७ ।

जाता हो। मुनि या श्रावक के आचार मे, वस्तुत दैव प्रतीको की उपासना की जरा भी गु जाइश नही क्योकि सभी प्रकार के देवो का दर्जा किसी भी श्रावक से नीचा है। इतना ही नही, स्वामी समन्तभद्र के देव-देवियो की उपासना का निषेध भी किया है, क्योकि वे रागद्वेष से मलिन होते है।[२] असल बात यह है कि जैन और जैनेतर धर्मों मे जो पारस्परिक आदान प्रदान चलता रहा है उसी के दौरान जैन धर्म मे दैव प्रतीको का आदान हो गया। यह दूसरी बात है कि उन्हे तुरन्त ही जैन साचे मे ढाल दिया गया।

जैन कला में दैव प्रतीकों के आदान के कारण

जैन कला मे दैव प्रतीको के आदान के कई कारण है–

१. जैनेतर धर्मो मे प्रचलित दैव प्रतीको की पूजा का जैन भक्तो पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडा अत उन्होने, शास्त्रविहित न होने पर भी दैव प्रतीको को उसी प्रकार मान्यता दे दी जिस प्रकार बौद्ध भक्तो ने, स्वय महात्मा बुद्ध के द्वारा निषिद्ध होने पर भी बुद्ध प्रतिमा को मान्यता दी।

२. तीर्थंकर मूर्ति की उपासना मे वीतरागता की प्रधानता है, उसमे तामभाम और आडम्बर को स्थान नही जिसे कुछ भक्त विशेष रूप से पसन्द करते आये है। ऐसे भक्तो ने दैव प्रतीको को जिनकी उपासना मे तामभाम वगैरह की काफी गु जाइश है, जैन कला मे रूपान्तरित करने की खास पहल की।

३. कलागत प्रतिस्पर्धा की भावना ने भी अनेक दैव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिलाया। इस प्रतिस्पर्धा का एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है तीर्थंकर की माता की मूर्ति निर्माण।[3] शेषमयी विष्णु की और बालक बुद्ध के साथ लेटी मायादेवी की मनोहरी मूर्तियो को देखकर, ऐसी ही मुद्रा मे मूर्त्यकन के लिए किसी जैन पात्र की खोज मे जैन भक्त बेचैन हो उठा होगा। तीर्थंकर को लेटा हुआ दिखाया नही जा सकता, कोई देव पूजा का पात्र नही, कोई साधु अलकरण और परिकर के साथ अंकित नही होता और किसी राजा या महापुरुष को जैन मन्दिर मे मूर्त्यकित नही किया जा सकता। आखिर कुछ कुशाग्रबुद्धि भक्तो ने तीर्थंकर की माता को उपर्युक्त मुद्रा मे मूर्त्यकित करके जैन कला को वैष्णव और बौद्ध कला से पीछे न रहने दिया।

४ चमत्कार प्रियता मुख्य कारण थी। इष्ट-सिद्धि और अनिष्ट परिहार का चमत्कार दिखाने के लिए तीर्थंकर तो दौडे नही आते, उनके भक्त देव देविया ही यह कार्य कर सकते थे। अत बहुत सी होनी–अनहोनी कथाए और मन्त्र–तन्त्र जोडकर अनेक दैव प्रतीको को जैन कला मे स्थान दिया गया।

---

२ 'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलिमसा ।
देवता यदुपासीन् देवतामूढमुच्यते ॥'
रत्नकरकण्ड श्रावकचार श्लोक २३।

६. प्रसंगवश यह मानवी मूर्ति का उदाहरण दिया गया है, दैव मूर्तियो के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। सिह गरुड आदि वाहनो, अतिरिक्त मुखो और भुजाओ तथा आयुधो वाली मूर्तिया ऐसी ही है।

जैन कला में रूपान्तरित कुछ देव प्रतीक

१. धरणेन्द्र-पद्मावती पूर्व जन्म मे नाग-नागिन थे। एक वैदिक तापस द्वारा उनकी आहुति दी ही जाने वाली थी कि युवराज पार्श्वनाथ ने उन्हे मरणासन्न अवस्था मे देखकर णमोकार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वे भवनवासी देव-देवी हुए। जब भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया तब इन दोनो ने उनकी रक्षा की।[६] पद्मावती की मूर्तिया जैन कला मे सर्वाधिक है। कहते हैं, विद्यानुवाद पूर्व नामक आगम ग्रन्थ मे जो अब अनुपलब्ध बताया जाता है, इस देवी का वर्णन था जिसके आधार पर आठवी शती के मुनि सुकुमार सेन ने 'भैरवपद्मावती कल्प' लिखा। किन्तु विद्यानुवाद पूर्व मे पद्मावती की मूर्ति का भी विधान रहा होगा, यह विश्वसनीय नही, क्योंकि मुनि सुकुमारसेन जैसे अनेक साहित्यकारो ने बात तो कही है अपनी और उस पर मुहर लगायी गौतम गणधर या भरत चक्रवर्ती या किसी प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थ की। तीसरी शती के पादलिप्त सूरि की निर्वाणकालिका मे और छठी शती के आचार्य यति वृषभ की तिलोयपण्णत्ती मे पद्मावती का नाम है किन्तु उसके प्रतीक का कोई निर्देश नही। इसके अनन्तर अवश्य इस देवी के प्रतीक सम्बन्धी अनेक विस्तृत विधान मिलते हैं। पर वे सब भट्टारक परम्परा के परिणाम है, उनमें से एक भी ऐसा नही जो इस प्रतीक का मूल जैन कला मे होना सिद्ध कर सके।

२. अम्बिका पूर्व जन्म मे अग्निला नाम की ब्राह्मणी थी। एक बार उसने निमन्त्रित ब्राह्मणो के पहले एक जैन मुनि को भोजन करा दिया इस पर नाराज होकर उसके पति सोमशर्मा ने उसे उसके पुत्र शुभकर और प्रभकर के साथ घर से निकाल दिया। वह गिरिनगर पर्वत पर एक अमराई मे पहुची जहा उसके पुत्रो के लिए एक आम्रवृक्ष असमय मे ही इसलिए फल गया कि उसने मुनि को भोजन कराया था। इसी समय गिरिनगर ग्राम मे आग लग गयी जिससे पूरा ग्राम भस्म हो गया। केवल शोमशर्मा का घर बच रहा। सोमशर्मा ने समझा कि इस अतिशय का कारण अग्निला ने समझा कि वह उसे और कष्ट देने आ रहा है अत वह दोनो पुत्रो के साथ पर्वत से कूद कर मर गयी। उसके वियोग से विह्वल होकर सोमशर्मा भी मर गया और सिह बन कर अग्निला के वाहन के काम आने लगा जो अब अम्बिका के नाम से बाइसवे तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षी बन चुकी थी।[७] अम्बिका की प्राचीनतम मूर्तिया मथुरा से प्राप्त हुई है। इनका निर्माण काल दूसरी से सातवी शती तक माना जाता है।[८] इन मूर्तियो का निर्माण एक आकस्मिक घटना थी क्योकि इन शताब्दियो मे मथुरा के बाहर कही इस देवी की मूर्तिया नही बनी और इसके प्रतीक का विधान भी इस समय तक के साहित्य मे नही मिलता।

३ सच्चिया माता वस्तुत महिषासुरमर्दिनी है। इसके जैनीकरण की कथा बहुत महत्त्वपूर्ण

---

६. (१) भावदेव सूरि पार्श्वनाथ चरित्र, ६, ५०.६८।
(२) आचार्य गुणभद्र : महापुराण (उत्तर पुराण), ७३, १३६,४०।

७ (१) वादिचन्द्र सूरि अम्बिका कथा।
(२) बप्पभट्ट सूरि चतुर्मशतिका, अम्बिका देवी कल्प। आदि।

८ डा० वासुदेव शरण अग्रवाल मथुरा म्यूजियम केटलाग, भाग ३, पृ० ३१,३२, ५५,६७।

खण्ड ४

इतिहास एवं पुरातत्व

३४

सराक (श्रावक) संस्कृति और हम

□ बाबूलाल जैन जमादार

जैन धर्म अति प्राचीन धर्म हे, इसे अब सभी मनीषी विद्वान डके की चोट कहने लगे है। जो लोग भ० महावीर स्वामी को जैन धर्म का प्रर्वतक, प्रचारक-प्रसारक मानते थे वह भी अब अपनी भूल सुधार रहे है। भगवान पार्श्वनाथ स्वामी भ. महावीर स्वामी से पूर्व हुए हैं, और भगवान पार्श्वनाथ स्वामी से पूर्व भ० नेमीनाथ स्वामी हुए है। भ० ऋषभदेव स्वामी सर्वप्रथम वर्तमान चौवीसी मे हुए है। यह सब मानते है और मानने लगे है।

श्रमण सस्कृति और वैदिक सस्कृति का प्रचार-प्रसार एक साथ हुआ है ऐसा बहुत से मनीषी मानते है लिखते है लेकिन जैन धर्म मे प्रधानता श्रमण सस्कृति की हे। अध्यात्मवाद उसका मूल धन है, उसी की उपसना भक्ति उसका भक्त करता हे। भौतिकवाद से जैन धर्म धर्मात्मा की रक्षा करता है। भगवान ऋषभदेव व उनके बडे पुत्र चक्रवर्ति भरत तथा कामदेव बाहुबलि के पास भौतिक पदार्थो की क्या कमी थी लेकिन उन्हे रचमात्र भी सुख न मिला और मिला सघर्ष, कलह, विद्वेष तथा अलगाव।

उस धन और धरा का क्या उसे अपनो को अपनो से विलग कर दे और अपने धर्म बन्धुओ को विस्मरण करा दे उसे यदि कोई धर्म का प्रसाद कहे तो मात्र उसे वाचयालया वावला ही कहना चाहिए। क्योकि उसने वात्सल्य धर्म और स्थितिकरण अंग को समझा ही नही, जाना ही नही। वह तो मात्र भौतिकता का पुजारी है। भौतिक पदार्थो मे आनन्द मानने वाला ससारी है।

लेकिन अध्यात्मवाद का वेत्ता, श्रमण सस्कृति का उपासक शरीर को गुलाम बनाता है। स्वय उसके आधीन नही होता, वह शरीर से आत्म रक्षा करता हुआ पर की रक्षा मे तत्पर रहता है। छहखड का धनी हो, बलभद्र हो, नारायण हो, कामदेव हो कोई भी हो वह प्रतिक्षण अपनी सुध रखता है और दूसरे की सुध रखता हुआ जीवन यापन करता हे। यदि अपनी सुध भूल जावे और बाहरी दुनिया मे ही खो जावे तो उसका जीवन भी भारमय तथा कष्टमय ससारी हो जाता है। अध्यात्मवाद की शरण मे वह जल से भिन्न कमल के समान रहता है। देश रक्षा, देश निर्माण, युद्ध विजय हार आदि सभी भोगता है और सभी षट् कम करता है पर उसमे रचता पचता नही है, उसे खिलाडी के समान खेल कर भूल जाता है और अपनो स्वय की दशा का बोध करके उस अनन्त ससार से हटना चाहता है जहा अनन्त काल से दु ख भोगता आया है। उस दु ख मे आनन्द लेता वह अपनी श्रमण परम्परा को एक क्षण भी नही भूलता और उसी की रक्षा व सेवा सम्भाल मे पुरुषार्थ करता रहता है। श्रमण

जहा गूंजती थी उसके विपरीत नर सहार और पशु वध, वलि और क्रियाकाड की गूज भी भटके चरणो के पथिको द्वारा गूंज रही थी । हिसा अहिंसा का द्वन्द एक साथ चलने लगा । जैसे भ० आदि नाथ (ऋषम देव स्वामी) के समय मे वावा और पौते के मार्ग का प्रचलन चला था ।

अहिंसा पर हिंसा सदेव हावी होती रही हे पर जीत अहिसा की ही होती आई है । कुछ समय को हिंसा अपना एक क्षेत्र राज्य करती है पर अहिंसा धीरे धीरे हिंसा का सिहासन हिला देती है और स्वयं विराज जाती है ।

भ० महावीर के निर्वाण होते ही और उनके गणधरो का निर्वाण होते ही इस भूमडल पर धर्म समाज जाति के नाम पर जो कत्ले आम हुआ उसे समय के भोगी तो जानते ही थे इतिहास, कारो ने भी नही भुलाया । सम्राट अशोक का कत्लेआम मचाना, जैनियो का वघ करना, वैशाली के राज प्रासादो और राजकुमारो का वध करना, नर-नारियो का वध और भावी पीडी का वध आदि ऐसे कुकृत्य हुए जिन्हे पाकर सुनकर रोगटे खडे हो जाते है । फिर शकराचार्य के आक्रमण, मुगलो के आक्रमण, शैवो का आक्रमण, और यहुदियो के आक्रमण आदि ऐसी दुर्घटनाये यहा के श्रावको को छिन्न भिन्न कर रही । धन्य है उन श्रावको को सराको को जिन्होने अपनी समस्त सम्पत्तिया विपत्तियो के सामने त्याग दी अपने परिवार के लोगो को मीत के मुह मे दे दिया । अपने बाल-बच्चो को धर्म की रक्षा मे बलिदान कर दिया । सभी कुछ त्याग किया लेकिन अपना पावन जैन धर्म (श्रावक धर्म) नही छोडा । अपने देवालयो की जिन मूर्त्तिया भोहरो (तहखानो) मे छिपा आये । नदी, पहाडो की तलहटी मे जा वसे पर धर्म न त्यागा ।

बिहार, बगाल, उडीसा इन तीन प्रान्तो मे यह श्राउक (सराक) ५ लाख की सख्या मे अभी भी विद्यमान है । इनकी रहन सहन खानपान आज भी शुद्ध है । इनके आचार विचार आज भी पवित्र है । इनकी बोल चाल आज भी सही व प्रमाणिक है । सभी खेतीहर है वह भी धान्य की उपज करने वाले है । भगवान ऋषभ देव द्वारा जो ग्रहस्थो की षट् कर्म करने का उपदेश था उसे आज भी यह लोग अक्षरश, पालन करते है । इन तीन प्रान्तो मे घूमने पर हमे ऐसा लगा मानो हम पुन अपने बचपन मे लौट आये हो । क्योंकि जो खाते हमारी मा हमारे जीवन मे घर पर ढालती थी वह सभी यहा इस काल मे इस समय मौजूद है । हमे ऐसा लगा कि असली जैन यह है हमतो दिखावे मात्र है ।

प्रात उठकर ऊ अर्ह ऊ नम सिद्धेभ्य ऊं जय जय, ऊ वीतरागय नम ऊं देवाय नम. ऊँ ब्रह्मेयनम आदि का घर घर मे उच्चारण है । सूर्योदय के एक घटा वाद नाश्तापानी शुद्ध होता है । जल छान कर पीते है । भोजन शाला की पवित्रता पूरी पूरी रखते हैं । वगैर स्नान किए भोजन पानी नही, न चौके मे स्त्री वगैर शुद्ध वस्त्र पहने जावेगी ।

मुनियो का आहार समय पर जल से भरे कलष लेकर और वे पुरुष द्वार पर खडे होगे और जल छोड कर माथा झुका कर अन्दर जावेगे । घर के वयोवृद्ध पुरुष को प्रथम भोजन कराया जावेगा । चन्देवा घर घर मे बन्ध होगा ।

प्याज, लहसुन, अयक्ष्य पदार्थो का सेवन नही है जहा वह सभी भोजन भी नही होता । पर्व तिथियो मे उपवास, एकासन, नियम आदि का प्रचलन है । सामाजिक मर्यादा ये है जिनमे, साथ ही वाजार का भोजन नही लेगे । अपनी जाति के भाइयो के हाथ का भोजन करेगे ।

३५

जैन साहित्य एवं संस्कृति का केन्द्र राजस्थान

☐ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

राजस्थान के नाम के साथ वीरता, शौर्य देश-भक्ति एव आत्म बलिदान की कहानिया जुडी हुई है। मध्य काल मे इस प्रदेश ने देश का नेतृत्व ही नही किया किन्तु अपने पीछे ऐसे सस्मरण छोडे जिन्हे भारतीय इतिहास मे सदा एव सर्वदा स्मरण किया जाता रहेगा। वास्तव मे राजस्थान उन सपूतो का देश है जिन्होने मातृभूमि की रक्षा मे अपने प्राणो की कभी परवाह नही की। यह उन देश भक्तो का प्रदेश है जिन्होने अन्याय, अत्याचार एव अमानवीय कष्टो के आगे कभी झुकना अथवा आत्म समर्पण करना नही सीखा और देश हित को सर्वोपरि माना। महाराणा सागा, हम्मीर, महाराणा प्रताप, अमरसिंह जैसे वीर देश भक्तो को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया किन्तु राजस्थान वीरता के साथ साथ साहित्य, कला एव भारतीय मे सस्कृति को जो आश्रय मिला वह किसी भी प्रदेश के लिये स्पृहणीय हो सकेगा। यहा के वीर तोपो की गडगडाहट एव तलवारो की चकाचौध के मध्य मे भी साहित्य एव कला के विकास मे अपना योग देते रहे और अपने अपने दरबारो मे इनकी महत्ता को कभी कम नही होने दिया।

राजस्थान मे वैदिक एव श्रमण सस्कृतिया साथ साथ रह करके भी खूब फली फूली। दोनो ही एक दूसरे का सहयोग लेकर अपने अपने विकास क्षेत्र मे आगे बढती रही। इस प्रदेश के इतिहास मे सम्भवत ऐसी कोई वडी घटना नही घटी जब धर्म एव सस्कृति के नाम पर इनके उपासको मे झगडा हुआ हो। यद्यपि यहा के शासक कभी जैन धर्माव-लम्बी नही रहे किन्तु उन्होने श्रमण सस्कृति मे जितना अधिक योग दिया वह किसी भी इसी धर्म वाले शासक कम नही है। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बू दी एव जैसलमेर के राज्यो मे श्रमण सस्कृति एव साहित्य का खूब प्रचार हुआ और आज भी इन मे देशो उनके विकास के उज्वल अवशेष मिलते है।

राजस्थान को किसी तीर्थंकर की जन्म भूमि अथवा उसके पाच कल्याणको मे से किसी एक कल्याण की भी पावन भूमि वनने का सुयोग नही मिला किन्तु वर्तमान मे जैन समाज की प्रमुख खण्डेलवाल जाति का उद्गम स्थान होने का सौभाग्य मिला। खण्डेलवालो की ८४ जातियो का उत्पत्ति स्थान भी इमी के खण्डेला ग्राम को है। कविवर वखतरामसाह ने इस सम्बन्ध मे वडा ही रोचक एव ऐतिहासिक वर्णन दिया है। इसी तरह बघेरवाल जाति का प्रारम्भ बघेरा ग्राम मे हुआ माना जाता है। बघेरा ग्राम आज भी एक सुन्दर एव सास्कृतिक स्थान है। इसके चारो ओर बघेरवाल समाज की अच्छी सख्या है। डूगरपुर के मन्दिर

भ० विजयकीर्ति, ब्रह्म बूचराज, संतकवि यशोधर भट्टारक शुभचन्द्र, सन्त शिरोमणी वीरचन्द्र, सुमतिकीर्ति, कुमुदचन्द्र एवं भ० रत्नकीर्ति के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। वास्तव मे इन सन्तो ने संस्कृत एव हिन्दी साहित्य मे सैकडो रचनायें लिख कर जनसाधारण मे स्वाध्याय की रुचि बनाये रखी। अपभ्रंश के प्रमुख विद्वान महाकवि हरिषेण एव धनपाल दोनो ही राजस्थानी कवि थे और इन विद्वानो ने धम्मपरिक्खा एव भविसयत्त कहा जैसी उच्चकोटि की रचनाये लिख कर अपभ्र श साहित्य की ही सेवा नही की किन्तु भविष्य मे होने वाले साहित्य निर्माताओ के लिये भी एक नई दिशा प्रदान की। राजस्थान की वीरभूमि मे होने वाले हिन्दी एव संस्कृत के विद्वानो की तो एक लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। वास्तव मे समस्त जैन समाज मे जितने भी हिन्दी के विद्वान् हुए उनमे से आधे से अधिक विद्वानो ने राजस्थान प्रदेश को सुशोभित किया। कविवर छीहल, ठक्कुरसी, बूचराज, छीतर ठोलिया, ब्रह्म रायमल्ल, आनन्द धन, हेमराज, जोधराज गोदीका, किशनसिंह दौलतराम कासलीवाल, ऋषभदास निगोत्या, महापडित टोडरमल, जयचन्द छावडा, अजयराजपाटनी ब्रह्म रायमल्ल, दिलाराम, दीपचन्द कासलीवाल, सदासुख कासलीवाल आदि सभी राजस्थानी विद्वान् थे। इसके अतिरिक्त गत सौ वर्षो मे भी राजस्थान मे कितने ही विद्वानो ने जन्म लेकर मा भारती की अपूर्व सेवा की और जिनकी सेवाओ पर समूचे देश को गौरव है। इनमे श्रद्धेय पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ की साहित्यिक सेवाये महत्त्वपूर्ण हैं। उनका अकेला जैन दर्शनसार ही एक ऐसी कृति है जिसकी तुलना मे सस्कृत भाषा का गत २०० वर्षो मे दर्शन का ऐसा कोई ग्रन्थ नही लिखा गया।

राजस्थान में रचित साहित्य

अभी मैंने पहिले राजस्थान मे होने वाले आचार्यो एव विद्वानो को साहित्यिक सेवाओ का उल्लेख किया था। इन आचार्यों एव विद्वानो ने राजस्थान प्रदेश मे ही रह कर जो साहित्य का नव निर्माण किया और अपनी कृतियो से ग्र थ सग्रहालय को आप्लावित किया वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। प्राकृत भाषा की महत्वपूर्ण कृति जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति का निर्माण संवत ८०५ मे वारा नगर मे हुआ। पडित राजमल्ल ने समयसार की हिन्दी टीका राजस्थान के वैराठ नगर मे समाप्त की थी। इसी टीका को देखकर महाकवि बनारसी दास ने समयसार नाटक की रचना करने की ओर प्रवृत हुए। बनारसीरदास ने अपने समयसार नाटक मे राजमल्ल के प्रति निम्न शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की हैं।

"पाण्डे राजमल्ल जिन धर्मी
समयसार नाटक के ममी"
तिन्हि ग्रंथ की टीका कीनी
बालावोध सुगम कर दीनी।

इसी तरह नगर मे ही भट्टारक सोमसेन ने सस्कृत के पद्मपुराण की रचना समाप्त की थी। भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के शिष्य पं. जगन्नाथ ने नक्षकगढ मे कितने ही ग्र थो का निर्माण किया। हिन्दी की तो सैकडो रचनाये राजस्थान के विभिन्न भागो मे लिखी जाती रही। हिन्दी काव्यो के लिए १७वी शताब्दी तक वागड प्रदेश रचना भूमि रही उसके पश्चात हिन्दी रचनाओ की प्रमुख रूप से आमेर, सागानेर, टोडाराय सिंह, बसवा, जयपुर, अजमेर, नागौर, बू दी, उदयपुर, जालौर, सौजत आदि नगर केन्द्र बन गये और यही से सारे देश के लिए साहित्य सर्जना होती रही। कविवर दौलत राम एव महापडित टोडरमल के पश्चात् तो जयपुर

कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवास हुआ है। अजमेर की भट्टारक गादी सर्वाधिक प्राचीन है। सर्व प्रथम भ. अनन्तकीर्ति का उल्लेख आता है जो सवत १२६४ मे अजमेर पद पर बैठे थे। इनके पश्चात् वहा और भट्टारक हुए। वास्तव मे ११वी शताब्दी से १७वी शताब्दी तक अजमेर का अत्यधिक महत्व रहा और यहा पर होने वाले भट्टारको ने श्रमण सस्कृति की करने रक्षा मे अपना अपूर्व योग दिया। आज भी वहा भट्टारक गादी है। उधर डूगरपुर, सागवाडा, गलियाकोट एव ईडर मे अनेक भट्टारक हुए। बागड प्रदेश के भट्टारको मे भट्टारक सकलकीर्ति सबसे प्रसिद्ध थे। इनके पश्चात ये भट्टारक ईडरशाखा, भानुपुर शाखा सूरत शाखा आदि विभिन्न शाखाओ मे विभाजित हो गये और राजस्थान एव गुजरात मे साहित्य एव सस्कृति की महान् सेवाये की। भ.ज्ञान भूपण, शुभचन्द्र, कुमुदचन्द्र, रत्नकीर्ति, विजयकीर्ति, सोमकीर्ति, ज्ञानकीर्ति जैसे समर्थ भट्टारको का जीवन निर्माण इन्ही भट्टारक गादियो मे हुआ जिन्होने ग्राम नगर एवं प्रदेश विहार करके जनता को आध्यात्मिक खुराक के साथ साहित्यिक क्षेत्र मे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया। वास्तव मे इन्ही भट्टारको की कृपा एव आशीर्वाद से ब्रह्म जिनदास, ब्र. रायमल्ल पाण्डे राजमल्ल, पं. जगन्नाथ, महाकवि रइघू, बूचराज, नेमिचन्द्र, अजयराज पाटनी, बखतराम साह जैसे साहित्य सेवियो को तैयार कर सके।

ग्रंथ भण्डार

राजस्थान अपने ग्रन्थ भण्डारो के लिए भी प्रसिद्ध है। यहा के शासको एव सामान्य जनो ने दोनो ने ही ग्रन्थो की सुरक्षा की और ध्यान दिया और अपने–अपने नगरो मे राज्यस्तर एवं जनस्तर पर ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की गई। राजस्थान मे दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनो ही समाजो ने एव उसके साधुओ ने इन ग्रन्थ सग्रहालयो की ओर विशेष ध्यान दिया। दिगम्बर समाज के भट्टारक एव श्वेताम्बर समाज के श्री पूज्य एव यतियो ने अपने–अपने केन्द्रो मे ग्रन्थ भण्डारो की स्थापना की और उनमे विना किसी भेद भाव के अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने एव जगत् को ज्ञान दान देने की दृष्टि से इन भण्डारो मे सभी विपयो के ग्रन्थो का सग्रह दिया। इन्ही साधुओ एव विद्वानो की कृपा से आज राजस्थान ग्रन्थ भण्डारो से भरा पडा है। छोटे-छोटे गावो तक मे इन भण्डारो की स्थापना की हुई हैं। ये ग्रन्थ भण्डार जयपुर, अजमेर, नागौर, जैसलमेर, बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर, डीग, कामा, टोडारायसिंह, उदयपुर, डूगरपुर, ऋषभदेव, फलोदी, आहोर, मोजमाबाद, किशनगढ, कुचामन, सीकर, फतेहपुर, सवाईमाधोपुर, कोटा, बूदी, नेणवा, दबलाना आदि न जाने कितने कस्बो एव नगरो मे ये ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये हुए है। मैंने अपने शोध प्रबन्ध लिखने के प्रसंग मे राजस्थान के १०० भण्डारो का अध्ययन किया, उनकी सूचिया तैयार की और अप्रकाशित एव महत्वपूर्ण ग्रन्थो के नोट्स आदि लिए। लेकिन अभी राजस्थान मे इतने ही भण्डार और होगे जिनको अभी किसी भी विद्वान द्वारा नही देखा जा सका है और हो सकता है उनमे साहित्य कितनी ही अमूल्य निधिया छिपी पडी हो। राजस्थान मे अकेले जैन ग्रन्थ सग्रहालय मे ३ लाख से कम पाडुलिपिया नही होगी।

इन भण्डारो मे ताडपत्र, कागज पर, कपडे पर एव लकडी के पुट्ठो पर लिखे हुए ग्रन्थ मिलते है। ताडपत्र पर सबसे अधिक जैसलमेर के भण्डारो मे है तथा कागज पर सबसे अधिक ग्रन्थ नागौर के भट्टारकीय भण्डार मे है। वास्तव मे यह भण्डार ज्ञान के अपूर्व भण्डार है जिसमे विभिन्न विषयो पर लिखी हुई १५ हजार से भी अधिक पान्डुलिपिया सग्रहीत है।

आया । आगरा मे महाकवि बनारसीदास का बडा प्रभाव था और यह आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध होने लगा । वैसे इसका मुख्य स्थान कामा था । इसके पश्चात यह सागानेर मे आकर जमा और भट्टारक नरेन्द्र कीर्ति के समय मे इसका अत्यधिक जोर बडा । महापण्डित टोडरमल के पश्चात तो इसको इतना वल मिला कि यह थोडे से ही समय मे समस्त उत्तरी भारत मै फैल गया ।

इमी तरह श्वेताबर समाज मे जो तेरह पंथ सम्प्रदाय चला और जिसके श्री तुलसी गणि आजकल प्रमुख आचार्य है उसका उद्‌गम स्थान भी राजस्थान ही है । सर्व प्रथम आचार्य श्री भीखण जी महाराज ने इस सम्प्रदाय की स्थापना राजस्थान मे ही की थी । आचार्य श्रीभीखण जी के स्वर्गवास के पश्चात जितने भी आचार्य बने उनमे अधिकाश राजस्थान प्रदेश के ही है ।

उक्त दो प्रमुख आन्दोलनो ने तो समाज को दो विचारधाराओ मे ही विभक्त कर दिया और दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही समाजो मे ही तेरहपंथ विचारधारा की नीव हमेशा के रख दी गयी । श्वेताम्बर समाज मे तो तेरहपंथ एक सम्प्र–दाय के रूप मे ही प्रगट हुआ जिसके अनुयायी सारे देश मे फैले हुए है ।

प्रमुख अतिशय क्षेत्र

यद्यपि राजस्थान मे २४ तीर्थकर मे किसी भी तीर्थकर का जन्म, तप, ज्ञान एव निर्वाण कल्याणक नही मनाया गया । और न किसी भी तीर्थकर ने अपनी चरण रज से इस प्रदेश को पावन किया फिर भी यहा कितने ही अतिशय क्षेत्र है जिनकी कीर्ति प्रसिद्धि एव लोकप्रियता सारे देश मे विख्यात है । ऐमे क्षेत्रो मे दिगम्बर जेन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है । यह एक–ऐसा क्षेत्र है जहा प्रति-वर्ष लाखो की सख्या मे यात्रीगण आते है । देश का धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त जहा सैकडो वर्षो पहिले से ही जीवन मे उतारा जा रहा है । अति-शय चादखेडी का अभ्युदय सवत १७४६ मे हुआ । इस समय यहा हजारो की संख्या मे मूर्तिया प्रतिष्ठापित हुई थी जो आज राजस्थान के विभिन्न मन्दिरो मे विराजमान है । नदी के किनारे पर स्थित यहा का मन्दिर अत्यधिक विशाल एव सुन्दर है । अतिशय क्षेत्र ऋषभदेव की प्रसिद्धि सारे भारत मे व्याप्त है । यहा का विशाल मन्दिर शिखर एव भगवान आदिनाथ की प्रतिमा दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करती है । उक्त दोनो के अतिरिक्त दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पद्‌मपुरा, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र तिजारा, अतिशय क्षेत्र चमत्कार जी नस सवाईमाधोपुर आदि और भी क्षेत्र है जिन्हे हम श्रमण सस्कृति के केन्द्र कह सकते है ।

प्रमुख नगर

राजस्थान के सभी प्रमुख नगर जैन साहित्य एवं संस्कृति के केन्द्र है । जहा के रहने वाले जैनो की संख्या भी देश के अन्य नगरो की अपेक्षा अत्य-धिक है । जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, अजमेर, बूदी, कोटा, नागौर, लाडनू, सुजानगढ, सरदारशहर, भरतपुर, सीकर आदि कुछ ऐसे नगर है जिनमे वडी वडी जैन वस्तिया है और जिनके आधार पर राजस्थान मे इस संस्कृति की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

●●●

एक बेल के वृक्ष के निकट नवनिमित चबूतरे पर विराजमान है। यह चबूतरा सम्प्रति दो फुट तीन इ च ऊ चा, छह फुट नौ इ'च लम्बा और आठ फुट तीन इ'च चौडा है। इसी चबूतरे के मध्य मे कुछ पुराने मूर्तिखण्डो और अन्य शिलाखण्डो के सहारे उक्त तीर्थंकर प्रतिमा टिकी हुई है।

भगवान् ऋषभनाथ की यह प्रतिमा किंचित् हरिन् वर्ण, चमकदार काले पाषाण से निर्मित है। यह पत्थर वैसा ही है जैसा कि खजुराहो की मूर्तियो के निर्माण मे प्रयुक्त हुआ है। मूर्तिफलक की ऊ'चाई दो फुट तीन इ च, चौडाई एक फुट दो इ च तथा मौटाई छह इ च है। पद्मासनस्थ इस जिन प्रतिमा के छह इ च ऊ'चे पादपीठ मे (दोनो ओर) शार्दूलो के मध्य झूलती हुई मणिमाला के बीचो बीच तीर्थंकर का लाञ्छन वृषभ बहुत सुन्दरता से अ'कित है। इसके ऊपर बाये एक श्रावक दाये एक श्राविका अपने हाथो मे फल (कदाचित् नारियल) लिए हुए भक्तिविभोर और श्रद्धावनत हो उठे है। कदाचित् ये आकृतिया मूर्ति-समर्पको या प्रतिष्ठापको की होगी। पादपीठ मे ही दाये गोमुख यक्ष तथा बाये चक्रेश्वरी यक्षी की लघु आकृतिया अ'कित है।

पादपीठ पर से मुख्य मूर्ति एक फुट तीन इ'च ऊ ची एव एक दो इ च चौडी है। मूर्ति मे श्रीवत्स का लघु आकार मे अ कन, क धो तक लटकती हुई केशराशि तथा पृष्ठभाग मे चक्राकार भामण्डल विशेष उल्लेनीय हे। मूर्ति के शिरोभाग पर क्रमश तीन छत्र इस भव्यता और चारुता से उत्कीर्ण किये गये हैं कि उनमे गु था हुआ प्रत्येक मणि साकार हो उठा हे। छत्रत्रय के दोनो पार्श्वो मे भगवान का मानो अभिषेक करने हेतु अपने शु डादडो मे कलश लिए हुए, अत्यन्त सुसज्जित गजराजो का मनोरम निदर्शन दर्शको का मन सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।

मुख्य मूर्ति के उभय पार्श्वो मे अशोकवृक्ष के नीचे तीन-तीन इ च की दो-दो (प्रत्येक ओर) तीर्थंकर मूर्तिया और भी अ कित है। इन सबके पृष्ठ भागो मे प्रभामण्डल तो है ही, कंधो पर केशराशि भी दिखाई गई है।

यद्यपि इस मूर्ति पर कोई लेख नही है तथापि समसामयिक कला और मूर्तिगत विशिण्ट लक्षणो के आधार पर इसका निर्माण काल ईस्वी सातवी आठवी शती प्रतीत होता है। इस समय महाकोशल मे जैनधर्म एक शक्तिशाली धर्म के रूप मे समादृत था और कलचुरि वश के शासको ने इसे पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया था। विवेच्य प्रदेश कलचुरियो की राज्यसीमा मे विद्यमान था।

दु ख का विषय है कि कुछ वर्ष पूर्व किसी पागल ने इसे खण्डित कर दिया। किन्तु मूर्ति के तीनो खण्ड सुरक्षित हैं तथा अच्छी स्थिति मे है।

यद्यपि इस मूर्ति के आसपास के ग्रामो मे अब एक भी जैन नही है। तथापि उस प्रदेश को जैनेतर जनता इसे बहुत श्रद्धा और भक्ति के साथ पूजती है। प्रत्येक मंगलकार्य के प्रारम्भ मे वे बहुत आदर के साथ इसे स्मरण करते है तथा यथाशक्ति घी, दूध, नारियल, सुपाडी, फूल, फल तथा अगरबती अर्पित करते है। नौदुर्गा के अवसर पर एक बडे मेले का आयोजन भी यहा होता है। इस मूर्ति के महत्व के सम्बन्ध मे निकटवर्ती ग्राम कठकोना के प्रमुख, भूतपूर्व जमीदार का जबानी व्यक्तत्व सुनिए, जो अपने पूरे गाव की ओर से इस मूर्ति की उपासना करने आया था। उसी के शब्दो मे प्रस्तुत है —

"हमारा गाव भुरतू बलद काशीराम है। मोर उमर ६५ साल की हे। हम ई गाव के जमीदार

३७

दिल्ली के जैन मंदिरों संबन्धी महत्वपूर्ण विवरण

☐ अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म का प्रचार तीर्थकरो और आचार्यो आदि ने किया पर मुनिजनो का सब समय सब जगह पहुचना सम्भव नही होता और धर्म प्रचार का विषय ऐसा है कि थोडी-सी छूट मिल गई या लम्बा समय यो ही चला गया तो लोगो मे शिथिलता आ जाती है इसीलिये धर्म को पागले की उपमा दी है कि वह स्वय चल नही पाता उसे चलने के लिए किसी के सहारे की जरूरत होती है। सस्कृत मे भी कहा गया कि 'न धर्मो धार्मिकै विना' अर्थात् धार्मिक जनो के बिना धर्म का स्थायीत्व और प्रचार नही हो पाता। जैनाचार्यो ने इस बात का खूब अच्छी तरह अनुभव करके निरन्तर धार्मिक प्रेरणा प्राप्त करने के लिए जैन मूर्ति व मन्दिरो की जगह-जगह प्रतिष्ठा की जिससे साधु-साध्वियो का कुछ समय तक कही पधारना नही हो तो भी जैन मूर्तियो के आलम्बन से लोग धार्मिक भावना को बनाये रखे और धर्म साधना मे उद्यत रहे। दिगम्बर मन्दिरो मे जैन ग्रन्थो का भी सग्रह रखा जाता है। जिससे नियमित दर्शन करने वाले प्रभु के दर्शन-पूजा के बाद कुछ समय स्वाध्याय कक्ष मे बैठकर शास्त्र स्वाध्याय व चर्चा करते हुये धार्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि करें। और साथ ही धार्मिक क्रियाओ मे दत्त-चित्त होकर लगे रहे।

धार्मिक जनो के लिए दैनिक ६ कार्यो का आवश्यक बतलाया गया जिसमे पहला है देव पूजा जो पूजा नही कर सके वह कम-से-कम दर्शन तो नित्य नियमित रूप से करे—इसी विधान के कारण गाव-गाव मे जैन मन्दिर बने व मूर्तिया स्थापित हुई। महापुरुषो का जहा जन्म हुआ, दीक्षा ली, केवल्य और निर्वाण प्राप्त किया—ऐसे स्थानो को 'कल्याणक भूमि' कहा जाता है। पहले-पहले ऐसे स्थानो मे उनके स्मारक बने जो आगे चलकर तीर्थ कहलाये। क्रमश जैन तीर्थो का विस्तार होता गया। जहा-जहा भी अच्छे पर्वत और सुन्दर प्राकृतिक स्थल थे वहा जैन मन्दिर बने उनमे से कुछ मूर्तिया बडी चमत्कारी मानी जाने लगी। इस तरह अतिशय क्षेत्र के रूप मे बहुत से तीर्थ क्षेत्र मान्य हुए। जनता की भक्ति-भावना के केन्द्र बने। हजारो लाखो यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान के तीर्थो की यात्रा करने लगे। बीच-बीच मे तीर्थ-यात्रा के लिए सघ निकले। मध्यकाल मे जैन तीर्थ भक्ति-भावना के केन्द्र ही नही पर मनोज्ञ एव दर्शनीय कला धाम भी बने। बहुत-से स्थान तो उजड गये पर वे तीर्थ और मन्दिर कायम रह गये। इसलिये हजारो यात्री आज भी भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक तीर्थ यात्रा के लिये पहुचते हैं। समय-समय पर तीर्थ यात्रा करने वालो

फिर कष्टासघ, पुष्करगण, के देवेन्द्रकीर्ति पट्टधर जगतकीर्ति पट्टे ललितकीर्ति और उनके पट्टधर मुनिकीर्ति के हकदार होने का उल्लेख किया गया है। धर्मपुरे का प्रथम मन्दिर पचायती का मन्दिर है।

तदनन्तर हरसुखराय के नये मन्दिर का वर्णन करते हुए लिखा है अथ हरसुखरायजी नये मंदिरजी का बयान और पडितो की शैली का जिकर। यह मन्दिर तेरहपथ की शुद्ध आमनाय का धर्मपुरे मे है। इस मन्दिर के चार पडितो का उल्लेख महत्वपूर्ण है।—

पडित गोपालराय सहार्मा, दोनूं मथरादास है नामी।
बनारसीदास बडे गुणधामी, च्यारौं कहिये भद्र प्रणामी ॥

इसके बाद शैली के (स्वाध्याय मण्डली) श्रोताओ मे लाला बलदेव सहाय, पारसदास, दिलसुखराय, धर्मदास, समनलाल, चिमनलाल राय किशोरीलाल, पिशोरीलाल लाला रगीलाल का उल्लेख है।

तीसरा मन्दिर पाथडीवाले सौदागरमल प्यारेलाल का चैत्यालय धर्मपुरे मे सम्भवनाथजी का है। नये मन्दिर मे अजितनाथ जी के मन्दिर का उल्लेख किया गया है। अब प्रत्येक मन्दिर सम्बन्धी पद्यो के पहले गद्य मे जो सक्षिप्त विवरण दिया गया है वह दिया जा रहा है—जिससे कौन मन्दिर कहा है व किसका बनाया हुआ—इसकी सूचना मिल जाती है—

४. भौदूमल के चैत्याले का जिकर जो धरमपुरे मे है।
५. सनेहीलाल रामप्रसादजी के चैत्याले का जिकर जो अनारकली की गली मे है।
६. सतधरे मे इसका लालाजी के चैत्याले का जिकर अनारकली की गली मे
७ सेठ के कूचे का पचायती मन्दर तथा इन्द्रराज जी के मन्दिर का जिकर
८. इन्द्रराज जी के चैत्याले का जिकर
९. बुलाकी बेगम के कूचे का मन्दर लाल किले के नीचे उडदूबाजार मे
१० दरीबा बाजार के पाश खुशानन्द के कूचे मे सालग्राम मथुरादासजी खजानचीयो के चेत्याले का जिकर.
११ साहबराम द्वारकादासजी वाला चैत्याला दरीबें सुखानन्द के कूचे मे
१२ मीमामलजी का चैत्याला सुखानन्दजी के कूंचे मे
१३ दिल्ली दरवाजे का मन्दिरजी.
१४ कुतुबवाली घाटी अन्दर
१५ सैद फिरोज के बगलें शहादतखा की नहर पर मन्दिरजी का जिकर
१६ खुसहालराय के कटले मे लाला श्यामलाल चिरजीलाल भगवानदास ईश्वरीप्रसाद की हवेली मे पुस्तैंन चैत्यालय।
१७ धीरज की पहाडी का शिखरबन्द मन्दिर जिन और धर्मशाला का बयान सदर बाजार मे
१८ धीरज की पहाडी का शिखर मन्दर जिन मन्दिर शर्मशाला का बयान सदर बाजार मे
१९. जैसिहपुर का मन्दिर हरसुखरायजी वाला
२०. खडेलवालो का पचायती दूजा मन्दर जो जैसिहपुरे मे है।
२१. इक्कीसवा मन्दिर प्रतिष्ठा मजरी मे वर्णन कर चुके हैं

३८

महावीर और श्रेणिक के देहांत का समय

□ मिलाप चन्द कटारिया

हरिवन्श पुराण मैं वीरनिर्वाण के समय राजा श्रेणिक मौजूद थे ऐसा उल्लेख है और हरिषेण के कथाकोष मे कथा न० ५५ मे वीर निर्वाण के पीछे चार वर्ष बाद सख्या श्रेणिक की,मृत्यु लिखी है। हमने इन्ही उल्लेखो के आधार पर "राजा श्रेणिक का आयुष्य काल" इस शीर्षक के लेख मे श्रेणिक की आयु १०७ वर्ष करीब होने की लिखी थी । वह लेख अनेकान्त पत्र मे प्रकाशित हुआ था। किन्तु बौद्धशास्त्रो से उक्त उल्लेखो का मेल नही बैठता है। बौद्ध ग्रन्थो मे श्रेणिक की मृत्यु के २५ वर्ष बाद भगवान् महावीर का निर्वाण माना है।

बौद्ध आगमो मे लिखा है कि "श्रेणिक की मृत्यु होने पर उसका पुत्र अजातशत्रु राजगद्दी पर बैठा। उससे ८ वर्ष बाद बुद्ध का निर्वाण हुआ बुद्ध निर्वाण से १७ वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। बुद्ध की कुल आयु ८० वर्ष की थी और महावीर की ७२ वर्ष की। श्रेणिक का जन्म हुआ तब बुद्ध ५ वर्ष के थे। यानी श्रेणिक से बुद्ध ५ वर्ष बडे थे। और महावीर से श्रेणिक २० वर्ष और बुद्ध २५ वर्ष बडे थे। कुल उम्र श्रेणिक की ६७ वर्ष की थी। बुद्ध ने अपनी २६ वर्ष की उम्र मे गृह त्याग किया और छह वर्ष बाद ३५ वर्ष की उम्र मे उनको बोधिलाभ हुआ। महावीर ने ३० वर्ष की वय मे गृह त्याग किया और उन्हे ४२ वर्ष की अवस्था मे केवलज्ञान हुआ। उस वक्त बुद्ध की उम्र ६७ वर्ष की थी। दोनो ही बोधिलाभ के बाद १३ वर्ष तक प्रतिद्वंद्वी के रूप मे अपना अपना धर्म प्रचार करते रहे।"

बौद्ध शास्त्रों के इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि महावीर के मोक्ष पधारने से २५ वर्ष पहिले ही श्रेणिक की मृत्यु हो चुकी थी। और जब महावीर को ४२ वर्ष की उम्र में केवल ज्ञान हुआ तब श्रेणिक की उम्र ६२ वर्ष की थी। और चूंकि श्रेणिक की ६७ वर्ष की उम्र मे मृत्यु हुई, अत: महावीर को केवल ज्ञान हुए बाद सिर्फ ५ वर्ष तक ही जीवित रहे। श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की होने का हिसाब यह है—बुद्ध का जब ८० वर्ष की आयु मे निर्वाण हुआ उससे ८ वर्ष पहिले श्रेणिक के देहात होने पर उसका पुत्र कुणिक राजगद्दी पर बैठा था। ८० मे से ८ घटाने पर ७२ वर्ष की उम्र जब बुद्ध की थी तब श्रेणिक का मरण हुआ। और उस मे बुद्ध श्रेणिक से ५ वर्ष बडे थे। इस प्रकार श्रेणिक की कुल उम्र ६७ वर्ष की होती है। जब ३५ वर्ष की अवस्था मे बुद्ध को बोधिलाभ हुआ तब बौद्ध मतानुसार श्रेणिक की उम्र ३० वर्ष की थी। दि० जैन कथा को लेकर अनुमानतः

की उक्त ३३ वर्ष की उम्र मे रुद्रका यह ३६ वर्ष का काल जोडने पर श्रेणिक की आयु उस वक्त तक ७२ वर्ष की होती है। अर्थात् महावीर को केवलज्ञान हुआ तव तक श्रेणिक की आयु ७२ वर्ष की थी। महावीर को केवल ज्ञान उनकी ४२ वर्ष की वय मे हुआ था यह विदित ही है। इससे सिद्ध होता है कि—महावीर से श्रेणिक ३० वर्ष वडे थे; रुद्र के इस उपसर्ग का कथन गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण मे भी किया है।

अव हमको जैनशास्त्रो से यह देखना है कि महावीर को केवलज्ञान हुए वाद श्रेणिक कितने वर्ष तक जीवित रहा।

एक समय जव भगवान् विपुलाचल पर पधारे थे तो उनसे श्रेणिक ने पूछा था कि—इस काल मे अन्तिम केवली कौन होगा ? और वह कहा होगा ? उत्तर मे भगवान् ने कहा था कि "यह जो अभी विद्युन्माली देव यहा दिख रहा हे इसीका जीव तेरी इसी राजगृही नगरी मे आज के ७ वें दिन एक सेठानी के गर्भ मे आवेगा। उसका नाम जंवू होगा और वही अंतिम केवली होगा।" इसी तरह वर्णन सघदासगणिकृत "वसुदेवहिंडी" ग्रंथ मे भी पाया जाता है। इस ग्रंथ का रचना काल विक्रमकी ६ वी शताब्दी के लगभग का वताया जाता है। इस कथन से यह तो स्पष्ट होता है–कि जवू स्वामी के गर्भकाल तक तो महावीर और श्रेणिक दोनो ही जीवित थे। और जव गौतम स्वामी केवली वनकर विपुलाचल पर आये और उनके निकट सुधर्मास्वामी से जंबुस्वामी ने दीक्षा ली तव राजगृह का राजा कुणिक था ऐसा उत्तरपुराण मे लिखा है। इससे प्रगट होता है कि जंवू स्वामी की दीक्षा के वक्त न श्रेणिक जीवित था और न महावीर जीवित थे। अगर महावीर स्वामी उस समय जीवित होते तो कथा मे जम्बू स्वामी की दीक्षा गौतम के निकट न लिखकर महावीर के निकट लिखते। और उस समय अगर श्रेणिक भी जीवित होता तो उसकी जगह कुणिक का नाम नही लिखते।

यह तो सव जानते ही है कि—जम्वूस्वामी ने यौवनारम्भ मे ही मुनि दीक्षा लेली थी। यौवनारम्भ का काल अगर १७-१८ वर्ष की उम्र मे माना जाये तो कहना होगा कि—श्रेणिक और महावीर दोनो ही जम्बूस्वामी की १७-१८ वर्ष की उम्र के पहले ही गुजर चुके थे। दोनो मे से महावीर के निर्वाण के विषय मे उत्तर पुराण मे ऐसा लिखा मिलता है—

विनीतो यौवनारंभे अप्यनाविष्कृत विक्रिय ।
वीर पावापुरे तस्मिन् काले प्राप्स्यति निर्वृतिम्
।।३८।। पर्व ७६

अर्थ—विनीत जवूकुमार यौवन के प्रारम्भ मे भी काम विकार से रहित होगा। उसी काल मे महावीर स्वामी पावापुर मे मोक्ष पधारेंगे।

इसमे महावीर का निर्वाण काल स्पष्टत जवूकुमार के यौवन के प्रारंभिक समय मे लिखा है। अर्थात् भगवान् की मोक्ष जवूकुमार की १६-१७ वर्ष की उम्र के लगभग हुई थी ऐसा इस कथन से जान जाता है। इस श्लोक मे आये "तस्मिन् काले" का अर्थ कोई कोई जंवू के गर्भ-काल के समय मे ही महावीर का निर्वाण होना कहते हैं वह ठीक नही है। कारण ऐसा मानने से गौतम केवली के निकट जवू की दीक्षा की वात वनेगी नही। क्योंकि जैनागम मे वीर निर्वाण के १२ वर्ष वाद गौतम केवली का निर्वाण माना है। निर्वाण के पहिले ही जवू ने गौतम के निकट दीक्षा ली तव जवू की उम्र (गर्भकाल को छोडकर) १० ११ वर्ष की ही हो सकती है। इस छोटी उम्र मे न तो जवू का सेठानी की पुत्रियो के साथ विवाह हो

(४) बौद्धमत मे महावीर को केवलज्ञान हुए वाद श्रेणिक ५ वर्ष तक ही जीवित रहा । जैन मत मे लगभग १५ वर्ष तक जीवित रहा ।

(५) बौद्धमत मे श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की बतायी है। जैन मत मे ८५ या उससे भी कुछ अधिक वर्षों की होती हे ।

दि० जैन ग्रन्थो मे महात्मा बुद्ध का कही कोई जीवन वृतान्त देखने मे नही आया है। इसलिए बुद्ध की जीवनी जैनमत के अनुसार क्या हो सकती है यह हम कह नही सकते है। बौद्धमत मे जो श्रेणिक की आयु ६७ वर्ष की लिखी है उससे हम को ऐसा आभास होता हे कि शायद श्रेणिक अपनी ६७ वर्ष की उम्र तक ही बौद्धमती रहा हो। तदुपरान्त उसने जैन धर्म ग्रहण कर लिया हो। इस लिये बौद्धो ने उसकी उम्र ६७ वर्ष की ही बतादी हो ताकि आगे का इतिहास ही उसका न रहे।

शील

नारी के आभूषण लज्जाशील है
शोभा नही बढा सकते वाहर के भूषण ।

—अर्हत्

हुए। जनता स्वतन्त्रता से अपने-अपने धर्म का पालन करती हुई सासारिक सुख-शान्ति का उपभोग करती थी। अनेक वरिष्ठ श्रेष्ठि जन राज्य के ग्रामात्य और कोषाध्यक्ष जैसे उच्च पदो पर प्रतिष्ठित रहते हुए निरन्तर राज्य की अभिवृद्धि और अमन मे सहायक हुए। उस समय के ग्वालियर राज्य मे परिस्थिति का सुन्दर वर्णन कविवर रइधू ने पार्श्वनाथ चरित्र मे किया है। उससे उस समय की सुखद स्थिति का अच्छा आभास मिल जाता है।

यहाँ उन भट्टारको का, जिन के नाम का उल्लेख कविवर रइधू के ग्रन्थो और प्रतिष्ठित मूर्ति-लेखो मे उपलब्ध होता है उनका संक्षिप्ति परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है।

१ भट्टारक देवसेन —

काष्ठा सघ, माथुरान्वय बलात्कारगण सरस्वती गच्छ के विद्वान् भट्टारक उद्धरसेन के पट्टधर एव तपस्वी थे। वे मिथ्यात्व रूप अन्धकार के विनाशक, आगम और अर्थ के धारक तथा तप के निलय और विद्वानो के तिलक स्वरूप थे। इन्द्रिय रूपी भुजगो के दलने वाले और गरुड के समान (इन्द्रियजयी) थे[1]। काष्ठा सघ की गुर्वावली मे उन्हे अमित गुणो का निवास, कर्म-पाश के खण्डक, समय के ज्ञायक निर्दोष, ससार की शका के नाशक, मदन, कदन (युद्ध) के विनाशक धर्मतीर्थ के उन्नायक नेता व देवसेन गणी जयवत रहे,[2] ऐसा प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत देवसेन अपने समय के बडे विद्वान थे। इसी से उन के यश का खुला गान किया गया है। इन का समय विक्रम की १४ वी शताब्दी सम्भव है।

दूसरे देवसेन वे है जिन का उल्लेख दूबकुण्ड (चडोम) के मानस्तम्भ के नीचे दो पक्तियो वाले लेख मे पाया जाता है उस मे देवसेन की एक भग्न मूर्ति भी अकित है —

"सवत् ११५२ वैशाख सुदि पचमम्याम्
श्री काष्ठासघे श्री देवसेन पादुका युगलम् ।।"

प्रस्तुत देवसेन किसके शिष्य थे, और इन्होने क्या क्या कार्य किये है यह अभी कुछ ज्ञात नही हो सका। इनका समय विक्रम की १२ वी शताब्दी का मध्यकाल है। यह किसके शिष्य थे और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह कुछ ज्ञात नही हो सका। क्यो कि इनके साथ काष्ठा-सघ का उल्लेख है इसलिये यह जानना आवश्यक है कि यह किसके शिष्य थे।

---

१ मिच्छत्त-तिमिर हरणाई सुहायरु, आयमत्थहरु तव-णिलउ।
णामेण पयडु जणि देवसेणु गणि, संजायउ चिरू बुह-तिलउ ।।
सम्मइ जिन चरिउ प्रशस्ति

इदिय-भुअग णिद्दलण-वेणु—पद्मपुराण प्रशस्ति

२ विज्ञानसारी जिनयज्ञकारी, तत्त्वार्थवेदी वरसंघ भेदी।
स्वकर्मभंगी बुध यूथसगी, चिर क्षितौ नन्दतु देवसेन ।।
अमितगुणनिवास.खडिता कर्मपाश, समयविद कलक. क्षीण संसार-शक ।
मदन-कदनहंता धर्मतीर्थस्य नेता, जयति महतिलीन. शासने देवसेन ।।
—काष्ठासघ मा० गुर्वावली

से मनिराम जाट को प्राप्त हुई थी।[७] जो अब हिसार के मन्दिर मे विराजमान है। जो १४×१० इंच के आकार को लिये हुए है। तीनो मूर्तिया पहाडी मटियाले पाषाण की है। इससे भट्टारक धर्मसेन का समय विक्रम की १५ वी शताब्दी का मध्यकाल जान पडता है।

भावसेन—इस नाम के अनेक विद्वान हो गए है।[८] उनमे प्रस्तुत भावसेन काष्ठासघ माथुरान्वय के आचार्य थे, वे धर्मसेन के शिष्य एव पट्टधर थे। तथा भट्टारक सहस्रकीर्ति के गुरु थे। सिद्धात के पारगामी विद्वान थे, शीलादि व्रतो के धारक, शम दम और क्षमा से युक्त थे। वैभारादि तीर्थ मे हुए प्रतिष्ठोदय मे जिन्होने महान योग दिया था। और जो अपने गुणो की भावना में सदा तन्मय रहते थे।[९] इन का समय विक्रम की १५ वी शताब्दी है।

सहस्रकीर्ति—भावसेन के पट्टधर विद्वान थे। रत्नत्रय के आकर कर्मग्रन्थो के सार विचारक व्रतादिक के अनुष्ठाता और अनेक सद्गुणो से परिपूर्ण थे। अपने समय के अच्छे विद्वान थे।[१०] इनके द्वारा प्रतिष्ठित कोई प्रतिमालेख और ग्रन्थ रचना अभी तक मेरे देखने मे नही आई। अन्वेषण करने पर उनकी प्राप्ति सभव है। इनका समय भी १५ वी शताब्दी है।

---

७ सवत् १४४२ वैशाखवुदी ५ शनौ श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये आचार्य श्री धर्मसेनदेव इन्द्रिमी नाक अग्रोतक वशे सा० जाल्ह सहाय (भा०) जियतो।

८ जिन मे एक भावसेन काष्ठासघ लाल वागड गच्छ के आचार्य थे। गोपसेन के शिष्य और जयसेन के गुरु थे। जयसेन ने अपना धर्मरत्नाकर सन् ९९८ सं १०५५ मे करहाड मे बनाकर समाप्त किया था। अत इन का समय ११ वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिये।
दूसरे भावसेन मूलसघ सेनगण के विद्वान थे जिनकी उपाधि त्रैविद्यचक्रवर्ती थी त्रैविद्यचक्रवर्ती की उपाधि शब्दागम, तर्कागम और परमागम मे निपुण विद्वानो को दी जाती थी। यह जैन दर्शन के अच्छे विद्वान थे। इन की निम्न कृतिया प्रकाश मे आई है, कातंत्ररूपमाला, विश्वतत्त्व प्रकाश, भुक्ति-मुक्ति विचार, प्रमा प्रमेय, सप्त पदार्थी टीका सिद्धान्तसार आदि।
कातन्त्र रूपमाला शक स० १२८९ सन् १३६७ की है। आन्ध्र प्रदेश के अनन्तपुर जिले मे अमरापुर ग्राम के निकट इनकी निषधी भी बनी हुई है।
भावसग्रह के कर्ता भावसेन भी काष्ठासघ के विद्वान जान पडते है।

९ धर्मोद्धारविधिप्रवीणमतिक. सिद्धान्तपारंगमी।
शीलादिव्रतधारक शम-दम-क्षान्तिप्रभाभासुर।
वैभारादिकतीर्थराजरचित प्राज्य प्रतिष्ठोदय—
तत्पट्टाब्ज विकासनैकतरणि, श्रीभावसेनोगुरु ॥ —काष्ठासघ मा० पट्टावली

१० कर्मग्रन्थ विचारसार सरणी रत्नत्रयस्याकर,
श्रद्धावनगुणोऽगणोऽननगिनी ना शेषम साम्यप्रतम।
तत्पट्टे पल चूलिका सुतरणि. कीर्तिऽपि विश्वस्मृती,
नित्यं भाति सहस्र कीर्तिरनिय धाम्नोऽस्ति दैगम्बर काष्ठासंघ मा० पट्टावली ॥
[illegible], सहस्रकीर्तिउदयास्मिय भवन्तु सन्मद जिन चरित

वीरमदेव के रूप मे भ० गुणकीर्ति के आदेश से पद्म नाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की थी।[13] सं० १४६८ मे आषाढ वदि २ शुक्रवार के दिन ग्वालियर मे उक्त वीरमदेव के राज्य काल मे काष्ठासंघ माथुरान्वय पुष्करगण के भट्टारक गुणकीर्ति की आम्नाय मे साहू वीरमदेव की पुत्री देवसिरी ने 'पचास्तिकायटीका' की प्रति लिखवाई थी।[14]

स० १४६६ मे माघसुदी ६ रविवार के दिन राजकुमार सिंह की प्रेरणा से गुणकीर्ति ने एक धातु की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी।

स० १४७३ मे भ० गुणकीर्ति द्वारा एक मूर्ति की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इनका समय स १४६० से १५१० तक है। राजा डूगरसिंह के राज्य काल मे जैन मूर्तियो के उत्खननका जो महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ, उस सबका श्रेय भ० गुणकीर्ति को ही है। इनके द्वारा अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा और निर्माण कार्य हुआ है। इन्होने क्या-क्या ग्रथ की रचना की यह कुछ ज्ञात नही हो सका।

यश कीर्ति

भ० गुणकीर्ति के लघु भ्राता और शिष्य थे। प्राकृत संस्कृत और अपभ्रश भाषा के विद्वान, कवि और सुलेखक थे। जैसा पार्श्व पुराण के निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

"सुतासु पट्ठि भायरो वि आयमत्थ-सायरो
रिसि सुगच्छनायको जयत्तसिक्खदायको।
जसक्खुकित्ति सुन्दरो अकपुणाय मन्दिरो॥—
पास पुराण प्रश०

तहो बधउजसमुणि सीसुजाउ, आयरिय
पणासिय दोसुराउ।
—हरिवश पुराण

भव्यकमल सवोह पयगो, तहपुणु सु-ताव
तवियगो।
णिच्चोब्मासिय पवयण अगो, वदिवि
सिरिजसकित्ति असगो॥
—सम्मइ जिन चरिउ प्र०

यश कीर्ति असग (परिग्रह रहित) भव्य रूप कमलो को विकसित करने के लिए सूर्य के समान थे. वे यश कीर्ति वदनीय हैं। काष्ठा सघ माथुर-गच्छकी पट्टावली मे भी उनकी अच्छी प्रशंसा की गई है। जिनकी गुणकीर्ति प्रसिद्ध थी। पुण्यमूर्ति और कामदेव के विनाशक अनेक शिष्यो से परिपूर्ण, निग्रन्थ मुद्रा के धारक, जिनके चित्तगृह मे जिन-चरण-कमल प्रतिष्ठित थे—जिनभक्त थे और स्याद्वाद के सत्प्रेक्षक थे। इनकी इस समय चार

---

१३ उपदेशेन गन्थोय गुणकीर्ति महामुनेः।
कायस्थ पद्मनाभेन रचित पूर्वसूत्रत॥

—यशोधर चरित प्रश०

१४ सवत्सरेस्मिन् विक्रमादित्य गताब्द १४६८ वर्ष आषाढ वदि २ शुक्रदिने श्री गोपाचले राजा वीरमदेव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासघे माथुरान्वये पुष्करगणे आचार्य श्री भावसेन देवा. तत्पट्टे श्री सहस्रकीर्ति देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्ति देवा स्तेषामाम्नाये सघइ महाराज वधू साधु मारदेव पुत्री देवसिरि तया इद पचास्तिकायसार ग्रन्थं लिखापितम्।

कारजा भंडार

मार्गी, लोभ, क्रोध और माया रूप मेघो को उडाने के लिए मारुति (वायु)देव थे। वे मलयकीर्ति जयवत हो।[१७]

यह मयलकीर्ति वही जान पडते है जिन्होने स० १४९४ मे मूलाचार की प्रशस्ति लिखी थी। यह प्रतिष्ठाचार्य भी थे, इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिया अनेक मन्दिरो मे मिलेगी, किन्तु मुझे तो केवल दो मूर्ति लेख ही प्राप्त हो सके है।[१८] अन्वेषण करने पर और भी मिल सकते है। इनकी रचनाए अभी तक प्राप्त नही हुई। जिनका अन्वेषरण करना आवश्यक है। यह कोई भिन्न मलयकीर्ति है।

भट्टारक गुणभद्र—भ० मलयकीर्ति के पट्टधर एव शिष्य थे। अपभ्रंश भाषा के विद्वान कवि तथा प्रतिष्ठाचार्य थे। आपने अपने जीवन को आत्म-साधना के साथ धर्म और समाज-सेवा मे लागाया था। आपके द्वारा रची गई १५ कथाए खजूर मस्जिद देहली के पचायती मन्दिर के एक गुच्छक मे उपलब्ध है जिन्हे उन्होंने ग्वालियर मे रहकर भक्त श्रावको की प्रेरणा से रचा था। उनके नाम इस प्रकार है—१ सवणवारसि कहा २ पक्खवइ कहा ३ आयास पचमी कहा ४ चदायणवय कहा ५ चदण छट्ठी कहा ६ दुद्धारस कथा ७ णिद्दुह सप्तमी कहा ८ मउडसत्तमी कहा ९ पुप्फजलि कहा १० रयणत्तय कहा ११ दहलक्खणवय कहा १२ अणंतवय कहा १३ लद्धविहाण कहा १४ सोलह कारण कहा १५ सुयध दहमी कहा।[१९]

कवि ने इन कथाओ मे व्रत का स्वरूप, उनके आचरण की विधि और फल का प्रतिपादन करते हुए व्रत की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला है। इनमे से सवणवारसि कहा और लब्धि विधान कहा, इन दो कथाओ को ग्वालियर के उद्धरण के जिन मन्दिर मे बैठकर सारगदेव के पुत्र देवदास की प्रेरणा से रचा गया है। पुप्फजलि, दहलक्खणवय कहा और रत्नत्रय कहा इन तीनो को जयसवाल वशी लक्ष्मणसिंह चौधरी के पुत्र पंडित भीमसेन के अनुरोध से रचा है और नरक उतारी दुद्धारस कहा, ग्वालियर निवासी साहुवीधा के पुत्र सहणपाल के अनुरोध से रची गयी है। भ० गुणभद्र नाम के अनेक विद्वान हो गये है, परन्तु उनमे प्रस्तुत गुणभद्र सबसे भिन्न जान पडते है। इनका

---

१७ दीक्षादाने सुदक्षोवगतगुरु शिष्यत्रा क्षेत्रनाथ,
ध्यायतन्त्रं श्रान्तं शिष्ट चरित सहृदयो मुक्तिमार्गे।
यो लोभक्रोधमायाजलद विलयने मारुती माथुरेश,
काष्ठासघे गरिष्ठो जयति स मलयाद्यस्तत कीर्तिसूरि ॥

—काष्ठासघ मा० प०

१८. स० १५०२ वर्षे कातिक सुदी ५ भौम दिने श्री काष्ठा संघे श्री गुण कीतिदेवा तत्पट्टे श्रीयशकीतिदेवा तत्पट्टे मलयकीतिदेवान्वये साहु नरदेव तस्य भार्याजैनी।
स० १५१० माघसुदि १३ सोमे श्री काष्ठासंघे आचार्य मलयकीति देवा, तं प्रतिस्तिष्ठम् ॥
गुणागणमणिभूषो वीतकामादि शेषः कृत जिनमत तोपस्ततोष स्तत्पदेशान्त वेय।
धनचरण विशेष सत्यघोप विरोधो,
जयति च गुणभद्र सूरिरानन्दसूरिः ॥ काष्ठासघ मो० पं०

१९. देखो, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा० २ पृ० ११२

हेमचन्द्र थे, और हेमचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि। पद्मनन्दि के शिष्य यश कीर्ति थे, जिन्होने स० १५७२ मे केशरियाजी मे सभा मण्डप बनवाया था। इन यश कीर्ति के दो शिष्य थे। गुणचन्द्र और क्षेमकीर्ति। गुणचन्द्र का सम्बन्ध दिल्ली पट्ट परम्परा से है।

माथुरगच्छ के एक अन्य कमलकीर्ति का उल्लेख मिलता हे, जिन्होने देवसेन के तत्त्वसार की एक सस्कृत टीका बनाई है। वे अमलकीर्ति के शिष्य थे। इन्होने उस टीका की प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा निम्न प्रकार बतलाई है। क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, सयमकीर्ति, अमलकीर्ति और कमलकीर्ति हो सकता है कि ये दोनो कमलकीर्ति एक हो। कारण कि स० १५२५ के मूर्ति लेख मे जो कविवर रइधू द्वारा प्रतिष्ठित है उसमे भ० अमलकीर्ति और उनके बाद शुभचन्द का उल्लेख है।[23] और यह भी हो सकता है कि दोनो कमलकीर्ति भिन्न ही हो, क्योकि दोनो के गुरू भिन्न-भिन्न है, और यह भी सम्भव है कि एक विद्वान के दीक्षा और शिक्षा गुरु के भेद से दो विद्वान गुरु रहे हो। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक है। कुमारसेन [24] भानुकीर्ति के शिष्य थे। स्याद्वाद रूप निर्दोष विद्या के द्वारा वादी रूपी गजो के कुम्भस्थल के विदारक थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारक थे। कामदेव के जीतने वाले तथा महाव्रतो का आचरण करने वाले थे। अच्छे विद्वान तपस्वी और जन-कल्याण करने में सदा तत्पर रहते थे। इसी से पाण्डे राजमल जी ने उनकी विजय कामना की है।

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ सतोष से।

—अर्हत्

---

२३ शिष्योऽथ शुभचन्द्रस्य हैमकीर्ति महासुधी।

—देखो, अनेकान्त वर्ष ११ कि० पृ० ३६

२४ तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धन हेतुरिन्दु, सौम्यः सदोदयमयोऽजगदसु पार्श्वे।
सद्व्रताचरण निर्जित मारसिंहो, भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेन॥

—जम्बूस्वामी चरित ६३ पृ० ८

के आधार पर खण्डन किया था कि सीहड जिसे डूगरपुर का मौजूदा राजवंशचला था सामन्तसिह का पौत्र नही था वल्कि मेवाड के महारावल जैत्रसिह का पुत्र था ।

आगे के श्लोक मे सीहड के पुत्र जैसल का वर्णन है । ओझाजी ने इसका नाम विजयसिह माना है । इसके २ शिलालेख अब तक मिले हैं (१) वि स. १३०६ फाल्गुण सुदि का जगत गाव का और झाडोल का वि. स. १३०८ का । इन दोनो मे इसे जयसिह पढा है । ओझाजी की मान्यता थी कि झाडोल के शिलालेख मे "विजयनाथ मन्दिर" के निर्माण का उल्लेख है अतएव राजा का नाम विजयसिह होना चाहिए । किन्तु यह केवल कल्पना है । मुझे अभी डूगरपुर मे इस शिलालेख की मूल छाप देखने का भी अवसर मिला । इसमे मूल शब्द "वयजनाथ देव" है जिसका स्पष्ट अर्थ वैद्यनाथ होता है । ऊपर गाव की इस प्रशस्ति का वर्णन ही अधिक उपयुक्त लगता है कि उसका नाम जैसल या जयसिह होगा । एकलिंग मन्दिर के समीप स्थित । चीखागाव के वि. स १३३० के विस्तृत शिलालेख मे प्रसगवश अर्थूणा के युद्ध मे जैसल के लिए मेवाड की सेनाओ का तलारक्ष मदन की अध्यक्षता मे लडना वर्णित है । ओझाजी ने इस जैसल शब्द को मेवाड के शासक जैत्रसिह का नाम माना है और वागड के शासक का नाम विजयसिह माना है जो दोनो ही स्पष्टत गलत है ऊपर गाव के इस लेखके अनुमार यह जैसल शब्द वागड के शासक के लिए ही प्रयुक्त हुआ था । इसका उत्तराधिकारी देवपाल हुआ था । अन्य वशावलियो मे सीहड के वाद सीधा देवपाल का नाम दिया गया है । उनमे जैसल का नाम छूटा हुआ है । इसका समाधान इस प्रशस्ति मे स्पष्ट रूप से दिया गया हैं कि सीहड के २ पुत्र थे एक जैसल और (२) देवपाल । अतएव इसकी यह सूचना भी महत्वपूर्ण है । वशावली मे इसमे सिधुर नाम के एक शासक का नाम और जोडा गया है जो अन्य प्रशस्तियो मे नही है । इसके लिए यह भी लिखा है कि इसने अमरसिह नामक एक शत्रु को हराया था । इस सम्वन्ध मे और शोध की आवश्यकता हे ।

इस प्रकार राजवश वर्णन की दृष्टि से यह प्रशस्ति वडी महत्वपूर्ण है । साधुओ के जो नाम आये है वे ये है गर्गसेन, नागसेन, नोपसेन रामसेन यश:कीर्ति कनकसेन शुभकर सेन, अनन्त-कीर्ति, मारसेन केशवसेन देवकीर्ति नयकीर्ति राज-कीत पद्मकीर्ति पद्मसेन भावसेन और रत्नकीर्ति । आगे श्रेष्ठि भाहड का वर्णन है जो नरसिहपुरा जाति का था । अन्त मे सवत् का कुछ अश इस प्रकार है —

"सवत १४६१ वर्षे वैशाख सुदि ५ पचम्यामू शुक्रवारे राउल श्री प्रतापसिह विजय राज्ये

ऊपर गामनाम्नि ग्रामे श्री काष्ठासघ नदि तटगच्छे श्री रत्नकीति स्यादेशात् नारसिह ज्ञातीय खरनहर गोत्रे "आदि"

इस क्षेत्र मे और भी कई मन्दिर है जिनमे शिलालेख लगे हुए है । मेवाड और वागड क्षेत्र के विस्तृत Survey की पूर्ण आवश्यकता है ।

रणकपुर, आबू, मक्षीपार्श्वनाथ, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आदि ।

उपरोक्त प्रकार के तीर्थ प्राय भारत के सभी भागो मे फैले हुए है। तीर्थ स्थानो पर जाकर मनुष्य अपने आपको धर्म एव अपनी सस्कृति से अनुप्राणित पाता है और स्वय मे एक गौरव अनुभव करता है। तीर्थ स्थान धर्म स्थान होने के कारण शान्ति के स्थान माने जाते है। यदि तीर्थ स्थान पर भी मनुष्य को शाति नही मिलती तो उसका वहा जाना वृथा होता है। प्राय सभी प्राचीन तीर्थ ऐसे स्थानो पर थे जहा पहिले कठिनाई से पहुचा जाता था, बिजली पानी की सुविधाए नही थी, तथा नागरिक कोलाहलपूर्ण जीवन की अशान्ति से दूर थे। वहाँ जाकर मनुष्य असुविधाओ के होते हुए भी अपने को पूर्ण सुखी एव कृतकृत्य मानता था। आज सभी क्षेत्रो पर पूर्ण सुविधाए है लोग आसानी से पहुच सकते है यद्यपि आधुनिक सुविधाओ के कारण वहा का वातावरण भी शहरी जैसा ही अशात बन गया है किन्तु साधन और सुविधा के कारण यात्रियो की सख्या अधिक बढी है—

राजस्थान मे भी अनेक जैन तीर्थ है जिनमे प्रमुख-प्रमुख तीर्थो (अतिशय क्षेत्रो) का परिचय प्रस्तुत लेख मे दिया जा रहा है। ये सभी क्षेत्र सस्कृति एव कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है एव राजस्थान के गौरव स्वरूप है। उक्त तीर्थो की स्थापना, रक्षा तथा सवृद्धि मे जैन समाज ने तो अपना तन-मन-धन न्योछावर किया ही है किन्तु तत्कालीन राजा महाराजाओ का भी पूर्ण सहयोग रहा है और उसी के फल स्वरूप सस्कृति एव कला के जीते जागते ये तीर्थ मस्तक उन्नत किये लाखो दर्शनार्थियो को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा उन्हे सद्बुद्धि प्राप्त होने की प्रेरणा देते है—

राजस्थान मे प्राय अतिशय क्षेत्र ही है और उनमे से कतिपय क्षेत्रो का वर्णन नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

१ आबू (अर्बुदाचल) दिलवाडा

आबू राजस्थान का शिमला कहा जाता है। यह देहली, अहमदाबाद लाइन पर स्थित है। आबू रोड स्टेशन से १४ मील की चढाई पर यह स्थान है। यहा गर्मी के थपेडो से घबरा कर शीतलता की शरण पाने को अनेक पर्यटक आते है। बादल पहाडो को छूते नजर आते है। पहाड की चढाई विकट है। आबू रोड से माउन्ट आबू पहुचने के लिये यातायात की तथा यहा ठहरने की पर्याप्त व्यवस्था है। यहा ग्रीष्म ऋतु मे पहिले वाइसराय दफ्तर तथा मिलिट्री का कैम्प रहता था आजकल भी राजस्थान राज्यपाल का वहा गर्मी मे निवास रहता है तथा अनेक कार्यालय भी रहते है। पहाड पर जाने का १) एक रुपया प्रति यात्री सरकार द्वारा कर लिया जाता है। आबू विशेषकर जैन मन्दिरो के लिये विश्व विख्यात है। यहा के जैन मन्दिर देखने के लिए ही अधिकाश यात्री आते है और उनकी कारीगरी देख अपने आपको धन्य मानते है।

आबू अर्बुदाचल तथा दिलवाडा के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहा दो श्वेताम्बर तथा दो दिगम्बर जैन मन्दिर है। दोनो ही श्वेताम्बर मन्दिर मनोज्ञ कला पूर्ण एवं दर्शनीय है। वास्तुकला की दृष्टि से ये मन्दिर बेजोड है। पत्थर की कुराइ का इतना सुन्दर कार्य कही देखने को नही मिलता। शिल्पकार ने अपनी टाची से इन प्राणहीन प्रस्तरो को सजीव सा बना दिया है। यहा जैसा कि ऊपर कहा गया है दो मन्दिर है। एक 'विमल वसही' जिसे राजा भीमदेव के सेनापति विमलशाह ने संवत १०८८ तदनुसार सन् १०३१ मे १८,५३,००,००० अठारह क्रोड तरेपन लाख रुपये की लागत से बन-

नाम से भी प्रसिद्ध है। मदिर के निर्माताओ मे राज्य का भी काफी हाथ था। इस मदिर के निर्माताओ मे राणा कुभा का नाम विशेपतौर से लिया जाता है। मंदिर के क्षेत्र का नाम भी उन्ही के नाम से है और कहते है मदिर की जमीन भी इसी शर्त पर दी गई थी कि इसका नाम राणा के नाम पर रखा जावे। चित्तौड का कीर्तिस्तंभ रणकपुर का मदिर तथा आबू का कुभाश्याम राणा कुभा की कलाप्रियता के प्रतीक हैं। इस क्षेत्र का नाम राणा कुभा के नाम पर 'राण' और पौरवाड जाति के श्रावक के नाम से 'पुर' इस तरह 'राणपुर' पडा। इसे राणकपुर भी कहने लगे है। इतिहासकार 'टॉड' के अनुसार इसकी नीव सन् १४३८ (वि० सं० १४९५) मे पडी और सन् १४३९ (वि.स १४९६) मे मंदिर की प्रतिष्ठा हुई। किन्तु यह ठीक प्रतीत नही होता। एक वर्ष मे मदिर का निर्माण हो जाना असभव है। सं १४९६ का लेख देखिये–श्री चतुर्मुख जिनयुगादिश्वराय नम वि० सं० १४९६ सख्या वर्पे श्री मेदपारधिरज······"

उक्त शिला लेख से प्रकट होता है कि इसकी प्रतिष्ठा स० १४९६ मे हुई थी।

एक अन्य मूर्ति जो सं १४७५ की है से प्रतीत होता है कि इस मूर्ति के यहा आने के पश्चात् इस मंदिर की प्रतिष्ठा हुई हो। इसमे करीब २० वर्ष का अन्तर है। यह कुछ ठीक प्रतीत होता है। इस तरह निर्माण काल सं १४७५–७६ हो सकता है।

इस मंदिर के वीच मे निजवेदी है। चारो ओर ४ सभा मडप है वेदियो मे चतुर्मुखी प्रतिमाए विराजमान हैं। मदिर मे चारो ओर वेदिया (देहरियाँ) वनी हुई है। उनमे सभी मे प्राचीन जैन मूर्तिया विराजमान है।

चारो सभा मडप कला पूर्ण है तथा दुमजिले है। कला सभी मंडपो मे भिन्न २ है। सभी सभा मंडप ४० फीट ऊँचे खभो पर टिके हुए है। सभी खंभे कलापूर्ण है। इस मदिर मे कुल १४४४ खभे हे जिन पर मंदिर के चारो ओर के गुबज गये हुये है। इनमे सवसे वडी विशेपता खंभो की "सीमेट्री" है। किसी भी जगह खडे होकर देखिये उस तरफ के सारे खँभे एक ही कतार मे दिखाई देगे। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और है किकिसी भी देहरी के सामने ये खभे नही आते जिससे कि दर्शनो मे आड पड सके। सभा मडप तथा खंभो की कुराई छतो के झाड आदि के कार्य बहुत ही उच्च कोटि का है। संपूर्ण मदिर इतना कलापूर्ण है कि दर्शक देखते २ नही अघाता। एक बडे शिलाखड पर पार्श्वनाथ की सहस्रफणी मूर्ति वडी मनोज्ञ है।

क्षेत्र पर सब तरह की सुन्दर व्यवस्था है। यात्रियो के लिये ठहरने तथा औढने बिछौने की की भी पूर्ण व्यवस्था है। काफी विदेशी पर्यटक आते है। मदिर के ऊपर के शिखर दूर से ही यात्रियो को अपनी ओर बुलाते है।

ऋषभदेव (केशरियाजी)

यह स्थान मेवाड मे उदयपुर से ४० मील दूर दक्षिण की ओर पहाडियो मे है। उदयपुर से डूगरपुर जाने वाले मार्ग पर यह स्थान मुख्य सडक से करीव १।। मील दूर रहता है। अव यहा मोटर से तथा रेल से जाने के दोनो ही साधन हो गये है। उदयपुर से डुगरपुर जाने वाली तथा डूगरपुर से उदयपुर आने वाली प्रत्येक बस ऋषभदेव ठहर कर आती है। बसे प्रति एक घटे के फासले से चलती है। यह स्थान ऋषभ देव, केशरिया तीथ, तथा धूलेव के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यहा दि० जैनो के करीव १०० घर हैं तथा ६-७ मन्दिर चैत्यालय हैं। जैन विद्यालय तथा छात्रावास हैं। मेवाढ प्रात के प्रसिद्ध भट्टारक यश कीर्ति जी महाराज भी यहा कभी कभी विरा-

है। यहा से जयपुर को छोटी लाइन जाती है। रेल्वे स्टेशन से सवाई माधोपुर शहर मे जाने वाली सडक पर स्टेशन से करीब १-१॥ मील की दूरी पर चमत्कार क्षेत्र स्थित है। इस स्थान का नाय पहिले आलनपुर था। भादवा बुदी २ सं० १८८९ को यहा एक बिल्लोर की जैन मूर्ति प्रकट हुई। सवाई माधोपुर के जैनो ने एक महोत्सव करके उसे यहा स्थापित की। इस मूर्ति की महिमा चारो ओर फैली—जिन शासन के प्रभाव से कुछ ऐसा भी हुआ कि केशर की वर्षा होने लगी—सभी के कार्य सिद्ध होने लगे। हजारो यात्री आने लगे। सभव है ऐसी महिमा (चमत्कार) के नाम पर क्षेत्र का नाम चमत्कार पडा। ढूढाहर देश मे ऐतिहासिक गढ रणथम्भौर (रणतभँवर) विश्वभर मे प्रसिद्ध है। उसमे जाने वाले एक रास्ते का नाम 'भैरूदरा' है। ढूढाहर (जयपुर) के महाराजा माधोसिह ने भैरवदेरे के बीच मे एक नगर बसाया जो सवाई माधोपुर के नाम से प्रसिद्ध है। सवाई माधोपुर मे अनेक जैन मन्दिर है जिनमे सैकडो मूर्तिया विराजमान है। यहा स० १८२६ मे एक वृहद् प्रतिष्ठा समारोह हुआ था।

आलणपुर स्थित चमत्कार क्षेत्र एक परकोटे मे स्थित है। मन्दिर के चारो ओर यात्रियो के ठहरने के लिए स्थान है। आजकल तो यह स्थान जाति भूषण श्री सेठ शातिप्रसाद जी साहु के सहयोग से अत्यन्त मनोरम बन गया है। मन्दिर बहुत सुन्दर एव स्वच्छ है। क्षेत्र सबधी परिचय एक पूजा मे निम्न प्रकार है—

देस ढुढाहड कैविपै रणतभवर गढसार
ताका शुभ भैरूदरो वाह्य आलणपुर ज्हार
+ +
भादवबुदि दोयजभली अष्टादस सतसार
आठनवति समत विपै प्रकट भये सुखकार ॥

माधवनृप ढुढाहड के सवाई माधोपुर थान
भैरवदर के मध्य इक नगर वसायौ महान्
तामैं जैनी बहुत वसैं मन्दिर महा जिनराय
बदैं पूजैं पुन्यफल पावत महा सुखदाय
सब भविजन इकट्ठे भये महान् उछाहकराय।
आलणपुर मन्दिर विपै थापे श्री जिनराय ॥
दसूं दिस मे परगह भये वरदायक जिनराय
ताकेवदन जातरी आवत निजशुभ काज ॥
× ×
जिन प्रभाव ऐसो भयौ वरस्यो केसरनीर
देवा सदा सेवा करैं जिनवर प्रछन गहीर ॥
दरसण पूजन करत ही हिय उपज्यो उल्हास।
जिनवर पूजन यह रची सरूप जिनेन्द्र प्रभाव ॥
चमत्कार जिन बदस्या।

आजकल चमत्कार क्षेत्र पर इतने अधिक यात्री नही आते जितने पहिले आते थे इसमे मूल कारण लोगो को कोई चमत्कार न दिखाई देना ही आता है। फिर भी क्षेत्र पर यात्री आते ही रहते है।

चादखेड़ी

राजस्थान मे चाँदखेडी अतिशय क्षेत्र अपना विशेष स्थान रखता है। यह कोटा डिस्ट्रिक्ट मेखानपुर निजामत का ग्राम है यहा जैनो के करीब ३० घर है गाव से करीब पाव मील दूरी पर चादखेडी नाम की वस्ती है। यहाँ नदी के किनारे एक विशाल मन्दिर है। मन्दिर का कुछ भाग जमीन मे दबा हुआ है। यहा भगवान आदिनाथ की श्वेत पाषाण की ४१/४ फीट ऊंची पद्मासन विशाल मनोज्ञ एव अतिशय पूर्ण प्रतिमा है। यह प्रतिमा नीचे बहरे मे विराजमान है तथा इसके दोनो ओर शान्तिनाथ की दो विशाल प्रतिमाएं और विराजमान है। यह इतती आकर्षक है कि घण्टो सामने बैठे रहने पर उठने को मन नही करता इस मन्दिर मे कुल मिला कर करीब ५८० मूर्तिया है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

भारत प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी राजस्थान का लोकप्रिय क्षेत्र है। यह दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेल्वे की बडी लाइन पर स्थित है। स्टेशन से ४ मील दूरी पर गंभीर नदी के किनारे पर एक रमणीय स्थान है। जयपुर तथा दिल्ली आगरा से सडक मार्ग से भी सबद्ध है। भारत मे श्री महावीरजी ही एक ऐसा क्षेत्र है जहा बिना किसी जातीय भेदभाव के मानवमात्र भगवान महावीर के मन्दिर मे जाकर दर्शन कर अपने आप को कृत कृत्य समझता है। यहा १०-१२ धर्मशा-शालाएं है तथा नल, बिजली, तार, टेलीफोन आदि की पूर्ण व्यवस्था है। तीन उन्नत शिखरो वाला मन्दिर दूर से ही यात्रियो को अहिंसा का पाठ पढाता है। कटले मे विशाल एव कलापूर्ण मदिर है जहा लाल वर्ण की, पाषाण की पद्मासन २ फीट ऊंची भगवान महावीर की प्राचीन एव मनोज्ञ मूर्ति विराजमान है। मूर्ति इतनी मनोज्ञ है कि घटो सामने से हटने को जी नही चाहता। मीना, गूजर जाट चमार एव और अनेक यात्री दूर दूर से दडवत करते अपनी मनौतिया मनाते आते है।

यह मूर्ति करीब ३००-३५० वर्ष पूर्व नदी के किनारे टीले मे से निकली थी। एक चमार की गाय का दूध टीले पर स्वत झरता देख उसे खोदा गया तो यह मूर्ति निकली, आसपास के जैन इसे ले जाना चाहते थे किंतु काफी कोशिश करने पर भी नही ले जाई जा सकी। चर्मकार की झोपडी ही पवित्र करती रही, कुछ दिन बाद अमरचन्द बिलाला ने यहा का मन्दिर बनवाया और उसमे इसे विराजमान किया। निकलने के स्थान पर चरण छत्री बनाई गई।। यह स्थान नौरगाबाद कहलाता था और जयपुर राज्य की हिन्डौन निजामत मे था। यहा प्रारम्भ से जैनो के गुरु भट्टारक जी की गादी विराजमान है और उसके अंतिम भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी महाराज का अभी ३ जून १९६९ को स्वर्गवास हुआ है।

इस मन्दिर की सेवा पूजा के लिये जयपुर राज्य की ओर से जागीर मे गाव मिले हुए थे। पहिले यहा किन्ही कारणो से कोर्ट आफ वार्डस द्वारा प्रबन्ध किया जाता रहा किंतु सन् १९३० मे यह क्षेत्र जयपुर दि० जैन समाज को सभला दिया गया और उसकी ओर से एक प्रबन्धकारिणी कमेटी नियुक्त की गई जिस के सर्व प्रथम मत्री स्व० रामचन्द्रजी खिन्दूका चुने गये। उन्होने इस क्षेत्र की बीस वर्ष से भी अधिक सेवा की और क्षेत्र की चहुंमुखी उन्नति हुई, सर्वांगीण विकास हुआ जहा धीरे धीरे नयी धर्मशालाओ का निर्माण, सडक निर्माण, नल बिजली की व्यवस्था एव मन्दिर के जीर्णोद्धार का कार्य हुआ वहा समाज के योग्य एव होनहार असमर्थ छात्रो को छात्र वृत्ति तथा प्राचीन साहित्य की खोज एव शोध के लिये साहित्य शोध विभाग की स्थापना की गयी। साहित्यशोध विभाग की ओर से प्राचीन साहित्य की खोज एव सूची निर्माण का जो कार्य हुआ वह सभी दृष्टियो से प्रशसनीय है।

शिक्षा साहित्य प्रचार एवं छात्र वृत्ति जैसे उपयोगी कार्य अन्य किसी भी क्षेत्र द्वारा सपादित नही होते। व्यवस्था प्रबन्ध एव सफाई आदि के विषय मे भी यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि अन्य कोई क्षेत्र इसकी तुलना मे नही ठहरते।

मन्दिर का जीर्णोद्धार कराकर कितने ही मकराने के भाव पूर्ण चित्र लगाये गये है। मान स्तभ, चरण छत्री एव पानी की टंकी आदि दर्शनीय स्थान है। यहा औषधालय डिसपैसरी एव विद्यालय क्षेत्र की ओर से चलते हैं। प्रतिवर्ष करीब १५००० हजार रुपए की छात्रवृत्ति दी जाती है। साहित्य शोध विभाग द्वारा प्राचीन साहित्य की

व्यवस्था एव्र सुविधा की दृष्टि से अपनी सानी का एक ही था । इस प्रतिष्ठा मे केवल बडी मूर्तिया ही प्रतिष्ठा हेतु ली गई थी ।

यहा की प्रवन्धक समिति का अपना रजिस्टर्ड विघान है जिसके मन्त्री श्री भवरलालजी न्याय-तीर्थ है । ये लगातार कई वर्षो से क्षेत्र की तन-मन से सेवा कर रहे हैऔर यह उन्ही के सत्प्रयत्नो का फल है कि मन्दिर का इतना सुन्दर निर्माण कार्य हो सका है । क्षेत्र पर नल, विजली, तार, टेलीफन पोम्ट आफिस औपधालय आदि की व्यवस्था है । अर्थाभाव के कारण मन्दिर के निर्माण कार्य मेअडचनें आवश्यक है । आशा है सभी के सहयोग से शीघ्र पूर्ण हो जागया ।

यहा इनके अतिरिक्त अलवर मे तिजारा एव जयपुर मे चूलगिरि भी क्षेत्रो की गणना मे लिये जा सकते है किन्तु ये अभी अपनी शैशवावस्था मे है ।

●●●

समाजवाद

कष्ट न हो औरो को
ऐसे लिए
जीवन-रस बाटे सबको
खुद पिए ।
अर्जित धन को बाटता
जो न पुन ससार को
उसकी मुक्ति नही होती ।
वह असविभागी समाज कोढ है ।

—अर्हत्

१५२६) के छोटे भाई अच्युतराय के द्वारा (ई० सन् १५२६–१५४० पूजित भारती भाललोचन देवेन्द्र-कीर्ति ।

देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यनन्द—आपने श्री रगपट्टण मे श्री वीरपृथ्वीपति के आस्थान मे साख्य कापिल, कापालिक, यौग, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध और भाट्टो को जीता, सालुव देवराय नरेश के भाजा और पद्मावा के पुत्र सालुव कृष्णदेवराय के द्वारा पूजित हुए एवं विजयनगर के कृष्णराय के आस्थान मे विद्वानो को परास्त किया । इन विद्या-नन्द के सघर्मा नेमिचन्द्र ने हुम्बुच मे पार्श्वनाथ का त्रिभूमिका युक्त एक जिन मन्दिर बनवाया । विद्यानन्द के शिष्य सर्वशास्त्रावतार विशालकीर्ति उनके सधर्मा अमरकीर्ति । भैरवेन्द्रवश के पाण्ड्य के राजा के द्वारा अर्थात् कलश-कारकल के शासक वीरभैररस ओडेय के भाजा वीर-पाण्ड्यप्प ओडेय द्वारा अर्चित देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य एव विद्यानन्द के सतीर्थ वर्धमान मुनीन्द्र इस ग्रन्थ के रचयिता है । इसलिए इस ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकरण के अन्त मे इन्होने 'वर्धमान मुनीन्द्रेण विद्यानन्दार्य बधुवुना यो कहा है । एक बात है कि इस गुरु परम्परा को कहने वाले ये ही पद्य नगर के न ४६ वे शिलालेख मे यथावत् उत्कीर्ण मिलते हैं ।

अस्तु इस ग्रन्थ मे सामयिक पूर्वक (१) सिद्ध भक्ति, (२) श्रुतभक्ति, (३) चारित्र भक्ति, (४) योगभक्ति, (५) आचार्य भक्ति, (६) निर्वाण, भक्ति, (७) नन्दीश्वर भक्ति, (८) चैत्यभक्ति, (९) शाति भक्ति और समाधि भक्ति नामक इन दश भक्तियो के साथ-साथ (१) पच-गुरुभक्ति, (२) मगलस्तोत्र, (३) सुप्रभास्तव, (४) सिद्धार्थ-प्रियकारिण्या स्तव, (५) निश्चलात्म स्वरूप स्तवन, (६) वृषभ स्तुति, (७) विद्यानन्द महाचार्य पादपूजास्तवन, (८) विशालकीर्ति श्रीपादपूजास्तवन, (९) अतीतका-लोत्पन्न चतुर्विशति-तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पा-जलि, (१०) वर्तमान काल चतुर्विशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (११) भाविकाल चतु-र्विशति तीर्थंकर पूजा प्रस्तावना पुष्पाजलि, (१२) द्वासप्तनिजिनेन्द्र मगलस्तवन, (१३) पच कल्याण माला, (१४) देवेन्द्रकीर्ति गुरु सतति,(१५) विद्या-नन्द स्तोत्र, (१६) नन्दिसघ सेनगण मुनियो का स्तवन, १७ जिनदर्शन शुद्ध्यादि यत्र पूजा-विधि, (१८) क्षात्यादिदश घर्मोरुयत्र पूजा विधि, (१९) नदीश्वर नगेन्द्र श्रीजिन पूजा विधि, (२०) देशीगण जैन मुनीस्तवन, (२१) अकलक योगीन्द्रचन्द्र प्रभ गुरुस्तुति, (२२) काणूर्ण मुनीन्द्र स्वतन, (२३) नन्दिसघ मुनीन्द्र स्तवन, (२४) चंदनषष्ठी मे श्री चन्द्रनाथार्हणाक्रम, (२५) जीवदयाष्टमी पूजा-विधि, (२६) सिद्धस्तोत्र, (२७) दानपूजा गुणाढ्य श्रावक-स्तोत्र, (२८) वेणुपुर अर्थात मूडुविदिरे के श्रवको की स्तुति नामक ये विविध विषय शामिल है । इसलिए इसका नाम दशभक्त्यादि महाशास्त्र जो रखा गया है, वह ठीक ही है । क्योकि आदि शब्द से दशभक्तियो के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक विषय शामिल किये जा सकते है ।

यह ग्रन्थ सस्कृत मे रचा गया है । इसका बध रोचक है । किन्तु आदि मे जहाँ तहा थोडा प्राकृत भी है । बीच एव अ त मे कन्नड कंदपद्य, और वृत्त भी है । साथ-साथ शुद्ध कन्नड 'अ बु' शब्द (पृष्ठ ७७) और सस्कृत चन्द्र और 'खाद्य' शब्दो के कन्नड तद्भव 'चदिर' (पृष्ठ--२४९, २७१), तथा 'खज्जाय' (पृष्ठ १५५) शब्द भी इसमे सस्कृत मे उपयोग किये गये है । सस्कृत वृत्त होने पर भी सस्कृत मे अनुपलब्ध खासकर कन्नड मे ही उपलब्ध उत्पलमाला वृत्तो मे (पृष्ठ ९५, पद्य १४; पृष्ठ १११, पद्य १०-१२, पृष्ठ २९५ पद्य १३; पृष्ठ ५०९ पद्य ४८) कवि ने सस्कृत पद्यो को रचा है । इसी प्रकार कन्नड मे ही अनिवार्य रूप मे उपयोग किये

मे 'आचार्य-भक्ति कथिता जिनसेनार्यसम्मता' यो लिखा हुआ है। इसका तात्पर्य क्या यह भक्ति जिनसेनाचार्य की कृति के आधार पर रची गई है? निर्वाणभक्ति के अ त मे इस ग्र थ मे श्री रामचन्द्र सम्मेदशिखर से मुक्ति पाने का (पृष्ठ ५३ पद्य १२) उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि यह उल्लेख गुणभद्राचार्य के उत्तर पुराण (पर्व ६८, पद्य ७१९) के अनुकूल है। परन्तु निर्वाणकाण्ड के प्रतिकूल है। क्योकि उसमे कहा गया है कि रामच द्र तु गीगिरि से मुक्त हुए है। इसकी चैत्यभक्ति मे पचमदराद्रि, तीस कुलाद्रि, रौप्याचल, वक्षारशैल और नदीश्वर द्वीप आदि के अकृत्रिम जिनालयो का वर्णन करते हुए गेरूसोप्पे (भल्लातकीपुर) का श्री पार्श्वनाथ, हाडुहल्ली (सगीतपुर) का श्री चन्द्रप्रभ, भट्कल का श्रीपार्श्वनाथ, वसुपुर (वसरूर) का श्रीआदिनाथ, वरागका श्री—नेमिनाथ, कारकल का बाहुवली या गोम्मटेश्वर, कनकाचल (मलेयूर) का श्री पार्श्वनाथ कोपण का सागरदत्तपूजित श्री चन्द्रप्रभ आदि कृत्रिम जिन मन्दिरो का भी वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे जहा-तहा भद्रबाहु, कु डकुन्द, समतभद्र, अकलंक, विद्यानंदि, मणिक्यनदि, प्रभाचन्द्र, पूज्यपाद, सिद्धातकीर्ति, वर्धमान, वासुपुज्य, श्रीपाल, पात्रकेसरी, नेमिचद्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र, जयकीर्ति, जिनचन्द्र, इन्द्रनदि, वसतकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, पद्मनदि, माधनदि, जटासिहनदि, पद्मप्रभ, वसुनदि, मेघचद्र, वीरनदि, धनजय, वादिराज, धर्मभूषण, सिहकीर्ति, मेरुनदि, वर्धमान, प्रभाचद्र, अमरकीति और विशालकीर्ति नामक जैन यतियो को, नंदिसंघ के आचार्यो मे से धरसेन, समतभद्र, आर्यसेन, अजितसेन, वीरसेन, जिनसेन वादिराज, गुणभद्र, लोकसेन, आशाधर, कमलभद्र, नरेन्द्रसेन, धर्मसेन, रविषेण, कनकसेन, दयापाल, रामसेन, माधवसेन, लक्ष्मीसेन, जयसेन, नागसेन, मतिसागर, रामसेन, और सोमसेन आदि आचार्यो को,

संगीतपुर को भट्टाकलंक की परपरा मे कु ंडकु द, चारुकीर्ति, विजयकीर्ति, श्रुतकीर्ति, विजयकीर्ति, अकलंक, चन्द्रप्रभ, नेमिचन्द्र, भट्टाकलक, विजयकीर्ति, पाल्यकीर्ति, चन्द्रमत्यार्यिका आदि व्यक्तियो को, कविभाललोचन निरुदाकित कन्नड कवि जनार्दन या जन्न के द्वारा स्तुत[1] का पूर्गण के मुनियो मे से जयसिहनदि, गुणचद्र, माधव चन्द्र, कनकचन्द्र, रामचन्द्र, जावलिगे मुनिचन्द्र, सकलचन्द्र, माधवचन्द्र, बालचन्द्र इनको; इसी परम्परा मे मुनिचन्द्र, सकलकीर्ति, देवकीर्ति, अनंतकीर्ति, कल्याणकीर्ति, चन्द्रकीर्ति इनको; नदिसघ के बलात्कारगण की गुर्वावली मे वर्धमान, पद्मनदि श्रीधरराय, देवचन्द्र, कनकचन्द्र, नयकीर्ति, रविचन्द्र श्रुतकीर्ति, वीरनदि, जिनचन्द्र, वर्धमान, श्रीधर, वासुपूज्य, उदयचन्द्र, कुमुदचन्द्र, माघनदि, वर्धमान माणिक्यनदि, गुणकीर्ति, गुणचन्द्र, अभयनदि, सकलचन्द्र, वर्धमान, गण्डविमुक्त, त्रिभुवनचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति, वर्धमान, त्र्यैविघ वासुपूज्य, कुमुदचन्द्र, नेमिचन्द्र, भुवनचन्द्र, बालचन्द्र इनको; विद्वत्स्तोत्र मे कई विद्वानो को दानपूजागुणाढ्य श्रावक स्तुति मे तुलुदेश और कर्णाटक के अनेक श्रेष्ठियो को वर्धमानजी ने उल्लेख किया है।

इनमे निम्नलिखित कतिपय गुर्वावलिया इस प्रकार है।

१, जन्न का कन्नड अनतनाथपुराण (आश्वास १, पद्य १८-३२)

यह रामचन्द्र जन्न के गुरु है।
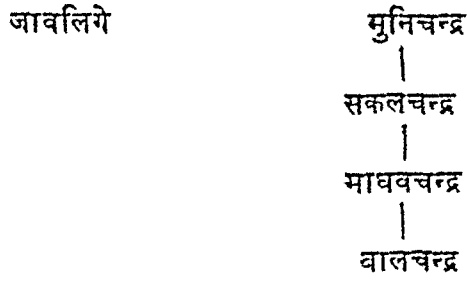
लचन्द्र[5] जन्न की पत्नी लकुमादेवी के गुरु हैं। बालचन्द्र की परम्परा मे—
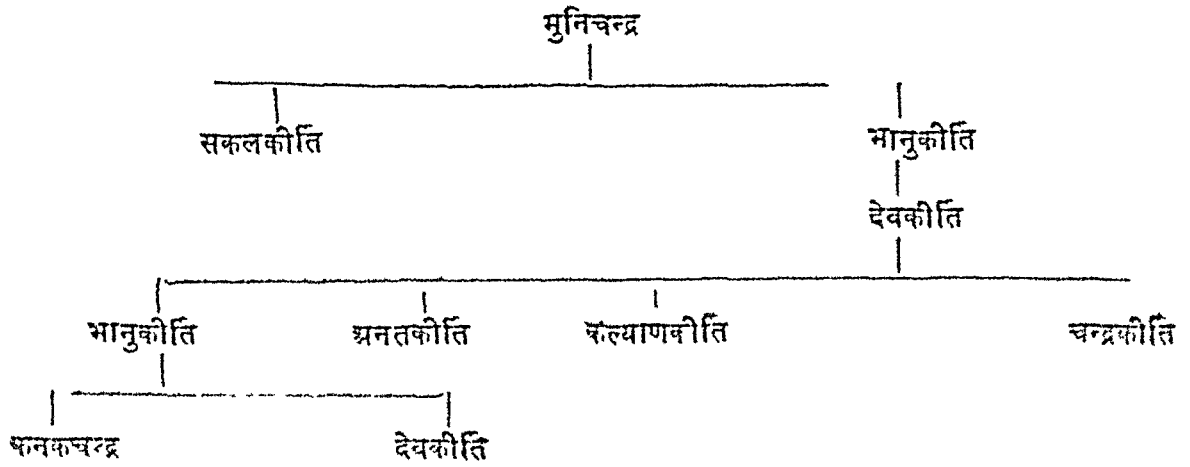
एस ग्रथ मे उक्त संगीतपुर या हाडुहल्लि के राजाओं की वंशावलि इस प्रकार है—

*[illegible] परम्परा [illegible] में नहीं है।
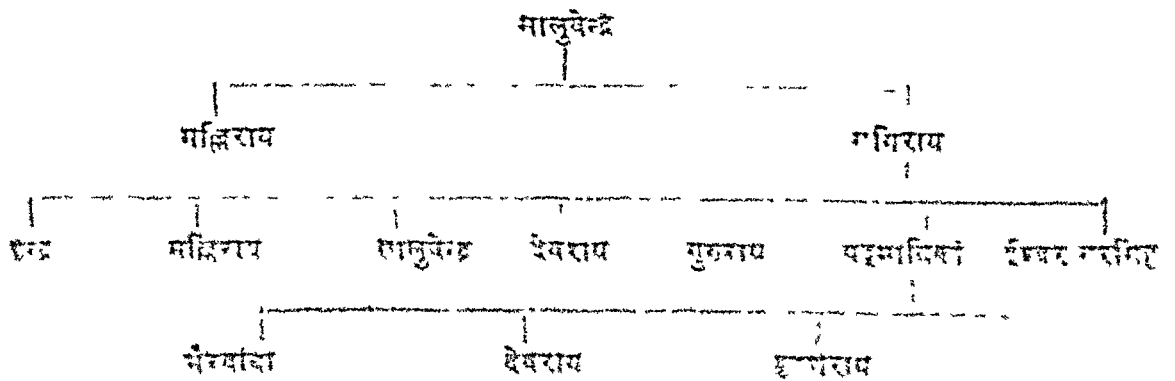
(३) विद्यानंदजी ने केसरिविक्रम सालुवेन्द्र राजा के आस्थान मे साहित्य रचना की है (पद्य ६)। यह सालुवेन्द्र राजा, प्राय उपर्युक्त संगीतपुर के साल्व राजाओ की वशावलि मे प्रतिपादित मल्लिराय का छोटा भाई एवं देवराय का वडा भाई है। इस राजा के आस्थान मे विद्यानन्द के द्वारा रचित साहित्य का पता नही लगता है।

(४) विद्यानन्दजी ने माल्व मल्लिराय की सभा मे शासनाधिकारियो के अतिरिक्त व्यक्तियो का मुह बद कर दिया था (पद्य ७)। यह साल्व मल्लिराय पूर्वोक्त सालुवेन्द्र का वडा भाई है।

(५) विद्यानन्दजी ने साल्व देवराय के आस्थान मे समस्त वादियो को परास्त किया था (पद्य ८)। यह साल्व देवराय उपर्युक्त मल्लिराय का छोटा भाई है।

(६) विद्यानन्दजी ने गुरुनृपाल के आस्थान मे कन्नड काव्य को रचकर यशस्वी हुए (पद्य ९)। यह गुरुनृपाल कौन है, मालूम नही होता है। साथ ही साथ विद्यानन्दजी का उस कन्नड काव्य का भी पता नही लगता।

(७) विद्यानन्दजी ने नगरी या नगिरे राज्य की राजसभाओ मे अपने वचन रूपी अमृत को वहा के विद्वानो को पिलाया (पद्य १०)। यहा पर वहा के राजाओ के नाम नही दिये गये है। पर शालि श १४४२, ई सन् १५२० मे इम्मडि देवरस और शालि श १४५२ से १४७० तक ई. सन् १५३० १५४८ तक इम्मडि कृष्णदेवरस नगिरे राज्य मे शासन करते रहे।[^]

(८) विद्यानन्दजी ने बिलगि नरसिंह भूपाल के आस्थान मे जैन दर्शन को प्रकाशित किया (पद्य ११)। यह नरसिंह भूपाल बिलगि तिम्भरस ओडेय या तिम्भ भूपाल को अनुज एवं वीरेन्द्र या वीरप्पोडेय का पिता नरस अथवा नरसिंह भूपाल है।[s]

(९) विद्यानन्दजी ने कारकल के भैरव भूपाल के आस्थान मे जैन धर्म का उपदेश दिया (पद्य१२)। यह भैरव भूपाल ई सन् १५१६ से १५३० तक शासन करने वाला कलस-कारकल का राजा इम्मडि भैर रस ओडेय है।

(१०) विद्यानन्दजी ने बिदिरे अर्थात् मूडुबिदिरे के भव्यजनो की सभा मे 'पदसिद्धातितमत' को प्रकट किया (पद्य १३)।[*]

(११) विद्यानन्दजी ने नरसिंह के सुपुत्र कृष्णराय की सभा मे परमत के वादि समूह को अपने वाग्बल से परास्त किया (पद्य १४)। मालूम होता है कि यह नरसिंह का सुपुत्र कृष्णराय, विजयनगर के नरसनायक का पुत्र कृष्णराय है।

(१२) विद्यानन्दजी ने कोपण आदि जैन तीर्थ क्षेत्रो मे अपवर्ग के सुख के लिये अपरिमित द्रव्य व्यय किया (पद्य १४)।

(१३) विद्यानन्दजी ने श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश्वर के चरणमूल मे जैन सघ को वस्त्र, आभूषण और सुवर्ण आदि की वृष्टि की (पद्य१६)।

---

^ Annual Report on Kannada Research in Bombay Province for 1939-40 (p 41).

s मगलूर का 'राष्ट्रबधु युगादि काणिके' ई. सन् १९२९ (पृष्ठ ४२ और ४५)

* नगर नं ४६ के शासन मे।

पं० चैनसुखदास और 'भावना विवेक'

□ प० मिलापचन्द शास्त्री

श्रद्धेय प. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का जीवन बाधाओ से परिपूर्ण था। शरीर से अपग बचपन मे ही माता पिता का वियोग, भाइयो की असमायिक मृत्यु तथा आर्थिक परिस्थिति के विषम होते हुए भी उन्होने इन अभाव अभियोगो का डट कर मुकावला किया। वे जीवन पथपर हसते हुए वढते रहे और जिस कार्य को भी उन्होने हाथ मे लिया उससे कभी पीछे नही हटे। कभी-कभी तो उन्हे प्रवल शक्तियो से भी जूझना पडता था। पर कर्त्तव्य के प्रति समर्पित होना सीख था व्यक्ति के प्रति नही। वास्तव मे महान आत्माए परिस्थितियो के प्रवाह मे न वह कर नवीन मार्ग का निर्माण किया करती है। जैसा कि एक डाक्टर ने कहा है —

है समय नदी की वाढ,
कि जिसमे सब वह जाया करते है,

लेकिन कुछ ऐसे होते है,
जो इतिहास बनाया करते है।

कविवर पं. चैनसुखदास उच्चकोटि के के साहित्यकार थे। उन्होने मौलिक सस्कृत साहित्य का निर्माण करके भारतीय साहित्य को पल्लवित और पुष्पित किया है। उनका प्राकृत तथा हिन्दी भाषा के साथ सस्कृत भाषा पर भी पूर्ण अधिकार था। सरल एव सुबोध सस्कृत मे कविता बनाने मे आप वडे कुशल और सिद्ध हस्त थे। उन्होने सस्कृत मे "जैनदर्शनसार, भावना विवेक, पावन प्रवाह एव निक्षेप चक्र जैसे ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी अद्‌भुत विद्वता का परिचय दिया है। इनमे से "जैनदर्शनसार" तो जैन दर्शन सम्बन्धी उच्चकोटि का ग्रंथ है। "पावन प्रवाह" भी उनकी एक अद्‌भुत आध्यात्मिक कृति है। कविवर की तीसरी स्वतन्त्र रचना "भावना विवेक" की समीक्षा पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

"भावना विवेक" दर्शन विशुद्ध्यादि सोलह कारण भावनाओ पर एक पद्यमय आध्यात्मिक रचना है। जैन धर्म मे इन भावनाओ का अत्यधिक महत्व है, क्योकि इनको भाए विना कभी कोई तीर्थंकर नही वन सकता। सोलह कारण भावनाओ पर जैसा सर्वागीण विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ मे हुआ है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नही होता। इन भावनाओ पर रइधू कवि की अपभ्रंश जयमाला अवश्य है और उसी जयमाला का विस्तृत स्पष्टी-

भेद से दश प्रकार का है। इन सबका विशद वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।

उस सम्यकत्व को आठ अ ग सहित तथा २५ दोष रहित धारण करना चाहिए। सम्यकत्व के २५ दोष आठ अ गो के उल्टे आठ दोष तथा ८ मद, तीन मूढता और ६ अनायतन है। आत्मा मे धर्म का अ कुर सम्यकत्व से ही उगता है, अतः सम्यग्दर्शन आत्मा का सबसे अधिक हितकारी है और मिथ्यात्व उसका बडा शत्रु है। अत मिथ्यात्व को त्याग कर निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने का प्रयत्न दर्शन विशुद्धि भावना है।

२- विनय सम्पन्नता भावना

विनय शब्द का निरूक्ति सिद्ध अर्थ करते हुए दो तरह से अर्थ किया है। विनयतीति-अपनयनीति विनय अर्थात् जो बुरे कर्मो को दूर करता है उसे विनय कहते है। और दूसरा विनयत्ति–विशेषेण नयतीति–विनय अर्थात् जो विशेप रूप से स्वर्ग मोक्षादि अभ्युदयो को प्राप्त करावे वह विनय है। विनय नम्रता को कहते हैं—उससे युक्त जीव विनय सम्पन्न कहलाता है और उसके भाव को विनय सम्पन्नता कहते है। विनय की आराधना क्यो की जाय, वतलाते हुए कवि ने कहा है —

विनयो मदमाहन्ति विनयेनाप्त भवन्ति सर्वगुण ।

विनय शिक्षासार तत समाराध्य इह विनय ।

अर्थात् विनय के द्वारा अभिमान का नशा चूर-चूर हो जाता है तथा विनय के द्वारा ही सपूर्ण गुण प्राप्त हो सकते हैं एव विनय के द्वारा ही शिक्षा की शोभा और प्रशंसा है। विनय हीन को दी गई शिक्षा मगलमय नही होती। विनय हीन तो जिनलिग भी धारण करले तो वह मात्र आत्म विडम्बना का ही कारण होता है।

दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्र विनय तथा उपचार विनय के भेद से वह विनय चार प्रकार का है। सम्यग्दर्शन को निर्मल वनाने के प्रयत्न को दर्शन विनय कहते है। सम्यग्यज्ञान को अष्ट अ ग सहित धारण करने के प्रयत्न को ज्ञान विनय कहा जाता है। वे अ ग कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, वहुमानाचार, अनिह्नवाचार, व्यजनाचार अर्थाचार तथा उभयाचार है। चारित्र को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चारित्राचार है और वह अपनी प्रवृत्ति को सुधारने से ही सम्भव है। विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। पूज्य पुरुषो गुरुजनो का साक्षात्कार होने पर खडा होना, ऊंचा आसन देना, पीछे पीछे गमन करना नमस्कारादि करना-प्रत्यक्ष उपचार विनय है, गुरुजनो के परोक्ष होते हुए गुण स्तवन, जयघोष गुणचिंतन तथा नमस्कारादि करना परोक्ष उपचार विनय है। किन्ही-किन्ही ग्र थो मे तप विनय को पाचवा भेद माना है। तपस्वियो की सेवा करना यथोचित सत्कार करना तप विनय है।

३ शीलव्रतेष्वनतिचार भावना

प्रायः करके इस भावना का अर्थ ब्रह्मचर्य व्रत को अतीचार रहित पालन करना किया है। पर इस ग्र थ मे ग्र थकार ने अलग दृष्टि अपनाई हैं। उन्होने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतो को शील माना है तथा व्रतेपु शब्द से अहिंसादि पाच व्रतो को ग्रहण कर वारह व्रतो को निरतिचार पालन करना इस भावना का अर्थ किया है।

४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना

निरन्तर ज्ञान प्राप्ति के लिए मनोयोग को प्रवृत्त करना अभीक्षण ज्ञानोपयोग है। ज्ञान आत्मा

ज्ञानेन संसार सुखापवर्गो,
ज्ञान पर मगलमस्ति लोके ।

अर्थात् अज्ञानी को जो पदार्थ बहुत परिश्रम द्वारा भी प्राप्त नही होते वे ज्ञानी को बिना परिश्रम के प्राप्त हो जाते है । ज्ञान के द्वारा जहाँ सासारिक सुख सुलभ हे वहा अविनाशी मोक्ष सुख भी । ज्ञान की सामर्थ्य से नही समझ मे आनेवाली बात भी सहज समझ मे आजाती है और जो चीज अदृश्य है वे सब ज्ञान चक्षु के द्वारा हेय हो जाती है । आत्म दर्शन ज्ञान के द्वारा ही सभव है ।

७ शक्तितस्तप भावना

तप का विश्लेपरण करते हुए ग्रन्थकार ने दो लक्षण प्रतिपादित किए हे । कर्मो का नाश करने के लिए जो कसकर साधना की जाती है वह तप है, अथवा वाछा पिशाचिनी का विरोध करना—मन वचन काय पर पूर्ण नियत्रण करना तप है । मूल तप के दो भेद किए है—वाह्य तथा अन्तरग । अनशन वैगरह वाह्य तप यदि आत्मा के उत्थान मे सहायक हो तभी वे तप कहलाने के अधिकारी है । उनके द्वारा चित्तवृत्तियो पर अंकुश लगना चाहिए, ध्यान की स्थिरता मे वे सहायक बने—तभी उनकी सार्थकता बतलाते हुए ग्रन्थाकार ने कहा है—

तपो ति तपनादुक्त मानसेन्द्रिययो स्तथा,
चित्त शुद्धि विना योक्त, मुधा सर्व तपो यत ।

अर्थात् मन और इन्द्रियो को तपाने से तप होता है । जब चित्तवृत्ति शुद्ध नही हुई तब तप का क्या प्रयोजन । अत जो आत्मा को ध्यान की ओर अग्रसर करे वही वाह्य तप है ।

८ साधु समाधि भावना

साधु किसे कहा जाय बतलाते हुए कवि ने कहा है :—

साध्नोतिय: स्वस्य परस्य कार्यं

लोकोत्तर त्त खलु वच्मि साधुन् अर्थात् जो अपने तथा परके आत्मा के उत्थान का कार्य सम्पादन करता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है समाधि का अर्थ है—समर्थन करना अर्थात् उनको अपने कार्य मे सलग्न रखना । चूंकि योगियो के द्वारा ही ससार का कल्याण होता है अत उन योगियो के तपस्या मे विघ्न उपस्थित हो जाने पर उसे यथोचित उपायो से दूर करना साधु समाधि है । जिस तरह जिस मकान मे कीमती वस्तुएं रखी होती है उसकी सर्व प्रथम रक्षा करना दायित्व होता है उसी प्रकार साधु भी रत्नत्रय का धारी होता है, अत उसको उपसर्गो से बचाया जाना अत्यावश्यक है ।

साधु की महिमा अपरम्पार है । परोपकार ही उसका धन है । वे नि स्वार्थ जगत के जीवो के हित की कामना करते हे । वे राजा तथा रंक को समान दृष्टि से देखते है । सच्चे साधु की उपस्थिति मे न तो कोई उपद्रव होता है और न अराजकता । सारे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख साधु समागम से अनायास प्राप्त हो जाते हैं । साधु की वाणी मे वह जादू होता है कि वह पतित तथा पथभ्रष्ट लोगो को क्षण मे सन्मार्ग पर लगा देता है । सैकडो वर्षो के मनमुटाव तथा झगडे उनकी वाणी से शान्त हो जाते है । भव्य जीव उनका संसर्ग पाकर किस तरह पवित्र हो जाते है कवि ने कहा है :—

अभ्यन्तर यस्य महापवित्र,
वाह्यं तथा पूतत्तमं महर्षे
सयोगतस्तस्य कथ न लोका,
स्वय पवित्रा हि भवन्ति भव्या ।

ही होते है। तीन तथा दो कल्याण वालो के जन्म से १० अतिशय नही होने से ३६ ही होते है।

सातो प्रकार के अर्हन्तो की जो भक्ति की जाती है वह अर्हद् भक्ति कहलाती है। भक्ति क्यो की जाय उसका स्वरूप क्या हो—वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

पूज्याना गुण वृन्देष्वनुरागो भक्तिरूच्यते,
गुणलब्ध्यर्थमेवेय, क्रियते नान्यहेतुत ।

अर्थात् पूज्य महापुरुषो के गुणो मे अनुराग करना भक्ति है और वह उन गुणो की प्राप्ति के लिए ही की जाती है। गुणो के प्राप्त करने का प्रयत्न करना ही भक्ति है। पूज्य पुरुषो के मात्र शरीर का दर्शन या पूजन कर लेना भक्ति नही कहला सकती। भक्ति तभी सार्थक होती है जब पूज्य पुरुषो के समान पूजक बनता है।

जीवन मे आए नही सत्य और ईमान
तब आया किस काम मे, ईश्वर का गुणगान।

भगवान को जो पतितोद्धारक, तारण तरण, अधम उद्धारक कहा जाता है वह उपचार से है—वास्तव मे नही, क्योकि जिनेन्द्र भगवान वीतराग होते है। वे दूसरो के उद्धार की चिन्ता क्यो करेगे। उन्हे ससार के जीवो से क्या लेना देना है, अत भक्ति को जो ससार के सपूर्ण सुखो का कारण बतलाया है—वह इसी अर्थ मे है कि भगवान की निष्कपट भक्ति करने से प्राणी के विचार शुभ बनते हैं और उन शुभ भावो से पुण्य का आश्रय होता है और उससे स्वत सासारिक विभूतिया प्राप्त हो जाती है। भक्ति का साफल्य तभी है जब उपासना से आत्मा पवित्र बने और एक दिन वह नर से नारायण हो जाय।

११ आचार्य भक्ति भावना

सर्वप्रथम कवि ने आचार्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है —

पंचाचारान् महोत्कृष्टानाचरन्तो मनीषिण
आचारयन्त सघस्थान् आचार्या इह विश्रुता

जैन सिद्धान्त मे आचार पाच माने गए है—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। जीवादि तत्वो की दृढ श्रद्धान परिणति दर्शनाचार है-इन्ही जीवो की ज्ञान रूप प्रवृत्ति ज्ञानाचार है। पापो के अभाव रूप प्रवृत्ति चरित्राचार है। अन्तरग तथा वाह्य तपो मे प्रवृत्ति तपाचार है तो आत्मोत्थान के कार्यो मे अपनी शक्ति को न छिपाने रूप प्रवृत्ति वीर्याचार है। इन पाच उत्कृष्ट आचारो का जो स्वयं आचरण करते है तथा सघस्थ साधुओ को आचरण कराते है वे आचार्य कहलाते है। 'परोपदेश पाडित्य" सब के लिए आसान है पर स्वय को आचारवान् बनाना बडा कठिन होता है।

यद्यपि आचार्यों के १२ तप १० धर्म, छ आवश्यक, पचाचार ३ गुप्ति ये ३६ गुण माने गये हैं; पर यह उनका लक्षण नही बन सकता; क्योकि वे गुण अन्य साधुओ मे भी पाए जाते है। आचार्यत्व की परिभाषा करते हुए कवि ने कहा है—

नराधीशा यथा लोके, प्रजाना शासका मता
सयताना तथाचार्या, दण्डादिविधिशासने।

उनके आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान् प्रकर्ता अपायोपय विदर्शी, अवघीद्रक, अपरिभापी और निर्यापक ये आठ गुण है। इन गुणो के द्वारा सघ की व्यवस्था सुचारू रूप मे चलती है। ऐसे आचार्यो के गुणो मे अनुराग करना आचार्य भक्ति है।

को वश मे रखना तथा छह काय के जीवो की रक्षा करना संयम है। इच्छाओ पर नियत्रण करना तप है एव शक्ति के अनुसार चार प्रकार का दान देना–दान कहलाता है मुनि और श्रावक को अपने अपने कर्तव्यो का प्रतिदिन पालन करना चाहिए अन्यथा वे मुनि और श्रावक कहलाने के पात्र नही।

१५ मार्ग प्रभावना भावना

प्रभावना का विश्लेपरण करते हुए कवि ने कहा है —

मिथ्यामार्ग तिरस्कार, क्षमया विद्यया तथा
सद्धर्मद्योतन मार्ग, प्रभावनमिहोच्यते।

समीचीन धर्म का प्रकाश पाखड का खडन करने से होता है अत सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के द्वारा सत्य धर्म को प्रकट करना प्रभावना है। जो गन्तव्य स्थान मोक्ष को प्राप्त करावे वह मार्ग कहा जाता है और वह मार्ग जैन धर्म ही हो सकता है, क्योकि वह इह लोक और परलोक दोनो का कल्याणकारी है। प्रभावना कहा से चालू हो बतलाते हुए कवि ने कहा है

निजात्मा सर्वत पूर्व, रत्नत्रयतेजसा
प्रभावनीयो लोकस्तु तपोज्ञानार्चनादिभि ।

आगे कवि ने यह बताया है कि यह प्रभावना देश काल के अनुसार होनी चाहिए। कहा किस समय किस कार्य के करने से धर्म की प्रभावना होगी यह धर्म प्रभावक को अवश्य देखना चाहिए और तदनुकूल ही प्रवृति करना चाहिए। यदि वह परम्परा से जकडा रहा–रूढियो से ग्रस्त रहा तो वह कभी भी धर्म की प्रभावना नही कर सकता।

१६ प्रवचन वत्सलत्व भावना

प्रवचन वत्सलत्व भावना का लक्षण करते हुए कवि ने कहा है :—

स्यात्सधर्मी प्रवचन., वात्सल्य तत्र यद्भवेत्
धेनोर्वत्सेव तत्प्रोक्त, वात्सल्य परम खलु।

जिस प्रकार गाय अपने बच्चे से नि स्वार्थ प्रेम करती है–उसकी रक्षा के लिए वह शेर का भी मुकाबला करने पर कटिबद्ध हो जाती हे उसी प्रकार समान धर्म के मानने वाले साधर्मी मनुष्यो से निष्कपट-बिना प्रति फल की वाछा के प्रेम करना प्रवचन वात्सल्य है। आचार्यो ने पन्द्रहवी भावना मे बताया कि ससार को जैन धर्म का सन्देश सुनाओ, अर्थात् ससार को जैनी बनाओ, पर यदि हमने उनके साथ वात्सल्य, सहानुभूति, प्रेम का व्यवहार नही किया तो क्या यह सम्भव है कि वे जैन बने रहे। वात्सल्य ही एक ऐसा गुण है कि जो उन्हे धर्म पर टिकाए रख सकता है। कवि ने वात्सल्य की महिमा कर गुणानुवाद करते हुए कहा हे —

वत्सलत्वेन चैतेन, धर्मवृद्धि प्रजायते,
मिथ स्नेहाभिवृद्धिश्च, सधर्मजनतासुच।

अर्थात् धार्मिक जनो मे परस्पर प्रेम सचार मे धर्म की वृद्धि होती है। आपस मे स्नेह सहानुभूति बढती है। उससे सगठन बढता है। ससार मे सगठन के द्वारा ही असभव कार्य भी सभव हो जाते है। प्रवचन वत्सलत्व के द्वारा वह सगठन अनायास सुदृढ होता है अत प्रवचन वात्सल्य को अपनाना महान् कार्यकारी हे।

इस तरह ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ मे सरल एवं सुबोध संस्कृत मे सोलह कारण भावनाओ का सागोपाग एवं सविस्तृत वर्णन कर एक बहुत बडी कमी की पूर्ति की है। ग्रन्थ की प्रस्तुत समीक्षा मात्र बानगी है। पूरा आनन्द तो ग्रन्थ के आद्योपान्त स्वाध्याय से ही प्राप्त होना सम्भव है। यह ग्रन्थ पवित्र भावनाओ से ओतप्रोत है इसे एकाग्रचित्त होकर पढने से आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होता है।

दूसरा ज्ञान का। श्रद्धा भक्ति मानव के विकास मार्ग की पहली मंजिल है ज्ञान दूसरी और विवेक पूर्ण आचरण की तीसरी मन्जिल है। श्रद्धा, ज्ञान, आचरण के सम्यक समन्वय का ही नाम मोक्ष है। भैया भगवतीदास ने द्रव्य सग्रह मे लिखा है—

"सम्यक् दरस प्रमाण, ज्ञान पुनि सम्यक् सोहै।
अरु सम्यक् चारित्र त्रिविधि कारण शिव जोहे।।

जैन काव्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि वह धर्म तथा अध्यात्म प्रधान है। जैन कवियो पर जैन दर्शन का पूर्ण प्रभाव पडा और उन्होने शान्त रस मे आप्लावित हो जिस काव्य की रचना की तथा जैन दर्शन के जिन गहन तत्वो का विश्लेषण किया वह उनके जैन सिद्धात विषयक गभीर ज्ञान का स्पष्टीकरण है। जैन कवियो की रचनाए किसी न किसी रूप मे अध्यात्म विषयो से ओत-प्रोत है। ऐसा लगता है मानो आत्मा परमात्मा के गुण गान मे कवि ऐसे सने हुए है कि उसका प्रत्येक शब्द अध्यात्म की छाया लेकर निकलता है।

"ऐसा योगी क्यो न अभय पद पावै।"

जैन साहित्य मे अध्यात्म का भक्ति मूलक भाव-पक्ष आदि काल से लेकर अब तक जिन रूपो मे हुआ है वे है—स्तोत्र, रासा, स्तवन, स्तुति पद भजन आदि। हिन्दी जैन कवियो के जो मधुरपद अब तक प्रकाशित हुए है उनमे भक्ति तथा ससार की नश्वरता का बडा सुन्दर चित्र उपस्थित हुआ है। इनमे भक्ति का जो रूप उभरा है उनमे आत्म निवेदन, विनीत भाव से किया गया है जिसका लक्ष्य अष्टकर्मों को क्षय कर आवागमन के बन्धनो से मुक्ति पाना है। 'जैन रामायण' ग्रन्थ मे प. कस्तूरचन्द्र नायक ने लिखा है—

"जैन दिगम्बर मुनि यथा, करके निर्मल ध्यान।
अष्टकर्म को छेद कर,पाते है निर्वाण।।"

जैन दार्शनिको ने मानवीय जीव के आध्यात्मिक और लौकिक या निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दो पक्ष खडे किए है। लौकिक पक्ष का लक्ष्य अभ्युदय और अध्यात्मिक पक्ष का निःश्रेयस है। जहाँ इनका जन्म होता है वही धर्म है तथा लोक कल्याण है। इसी आशय को सम्मुख रख कर धर्म सर्वस्व की परिभाषा यह की गई है कि जो अपने को बुरा लगता है वह आचरण दूसरे के साथ न करे। भ० महावीर की वाणी थी "जियो और जीने दो" जिसका आधार अहिंसा है। यह सदेश जैन साहि- मे सर्वत्र बिखरा पडा है।

जैन दर्शन जीव अजीव तत्व को स्वीकार करता है—यथा—

"जैसे-जल कर्दम कुतक फल भिन्न करै।
वैसे जीव अजीव विलछन करतु है।"

जिसके आधार तत्व अध्यात्म भावना, अहिंसा, अनेकान्त, तप, ज्ञान, कर्म तप, सयम आदि पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक काल तक भारतीय भोजन मे मास चलता था। यज्ञो मे पशु बाधने के लिए यूपो की चर्चा मिलती है। यज्ञ शेष का भक्षण आदि का उल्लेख मिलता है जिससे स्पष्ट हैं कि वैदिक काल से स्मृति काल तक मानव मास भक्षी था किन्तु जैन की धार्मिक क्राति का वैदिक धर्म पर भी प्रभाव पडा और भारतीय धार्मिक आचार्यो ने जैन धर्म का सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक शब्द अहिंसा मे अध्यात्मिकता का पूर्ण समर्थन पा उसे अपने धर्म का अविभाज्य अंग बना लिया। जैन दर्शन मे अहिंसा के दो पक्ष हैं-- विचार की अहिंसा और आचार की अहिंसा। प्रथम विचारो का क्षेत्र स्पष्ट- और स्वच्छ होना

"भोग सजोग, संग्रह मोह
विलास करे जहा ऐसे ।
पूछत शिष्य आचारज को यहु
सम्यकवंत निराश्रव कैसे ।।"

☐

सात पैड चल हरि को दीने,
नन्दनवन कल्याणक कीन्हे ।
लुंच केश प्रभु परिग्रह छोरे,
भक्त नृपति हुं दीक्षा धारै ।।"

हिसा अनृत तसकरी अब्रह्म परिग्रह पाप ।
दस अलव सब त्यागिवो धर्म दोय विधि थाप ।।"

जैन धर्म आचार-प्रधान है । अहिंसा तथा सदाचार को वडा महत्व दिया गया है । जैन मुनि छोटे से छोटा पाप कर्म भी महान अपराध बतलाते है। इस दृष्टि से अचौर्य का विशेष महत्व है । स्वेच्छा से न दी गई वस्तु के प्रति अग्रहण भाव होना चाहिए । यदि ऐसा नही तो उक्त दोष का प्रायश्चित अनेक जन्मो मे करना पडता है। इस प्रकार कर्म-विपाक ही पुर्नजन्म का एक मात्र कारण है । जैन दर्शन की मान्यता है कि जीव इस संसार मे कर्म से प्रेरित हो चार कपाय, क्रोध, मान, माया लोभ मे आसक्त एव मिथ्या संयम के वशीभूत होकर अनेक जन्म धारण करके ससार मे विचरता है । ये वासना रूप होते है व्यक्त रूप नही । जहा पर पदार्थो के प्रति 'स्व' 'पर' की वासना जीव मे पाई जाती हे वहा पर अनन्तानुवन्धी कषाय है क्योकि वह जीव का अनन्त ससार से वन्ध कराती है ।

"चेतन परिणाम सो कर्म जिते बाधियत ।
ताको नाव भाव वन्ध ऐसो भेद कहिए ।।"

फिर जीव को मुक्ति कहा ?" त्रेपन क्रियाकोश मे श्रावक की त्रेपन क्रियायो का वडा सुन्दर निरूपण किया गया है ताकि जीव वैसा ही आचार विचार कर अशुभ कर्मों के बन्ध से मुक्त हो सके । इन चारो कषायो की जैन कवियो ने खूब भर्त्सना की हे—

"क्रोध मान माया लोभ,
चारो मिलकर किया क्षोभ ।"

जैनागम मे पंचास्ति काय का निजी महत्व है । जीव, अजीव पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल ये छ द्रव्य स्वीकार किए गए है । इनमे काल द्रव्य कायवान नही है । जीव चेतन अथा अजीव अचेतन पुद्गल का आकार है । इसलिए वह मूर्त रूप है शेष अमूर्त है । जीव आत्मा का ही स्वरूप है जो अनन्त दर्शन आदि गुणो से सम्पन्न है ।

"यह परमातम यह मम आतम,
भेद बुद्धि न रहाय रे ।"

पुद्गल परमाणुओ का पुंजीभूत है जिसकी प्रकृति बदल जाती है जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार के शरीर धारण कर ससार मे भ्रमण करता है—

'मूल अनादि थकी जग भटकत
लै पुद्गल जामा ।"

जीव और पुद्गल चिरकाल से साथ साथ है । पुद्गल द्वारा ही जीव का वंध होता है । मिथ्या दर्शन, ज्ञान तदनुसार आचरण कर जीवात्मा सत्पथ से भटक जाता है ।

"जीव पुद्गल मे विराजे दोउ परजाय ।
विभाव तथा सुभाव जीव जैसो लहै है ।।"

जैन दर्शन मे आठ प्रकार के कर्म वताए हैं यथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम एव गोत्र । इनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भोहनीय, अन्तराय कर्म जीव का घात

आश्रव के कारण जीव का वन्ध होता हे। जब जीव अपने अनन्त अनादि जैसे स्वाभाविक गुणो के स्मरण द्वारा कर्म वन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करता है। तभी कर्म के आश्रव मे बाधा पडती है।

"कर्मन के आश्रव निरोधिवे के भाव भए।
तेहि परिणाम भाव सवर कहीजिए।।"

आश्रव का निरोध ही संवर है। सवर आश्रव के द्वार बन्द कर देता है नवीन कर्मों का आगम रुक जाता है। सवर के आश्रम मे गुप्ति, समिति अनुप्रेक्षा, परीषह, व्रत, चारित्र आते है। इनके पुजीभूत रूप सवर है जिसके द्वारा आत्मा पुद्गल से अपनी रक्षा करता है। सवर के द्वारा नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है तथा सचित कर्मो का क्षय होता है। कर्मों का क्षय होना ही निर्जरा है। निर्जरा की प्राप्ति तप, सयम से होती है। तप निर्जरा से जीवात्मा निर्मल हो जाती है और अपनी साधना द्वारा मोक्ष को प्राप्त करती है जो चिर-सत्य है और जिसे प्राप्त करने को मानव चिरकाल से प्रयत्नशील है।

मुनि श्रमण

सच्चा श्रमण वही है जिसका
नही किसी से द्वेष हो।
सारे जीव जिसे प्यारे हो।
समदर्शी परिवेश हो।।

—अर्हत्

cial stability, and they expected their energy in building up such literature as would inculcate ethical standards and moral values in the society.

Lord Mahavira was the first one to preach in the popular dialect of Magadha, and Buddha too adcpted the same method. This example is followed by great men who had the interest of the common man uppermost in their minds Asoka and Kharavel recorded their inscriptions in Prakrit; and through our history, our Teachers, who wanted to good to the masses, always preferred the popular languanges we have glaring examples of Basavesvara, Jnanesvara, Tulasidasa, Vidyapati and others.

The example of Mahavira has been followed by subseqent Jaina teachers and authors, and they have enriched the language of the locality wherever they lived This is true of Tamilnadu, Karnatak, Rajasthan, Gujarat and other parts of India.

The earliest known prose works in Kannada, the Vaddaradhane and Cavumdarayaurna (978 A. D), are by Jaina authors. The former (to be assigned to c 900) is a remarkable piece of literature both from the points of view of language and contents. The classical style developed in Kannada Kavyas we owe to three great Jaina poets, commonly known as ratna-traya, viz., Pampa (942 A. D.), Ponna (950 A. D) and Ranna (993 A D.). They were well acquainted with classical Sanskrit models. They cultivated Kannada language so effectively that in their expression is seen a classical perfection, a matter of envy among the contemporaries. They were not working in isolation but were just expressing the spirit of the golden age that was inaugurated during the Rashtrakuta period, in which Virasena and Jinasena (837 A D.) wrote their great commenteries, Dhavala, Jayadhavla and Mahadhavala, remarkable achievements in the history of Indian literature what they did for Jaina Siddhanta in the Rashtrakuta kingdom, Sayanacarya subsequently achieved for the Vedas under the great Vijayanagar rule The efforts of Jaina authors inenriching kannada language went side by side with what some of them were doing in Sanskrit and Prakrit. The kavirajamarga (850 A D) attributed to the Rashtrakuta king Nrpatuiga clearly show that rich Kannada literature was already available in his times In addition to there three great poets mentioned above, authors like Nagacandra (c. 1100 A. D.), Nayasena (1112 A D), Aggala (1189 A D.) and others developed a catching style, and they were imitated by subseuent poets Andayya's (c. 1235 A. D) style and vocabulary strike a new note

gıve rıse to a number of cultural actıvıtıes Though sudraka has dıg at the Karnatak quarrel, the people of Karnatak have been, generally speakıng, quıte hospıtable and peace-lovıng. The Jaın saınt by hıs detachment and pıous lıfe has won respect from the entıre socıety Acarya Sımhanandı blessed the Ganga Kıng Madhava, and what he has preached to hım constıtutes eternal moral guıdance for any socıety That famous verse runs thus :

तुडिदुद नारो ऊं नुडिदु तप्पिदोडं जिनशासन क्कोड
वडदोड मन्य नारि गेरेददहदोड मधुमास सेवेगे
य्दोऽम कुली नरप्प वर कोट कोडेयदी डम थिगर्थम
कुड दोड माह वागण दोलों डिदोड किडुगुं
कुलव्रत ॥

Thıs passage can be freely 'rendered thus If you faıl to keep your promıse, ıf you reject the Jaına ethos, ıf you desıre others' wıfe, ıf you eat flesh or drınk, ıf you breed famılıarıty wıth the unworthy, ıf you refuse help to the needy, ıf ı ı desıst the battle-fıeld, you wıll-brıng dısgrace to your famıly.

Jınasena was respected by Amoghavarsha, and Ajıtasena was revered by Camundaraya A forlorn author from the North lıke Puspadanta (965 A D) came to Manyakheta (mod. Malakhed), the then capıtal of the Rashtrakutas, enjoyed patronage there and wrote hıs monumental works ın Apabhramsa. Thıs ıs a typıcal example of how the Karnatak rulers extended patronage to poetıc talents wherever they were found Jaına saınts preached fourfold dana or gıfts· ahara (food), abhaya (shelter), ausadha (medıcıne) and sastra (Knowledge), and these bestowed tremendous benefıt on socıety In fact thıs ıs one of the ımportant aspects of Jaınısm as ıts emphasıs on socıal servıce, and thıs made ıt easıly acceptable to any pecple The parctıce of thıs relıgıon was not merely a formalıty or socıal conformıty, but ıt went deeper The Ganga ruler Marsımha (974 A D) and the Rashtrakuta kıng Indra IV (982 A D) relınquıshed theır soverıegnty and practısed the Jaına vow of Sellekhana on the eve of theır lıfe the former dıed at Bankapur and the latter at Sravana Belgol. Temples of Jaına were buılt everywhere, and many of them are remarkable for theır exquısıte beauty and archıtectural skıll It ıs from here that Gujarat took ınspıratıon, and what was cut ın black stone ın Karnatak came to be chıselled ın marble ın Gujarat, Great rulars, generals, merchants and emınent ladıes had a warm sympathy for Jaına ınstıtutıons. The monolıthıc ımage of Gommatesveara at Sravana Belgolgot carved by Gamundaray, who combıned ın hımself an author ın Kannda and Sanakrıt and a general wıth great mılıtary feats to hıs credıt, ıs a natıonal monnment of unıversal ınterest Gommatesvara ıs standıng on the peak of a hıll facıng the North Hıs benıgn fact wıth subdued smıle quıetly conveys the message that fraternal feuds cannot be settled on the battle fıeld The freestandıng pıllars (manastambha) ın front

हरिवंश-कार जिनसेन की गुरु-परम्परा

□ प्रेमचन्द जैन

आचार्य जिनसेन ने अनेक परम्पराओ का उल्लेख किया है। भार्गव ऋषि की शिष्य परम्परा के सम्बन्ध मे बताया गया है कि भार्गव का प्रथम शिष्य आत्रेय था उसका शिष्य कोथुमि-पुत्र, कौथुमि का अमरावर्त, अमरावर्त का सित, सित का वामदेव, वामदेव का कपिसूल, कपिसूल का जगत्स्थामा, जगत्स्थामा का सखट, सखट का शरासन, शरासन का रावण और रावण का विद्रावण और विद्रावण का पुत्र द्रोणाचार्य था। यह परम्परा इस रूप अन्यत्र देखने को नही मिलती।

हरिवश पुराण के ६६ वे सर्ग मे महावीर भगवान से लेकर लोहाचार्य तक की आचार्य परम्परा दी गई है। वहा बताया गया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के बाद ६२ वर्ष मे क्रम से गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ये तीन केवली हुए। उनके बाद सौ वर्ष मे समस्त पूर्वो को जानने वाले नन्दि, नण्दिमित्र, अपराजित, गोर्वधन और भद्रबाहु ये पाच श्रुत केवली हुए। उसके बाद १८३ वर्ष मे विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जव, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ग्यारह मुनि १० पूर्व के धारक हुए। तदनन्तर २२० वर्ष मे नक्षत्र, जयमाल,पाण्डु ध्रुवसेन और कसार्य ये पाच मुनि ग्यारह अंग के धारी हुए। उनके बाद ११८ वर्ष मे सुभद्रगुरु, जयभद्र, यशोबाहु और महापूज्य लोहार्य गुरु ये चार मुनि प्रसिद्ध आचाराग के धारी हुए।

इनके बाद महातपस्वी विनयधर, गुप्त श्रुति, गुप्तऋषि, मुनीश्वर, शिवगुप्त, अर्हद्‌बलि, मन्दरार्य मित्रवीरवि, बलदेव, मित्रक बढते हुए पुण्य से सहित रत्नत्रय के धारक एव ज्ञान लक्ष्मी से युक्त सिंहबल, वीरवित, गुणरूपी कमलो के समूह को धारण करने वाले पद्मसेन, गुणो से श्रेष्ठ व्याघ्रहस्त, नागहस्ती, जितदण्ड, नन्दिषेण, स्वामी दीपसेन, तपोधन, श्रीधरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वर सेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन जिनसेन और शांतिसेन आचार्य हुए।

इनके बाद जो अखण्ड मर्यादा के धारक होकर परिपूर्ण षट्‌खण्डो (१-जीवस्थान, २-क्षुद्रबन्ध-३ बन्धस्वामी, ४-वेदनाखण्ड, ५-वर्गणाखण्ड और ६-महाबन्ध) से युक्त समस्त सिद्धान्त को अर्थ रूप से धारण करते थे अर्थात् षट्‌खडो के ज्ञाता थे, कर्म प्रकृति रूप श्रुति के धारक थे और इन्द्रियो की वृत्ति को जीतने वाले थे, ऐसे जयसेन नामक गुरु हुच। उनके शिष्य अमितसेन गुरु हुए जो प्रसिद्ध वैयाकरण, प्रभावशाली और समस्त सिद्धान्त रूपी सागर के पारगामी थे। ये पवित्र पुन्नाट गण के